हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास

हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास

[शोधपूर्ण प्रबन्ध]

•

लेखक
डॉ० रामचन्द्र मिश्र एम. ए., पी-एच. डी.
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग
धर्मसमाज कॉलेज अलीगढ़

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ पटना-४

प्रथम संस्करण
जुलाई १९६७

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली—६

मूल्य
साढ़े बारह रुपये
(१२.५०)

प्राप्य—
[illegible] गाई
पटना—४

गुप्ता प्रिंटिंग स्टोर्स द्वारा नवभारत प्रेस दिल्ली में मुद्रित।

समर्पण

पूजनीया
स्वर्गीया जननी और पितामही
की
पुण्य स्मृति
में

पूर्व-पीठिका

गोस्वामी तुलसीदास पर अब तक पर्याप्त काम हुआ है, फिर भी यह सच है कि समीक्षकों की दृष्टि प्रायः उनके 'मानस' पर ही केन्द्रित रही है, जिससे उनकी अवशिष्ट कृतियाँ किसी प्रसङ्ग में ही विचार और विवेचन का विषय बन सकी हैं और व्यापक अध्ययन से वंचित रह गई हैं। इस विचारधारा को जब मैंने गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी के समक्ष व्यक्त किया और 'विनयपत्रिका' पर काम करने की इच्छा प्रकट की तब उन्होंने समग्रता की दृष्टि से 'हिन्दी पद-परम्परा' के सन्दर्भ में 'विनयपत्रिका' के साथ 'गीतावली' और 'श्रीकृष्णगीतावली' का अध्ययन प्रस्तुत करने का संकेत किया, साथ ही मेरी प्रार्थना पर तद्विषयक एक रूपरेखा देकर मेरे कार्य की दिशाएँ और सीमाएँ निर्धारित कर दीं। प्रस्तुत रचना उसी रूपरेखा पर मेरे किए अध्ययन का परिणाम है।

काव्य की विविध शैलियों में अन्यतम पद-शैली विशेष प्रतिष्ठित है। अन्य शैलियों के समान इसमें भी काव्य के भाव और शिल्प-तत्त्व रहते हैं, किन्तु संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजन आदि के कारण यह अन्यों की तुलना में अधिक कोमल, मधुर और ग्राह्य सिद्ध हुई है, जिसके फलस्वरूप हिन्दी काव्यान्तर्गत इसका प्रवाह स्रोत प्रवहमान है।

पद में काव्य और संगीत दोनों के तत्त्व समाहित हैं। इसमें संगीत ने काव्य को और काव्य ने संगीत को आभारी किया है, जिससे यह दोनों क्षेत्रों में प्रिय हो उठा है। इसको स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि भाव, छन्द आदि से युक्त पद को संगीत की राग रागिनी ने विशेष मधुरता और गीति की सम्पन्नता प्रदान की है और संगीत की पुष्ट राग रागिनी जो केवल-मात्र स्वरों के आरोहावरोह में ही अपने परितोष को सन्निहित किए है, काव्य के भाव-तत्त्व से पुष्ट होकर लोकप्रिय और भव्य हो उठी है। उदाहरण के लिए पक्के (शास्त्रीय) गाने का 'आलाप गायन' कितने समझ पाते हैं? संगीत कला के मर्मज्ञों के पल्ले तो कभी कुछ पड़ता है, जब गायक शून्य स्वरों की भूमि छोड़कर जब पंक्तियों को ध्वनित करता है, अन्यथा वे निराश ही रहते हैं। इसी से संगीत को काव्य की आवश्यकता है और यही उसकी लोकप्रियता का एक विशेष साधन है।

उपर्युक्त विचारधाराओं से युक्त पद के बीज तत्त्व वेद और संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के साहित्य में उपलब्ध हैं। उसका स्पष्ट स्वरूप संस्कृत में जयदेव के

गीतगोविन्द और सिद्ध-साहित्य के चर्यापदों में है। चर्यापदों की परम्परा ही नाथ सम्प्रदाय के योगियों के काव्य में अनन्तर वही हिन्दी के मध्यकाल के निर्गुण (सन्त) काव्य में गृहीत हुई है। उसके समान ही सगुण भक्ति-धारा में राम और कृष्ण-भक्ति का पद-साहित्य भी प्रस्फुटित हुआ है। जिसकी अविच्छिन्न परम्परा तमिल के आलवार भक्तों के प्रबन्धम्, बंगाल के बाउल सन्तों के पद, जयदेव के गीतगोविन्द, मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली आदि में उपलब्ध है। इस स्थल पर ये प्रश्न उठते हैं कि निर्गुण और सगुण जैन काव्य में कौन अधिक प्राचीन है और कौन किसका अभिव्यञ्जक है? इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि दोनों के मूल स्रोत वेद साहित्य में हैं। उसकी धाराएं वहीं से प्रवाहित हुई। भारतीय विचारकों ने उन्हें पुष्ट किया। मुसलमान शासन में देश की विशिष्ट परिस्थितियों ने उनको पुष्ट और वेगवती बनाया। यही धारा अविच्छिन्न रूप में भारतेन्दु-युग तक उपलब्ध है। तदनन्तर 'द्विवेदी युग' में पद-साहित्य का स्थान आधुनिक गीतों ने ले लिया जिससे वह भी परम्परा अवरुद्ध हो उठी।

हिन्दी पद-परम्परा में साधक त्यागी और विरागी रहे हैं जिन्होंने पद के माध्यम से संसार की असारता, धर्म, भक्ति, योग, सदाचार आदि के गान देकर भारतीय (अध्यात्म) सम्यक्त्व, तत्त्वदर्शन, सद्भावना आदि का प्रसार किया है। जैन कवियों के काव्य भी उनसे शून्य नहीं हैं किन्तु पद-साहित्य के उपासकों की कर्तव्य [illegible] हो सके हैं वे [illegible] नहीं यह [illegible] है।

उपर्युक्त तथ्यों से पद हिन्दी में उसकी परम्परा उपयोगिता आदि स्वतः स्पष्ट है। विषय विशेष विषय के पूर्वार्द्ध की सहसा सरलता से समझी जा सकती है। गोस्वामी तुलसीदास के पद-साहित्य का विवेचन मेरा उद्देश्य था। इससे उनके सम्बन्ध में हिन्दी के [illegible] का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। मैंने इस प्रबन्ध में तुलसीदास के पद-साहित्य के [illegible] तक के प्राय: समग्र हिन्दी पद-साहित्य का विवेचन किया है।

[illegible] और [illegible] से सम्बद्ध हो [illegible] साहित्य भी समन्वित है। इसमें मैंने [illegible] का [illegible] तथा विविध [illegible] में [illegible] किए हैं।

हिन्दी का [illegible] पद-साहित्य [illegible] शैली में लिखित है। इस शैली के उपासक वैष्णव और [illegible] हिन्दी [illegible] रहे हैं। [illegible] और [illegible] भी [illegible] प्रयुक्त किया है।

हिन्दी पद-परम्परा के [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] पद-परम्परा [illegible]

है किन्तु 'लोक-गीत और संगीत' पद से सम्बन्धित हैं इससे उनका अध्ययन भी आनुषंगिक रूप से किया गया है।

आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत के मूलगत सिद्धान्त और रामानन्द के द्वारा सम्प्रदाय में प्रवर्तित और समाविष्ट नवीन आचार-विचार उपासना आदि तुलसीदास के काव्यों में जीवन्त हो उठे हैं जिससे धार्मिक सामाजिक साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में उनको समान प्रतिष्ठा और मान्यता है। सम्प्रदायगत सिद्धान्तों को मर्यादा पुरुषोत्तम राम के इतिवृत्त में भरने के कारण उनकी काव्य भूमि व्यापक हो गई है जिससे उसमें जीवन की सभी स्थितियाँ विविध स्तर के पात्र आचार विचार-व्यवहार आदि समाविष्ट हो उठे हैं। इससे उनकी कृतियों में जीवन-सम्बन्धी किसी समस्या का समाधान सरलता से मिल जाता है। राम का चरित्र और साम्प्रदायिक सिद्धान्त यों तुलसीदास के उत्तरकालीन कवियों और भक्तों के समक्ष प्रस्तुत रहे हैं किन्तु साहित्यिक और धार्मिक काव्य-धारा में कोई कवि उनकी कोटि में नहीं आ सका यह तुलसीदास की महान् प्रतिभा विचारधारा और समन्वय की बात भी—मानना पड़ेगा।

तुलसीदास के काव्य की सामान्य विशेषताएँ उनके पद-साहित्य में भी समाहित हैं। यह सत्य है कि 'गीतावली' में राम के जीवन की सभी घटनाएँ, जैसी 'रामचरितमानस' में हैं नहीं आ सकी हैं उसमें केवल मधुर और करुण घटनाओं का समावेश है जो उनके पद-साहित्य और कोमल वृत्ति के कारण विशेष मर्मस्पर्शी हो गई हैं। फिर भी उनके प्रबन्धित राम-काव्यों की अपेक्षा इसके बालकांड में राम का बाल-चित्रण और उत्तरकांड में हिंडोला वसन्त आदि के वर्णनों से इसमें तुलसीदास की नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं। 'श्री कृष्णगीतावली' में कृष्ण की मुख्य लीलाएँ चित्रित हैं। काव्य छोटा है फिर भी कवि की निष्ठा और भक्ति से आप्लावित है यह उनके उदार और व्यापक हृदय का सजीव प्रमाण है। 'विनयपत्रिका' कवि के भक्त हृदय की अर्जी है जिसका स्वीकारना उसने राम की मर्जी पर छोड़ रखा है। यों भक्ति का प्रस्फुटन 'मानस' और अन्य काव्यों में भी है किन्तु इतिवृत्तात्मकता के कारण उसकी परिणति पात्रों में यत्र-तत्र होती है जबकि इसमें भक्ति और तद्विषयक भूमियों की संयुक्त भावनाएँ अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान हैं जिससे यह अन्य काव्यों से तुलना में अधिक श्रेष्ठ और दास्यासक्ति के उपासक भक्तों के लिए एक धार्मिक सजीव आदर्श है। विनय का ऐसा सम्बद्ध काव्य हिन्दी में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी अद्वितीय है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त गोस्वामी तुलसीदास का पद-साहित्य प्रस्तुत विषय के उत्तरार्द्ध के अध्ययन का आधार है जिसमें उसका परिचय भाव और रस शैली-शैलियाँ और भाषा छन्द शास्त्रीय संगीत सम्प्रदायगत साहित्य परम्परा और परवर्ती राम-पद-साहित्य में विशेष पद-साहित्य और उसका वैशिष्ट्य आदि-आदि

गीतगोविन्द और सिद्ध-साहित्य के 'चर्यापदों' में है। चर्यापदों की परम्परा ही नाथ सम्प्रदाय के योगियों के काव्य में, अनन्तर वही हिन्दी के मध्यकाल के निर्गुण (सन्त) काव्य में गृहीत हुई है। उसके समान ही सगुण भक्ति-धारा में राम और कृष्ण भक्ति का पद साहित्य भी प्रस्फुटित हुआ है। जिसकी अविच्छिन्न परम्परा [illegible] में प्राय [illegible] बंगाल के बाउल सन्तों के पद, जयदेव के गीतगोविन्द, मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली आदि में उपलब्ध है। इस स्थल पर ये प्रश्न उठते हैं कि निर्गुण और सगुण पद काव्य में कौन अधिक प्राचीन है और कौन किसका [illegible] है? इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि दोनों के मूल स्रोत सिद्ध साहित्य में हैं। उनकी प्रसार धाराएँ वहीं से प्रवाहित हुईं। भारतीय विचारकों ने उन्हें पुष्ट किया, मुसलमान शासन में देश की विशिष्ट परिस्थितियों ने उनको पुष्ट और वेगवती बनाया। वही प्रवाह अविच्छिन्न रूप में भारतेन्दु-युग तक उपलब्ध है। अनन्तर 'द्विवेदी युग' में पद-साहित्य का स्थान आधुनिक गीतों ने ले लिया, जिससे पद की परम्परा अवरुद्ध हो उठी।

हिन्दी पद-रचयिता वे दीपक, त्यागी और विरागी रहे हैं, जिन्होंने पद के माध्यम से संसार को ज्ञान, धर्म, भक्ति, योग, सदाचार आदि के सन्देश देकर भारतीय (मानव) अध्यात्म, संस्कृति, सद्भावना आदि का [illegible] किया है। अन्य शैलियों के काव्य भी उनसे शून्य नहीं हैं, किन्तु पद-साहित्य से तत्सम्बन्धी जो सर्वांग [illegible] हो सके हैं वे अन्यों से नहीं, यह ध्रुव सत्य है।

उपर्युक्त तथ्यों से पद, हिन्दी में उसकी परम्परा, उपयोगिता आदि स्पष्ट है। जिससे विवेच्य विषय के पूर्वार्द्ध की महत्ता सरलता से समझी जा सकती है। [illegible] पद-साहित्य का विवेचन मेरा उद्देश्य था। इसके [illegible] में हिन्दी पद-रचयिताओं का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। मैंने इस [illegible] प्राय समस्त [illegible] साहित्य का विवेचन बना लिया है।

[illegible] और भाव-भाषा [illegible] पद-साहित्य भी [illegible] है। इसमें मैं [illegible]

[illegible]

हिन्दी का [illegible] है। [illegible] शैली के [illegible]

[illegible] किया है।

हिन्दी पद-रचयिताओं के [illegible]

हैं किन्तु 'लोक-गीत' और संगीत पक्ष से सम्बन्धित हैं इससे उनका अध्ययन भी आनुषङ्गिक रूप से किया गया है।

आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत के मूलगत सिद्धान्त और रामानन्द के द्वारा सम्प्रदाय में प्रवर्तित और समाविष्ट नवीन आचार-विचार उपासना आदि तुलसीदास के काव्यों में प्रतिफलित हो उठे हैं जिससे धार्मिक सामाजिक साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में उनको समान प्रतिष्ठा और मान्यता है। सम्प्रदायगत सिद्धान्तों को मर्यादा पुरुषोत्तम राम के इतिवृत्त में भरने के कारण उनका काव्य अति व्यापक बन गया है जिससे उसमें जीवन की सभी स्थितियाँ विविध स्तर के पात्र आचार विचार-व्यवहार आदि समाविष्ट हो उठे हैं। इससे उनकी कृतियों में जीवन-सम्बन्धी किसी समस्या का समाधान सरलता से मिल जाता है। राम का चरित्र और साम्प्रदायिक सिद्धान्त यों तुलसीदास के उत्तरकालीन कवियों और भक्तों के समक्ष प्रस्तुत रहे हैं किन्तु साहित्यिक और धार्मिक काव्य धारा में कोई कवि उनकी कोटि में नहीं आ सका यह तुलसीदास की महान् प्रतिभा विचारधारा और समन्वय की बात थी—मानना पड़ेगा।

तुलसीदास के काव्य की सामान्य विशेषताएँ उनके पद-साहित्य में भी समाहित हैं। यह सत्य है कि 'गीतावली' में राम के जीवन की सभी घटनाएँ, जैसी 'रामचरितमानस' में हैं नहीं आ सकी हैं उसमें केवल मधुर और करुण घटनाओं का समावेश है जो उनके पद-लालित्य और कोमल वृत्ति के कारण विशेष मर्मस्पर्शी हो गई हैं। फिर भी उसमें अवशिष्ट राम-काव्यों की अपेक्षा इसके 'बालकाण्ड' में राम का बाल-चित्रण और 'उत्तरकाण्ड' में हिंडोला वसन्त आदि के वर्णन में इसमें तुलसीदास की नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं। 'श्री कृष्णगीतावली' में कृष्ण की मुख्य लीलाएँ चित्रित हैं। काव्य छोटा है फिर भी कवि की निष्ठा और भक्ति से आप्लावित है यह उनके उदार और व्यापक हृदय का सजीव प्रमाण है। 'विनयपत्रिका' कवि के भक्त हृदय की अर्जी है जिसकी स्वीकारता उसने राम की मर्जी पर छोड़ रखा है। यों भक्ति का प्रस्फुटन 'मानस' और अन्य काव्यों में भी है किन्तु इतिवृत्तात्मकता के कारण उसकी परिणति कथाओं में यत्र-तत्र होती है जबकि इसमें भक्ति और तद्विषयक भूमियों की संपूर्ण भावनाएँ अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान हैं जिससे यह अन्य काव्यों से तुलना में अधिक श्रेष्ठ और दास्यासक्ति के उपासक भक्तों के लिए एक धार्मिक सजीव ग्रन्थ है। विनय का ऐसा सम्बद्ध काव्य हिन्दी में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी अद्वितीय है।

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त गोस्वामी तुलसीदास का पद-साहित्य प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के अध्ययन का आधार है जिसमें उसका परिचय भाव और रस शैलियाँ और भाषा तथा शास्त्रीय संगीत मध्ययुगीन साहित्य परम्परा और यों राम-पद-साहित्य में विवेच्य पद-साहित्य और उसका वैशिष्ट्य आदि-आदि

विषयों का मैंने काव्य और संगीत के परिवेश में विवेचन करने का प्रयत्न किया है।

इस स्थल पर मैंने अपने वक्तव्य 'हिन्दी पद-परम्परा और तुलसीदास' की स्थूल रूप रेखाएँ इङ्गित कर अपने कार्य की दिशाओं का औचित्य स्पष्ट किया है। यों सूरदास, हित हरिवंश, हरिदास तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने पद-शैली में कृष्ण के बाल वर्णन, राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग आदि के भावमय अद्वितीय मधुर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उन्हें केवल पद-शैली में रचना करनी थी और वह भी केवल मधुर भाव में। इसलिए सूर जैसे महाकवि अपने क्षेत्र में यदि क्षितिज भी छू जाए हों तो आश्चर्य क्या? वह कतिपय क्षेत्रों में तुलसी से आगे ही आगे हों, किन्तु तुलसी ने परम्परागत समस्त शैलियों को अपनाकर काव्य-अर्चना की और राम के समग्र जीवन की विविध भावनाओं को चित्रित किया। वस्तुतः उनका काव्य-लोक सूर से कहीं अधिक व्यापक है। फिर भी वह अपनी पद-शैली के काव्य के साथ न्याय न कर सके हों यह बात नहीं। इस सम्बन्ध में गीतावली और श्री कृष्णगीतावली का परीक्षण किया जा सकता है जिनके मधुर और कोमल पद कृष्ण-काव्य के श्रेष्ठ पदों के साथ तुलना के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रही विनयपत्रिका, उसके पदों की तुलना में न सूर के पद हैं और न अन्य किसी भक्त कवि के। अन्ततः मेरा यह निवेदन है कि तुलसी का क्षेत्र व्यापक था, विविध काव्य-शैलियों में उन्हें रचना करनी थी, मर्यादा और दास्य भाव विषयक उनकी साम्प्रदायिक सीमाएँ थीं—इन सब स्थितियों में भी जो गीतावली, विनयपत्रिका आदि जैसी अमूल्य निधि दे सका हो—यह उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व के लिए कम गौरव की बात नहीं। इसी से तुलसी सबसे ऊँचे हैं, सूर भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाते हैं।

अपनी दुर्बलताओं से अवगत होता हुआ भी प्रस्तुत गम्भीर विषय के विवेचन में प्रविष्ट हुआ हूँ। इसमें विषय की व्याख्या में मैं किस स्तर तक पहुँच सका हूँ यह विद्वान पाठक ही अनुभव करेंगे। साथ ही निरूपित निष्कर्षों के सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि अपने अध्ययन में मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ मैंने उन्हें यथास्थान इङ्गित कर दिया है। सम्भवतः मेरी पंक्तियों से तुलसी-काव्य के अछूते इस विशिष्ट पक्ष पर कुछ प्रकाश पड़ ही जाए, मेरी कामना यही है। इस दुस्साहस के लिए सहृदय विद्वज्जन मुझे क्षमा करने की कृपा करें यह मेरी प्रार्थना है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्माण में निर्देशन और मेरी कठिनाइयों का समाधान गुरुवर श्री वाजपेयी जी ने किया है। उनका आभार स्वरूप कहने के लिए न मेरी मर्यादा है और न मन स्वीकृत ही। इससे अपने श्रद्धेय के चरणों में मैं समर्पित विनम्र हूँ।

पारिवारिक समारोहों के पद लोक-गीतों को जुटाने में सुश्री आशा श्रीवास्तव और मंजु श्रीवास्तव एम० ए० बहना की सहोदरा मेरी छात्राओं ने पूरा सहयोग दिया है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि दिनानुदिन बढ़े उनके प्रति यही मेरी शुभाशाएँ और मंगल कामनाएँ हैं।

साथ ही मैं अपना चिर-आभार और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ—धर्मसमाज इण्टर कॉलिज अलीगढ़ के संगीताचार्य श्री भारतेन्दु जी और टीकाराम बालिका महाविद्यालय अलीगढ़ के संगीत-विभाग के अध्यक्ष श्री बाबूराम जी शर्मा को जिन्होंने भारतीय संगीत की पद्धतियों और सिद्धान्तों को मुझे अवगत कराया और तद्विषयक अमूल्य साहित्य देकर सम्यक् सहयोग दिया। गुरुकुल कांगड़ी के संस्कृताध्यापक एवं स्नातक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत महाविद्यालय हरिद्वार के प्रधानाचार्य व्याकरण-शुक्ल साहित्याचार्य श्री मायाचरण जी पांडेय और भारतीय पालीवाल इण्टर कालेज फिरोजाबाद के मेरे सहकारी अध्यापक साहित्यरत्न श्री जगदीशप्रसाद जी शुक्ल को जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर राम-सम्बन्धी लोकगीत मुझे प्रेषित किए तथा धर्मसमाज कालेज अलीगढ़ के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्रीनिवास मिश्र जिनके अध्ययन और विभागीय पुस्तकालय का मैंने आवश्यकतानुसार लाभ उठाया—का भी अत्यन्त आभारी हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार
१—७—६२

—रामचन्द्र मिश्र

विषयानुक्रमणिका

१

हिन्दी पद साहित्य के स्रोत

विषय विचार—गेय काव्य की गेय शैली है जिसमें गीत-तत्वों के कारण अन्य शैलियों के काव्य की अपेक्षा नाद-ध्वनि का प्राधान्य है। फलतः अपनी सहज मर्मस्पर्शिता और चिरन्तन प्रभाव से यह उत्तम अधिक मधुर सुन्दर और सुग्राह्य है।

गीत की सर्वप्रियता का ही यह फल है कि वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के आज तक के साहित्य में उसका अविच्छिन्न स्रोत प्रवहमान है। वेद काल के अनन्तर संस्कृत और पालि तथा प्राकृत लोक-भाषाओं के काव्यों में उसके तत्त्व प्रस्फुटित हो उठे हैं। अपभ्रंश काव्य में सहजयानी सिद्ध सन्तों के चर्यागीतों में उसका स्पष्ट स्वरूप निखर उठा है और अनन्तर हिन्दी के विविध युगों में जीवन्त बना हुआ वह अपने को गतिशील रख है। उपर्युक्त इंगित गीत-काव्यों की वस्तु और रूप में अन्तर अवश्य है किन्तु पदों का मूल आधार सभी में एक है। जिससे सम्पूर्ण प्राचीन काव्य एक सूत्र में बाँधने का साहस किया जा सकता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में पद्यात्मक श्रव्य काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक दो भेद हैं। प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य और खण्ड काव्य) की कथावस्तु उसके पदों में अविच्छिन्न रूप से समाहित रहती है जबकि मुक्तक काव्य अपने एक पद में प्राय पूर्ण होता है। एक की अपेक्षा दो में पूर्ण होने पर 'युग्मक' तीन में पूर्ण होने पर उसे 'सन्दानितक' चार में पूर्ण होने पर 'कलापक' और पाँच में पूर्ण होने पर उसे 'कुलक' कहने का विधान संस्कृत काव्यशास्त्र में है।[1] पद भी प्राय एक पद में पूर्ण होता है और उसकी भावनाएँ मुक्त होती हैं। इससे उसे मुक्तक के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

मुक्तक के सम्बन्ध में यदि व्यापक रूप से विचार किया जाता तो सम्भव है कि गीत पर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता किन्तु हमारा सम्पूर्ण पद्यात्मक काव्य मुक्तक गेय रहा है और उसकी विविध विधाओं की विशेषताएँ भी सामान्यत एक सी रही हैं। इससे गीत काव्य के स्वरूप प्रवृत्तियों और विशेषताओं आदि तथ्यों पर संस्कृत और

---

१ छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्॥

विश्वनाथ—साहित्य दर्पण ६—३१४ ॥

हिन्दी के काव्य-शास्त्रियों ने स्वतन्त्र रूप से विचार करने की कहीं आवश्यकता नहीं समझी। फलतः हमारे काव्य-शास्त्रों में यदि गीत विषयक विवेचन का अभाव हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इसके विपरीत ग्रीक और अंग्रेजी साहित्य में गीत-काव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रही है जिससे उनके काव्य शास्त्रों में तत्सम्बन्धी सम्यक विवेचन सन्निविष्ट है। 'द्विवेदी-युग' में जब हिन्दी पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हुई तब हम उसके गीत-काव्य के सिद्धांतों से भी परिचित हुए और हमारे कवियों ने उनसे अभिप्रेरणा लेकर छायावादी कहे जाने वाले गीत रच डाले। वस्तुतः यहीं से हमारा गेय काव्य एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख हुआ किन्तु फिर भी पद की अपनी परम्परागत स्थिति अक्षुण्ण रही।

पाश्चात्य साहित्य में गीत (Lyric) उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है जो किसी समय Lyre नामक वाद्यन्त्र पर गाया जाता था।[1] आगे चलकर लिरिक शब्द पाश्चात्य गेय काव्य के लिये रूढ़ हो गया। इसमें कवि की वैयक्तिक अन्तर्भावना आवश्यक समझी गई।

इससे यह स्पष्ट है कि गीत में संगीतात्मकता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। किसी समय गीत (Lyric) के लिए लायर आवश्यक रहा हो किन्तु आगे चलकर उसके लिए संगीत की सस्वरता ही आवश्यक रह गई। जो वस्तुतः उसका आवश्यक सिद्धान्त बन भी गई है। संगीतात्मकता के समान गीत के लिए कवि की अन्तर्भावना भी आवश्यक तत्त्व है। अन्यथा काव्य की अन्य विधाओं में उसकी

---

1 *Lyrical poetry—A general term for all poetry which is or can be supposed to be susceptical of being sung to the accompaniment of a musical instrument*

Encyclopaedia Britannica Eleventh Edition Vol VII Page 180

Lyrical poetry is that species of poetry by which the poet directly expresses his emotions.

The New Popular Encyclopedia Vol. VIII Page 437

सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।

महादेवी वर्मा—साध्यगीत—अपनी बात

2. *To return again to Greece there was an early distinction soon accentuated between the poetry chantad by a choir of singers and the song which expressed the sentiments of a single poet The latter or song proper had reached a height of technical perfection in The Isle of Greece where burning Sapho loved and sang*

Enc Brit Vol VII Page 180

रचना भले ही हो जाय, किन्तु वह गीत की सीमा में न बँध सकेगा। कवि की अन्तर्भावना के अभाव में स्थूल भाव ही प्रस्फुटित हो सकेंगे जो महाकाव्य, खण्डकाव्य और नाटक आदि के लिए ही उपयुक्त हैं, गीत के लिए नहीं।[1] गीत की संक्षिप्तता, भावना की एकसूत्रता, भाषा-शैली का माधुर्य आदि तत्त्व वस्तुतः कवि की अन्तर्भावना के ही आश्रित हैं।

गीत के स्वरूप और प्रकार पर भी पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने विचार किया है और वे निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

१. गीत काव्य के भाव या वस्तु सम्बन्धी भेद—प्रेम प्रधान, भक्ति प्रधान, प्रकृति प्रधान, बुद्धि प्रधान, विचार प्रधान, सामाजिक अथवा समूहगीत आदि।

२. गीत काव्य के रूप सम्बन्धी भेद—चतुर्दशपदी (Sonnet), सम्बोध गीत (Odes), शोक गीत (Elegy), गीत (Song), ईडिल (Idyle), पत्र गीत (Epistle) आदि।

यों पाश्चात्य गीत काव्य के सम्बन्ध में कुछ बातों को लेकर विचार कर लिया गया है, किन्तु इससे यह न समझा जाय कि हमारा पद-साहित्य इनसे प्रभावित है। 'भारतेन्दु युग' तक पद-साहित्य का स्वतन्त्र स्रोत प्रवाहित रहा है और तदनन्तर 'द्विवेदी युग', 'छायावादी युग' और 'प्रगतिवादी युग' में शेष काव्य के रूप में भले ही परिवर्तन होते रहे हों, किन्तु पद के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पद में प्रथम पंक्ति 'टेक' और शेष पंक्तियाँ 'अन्तरा' कहलाती हैं, जिसमें काव्य का मार्मिक या धार्मिक छन्द और अनुकूल बैठने वाली राग रागिनी की व्यवस्था रहती है। जिससे वह पद संगीत की सीमा में स्पष्ट उतर आता है। कवि और

---

१ गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं।

—महादेवी-सान्ध्यगीत—अपनी बात

Hegel who has gone minutely into this question in his Esthetik, *contends that when poetry is objective it is epical and when it is subjective it is lyrical* This is to ignore the metrical form of the poem and to deal with its character only It is as he insists the personal thought or passion or inspiration which gives its character to lyrical poetry The lyric has the function *of revealing in terms of pure art the secrets of the inner life its hopes its fantastic joys its sorrows its delirium*

Enc Brit Vol VII Page 180-181

Lyric has been here held essentially to imply that each poem shall turn on some single thought feeling and situation.

F T Palgrave Golden Treasury Page 9

भक्त इसी सरस शैली में पद का निर्माण और मस्ती से गान करते रहे। तुलसीदास ने भी इसी पद-शैली में 'श्रीकृष्ण गीतावली' 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' का निर्माण किया था जो हमारे प्रस्तुत प्रबन्ध के आलोच्य विषय हैं।

हिन्दी भाषा-साहित्य की पृष्ठभूमि

वैदिक युग में प्रचलित भाषा में आर्यों ने अपने वेदों की रचना की थी। उस समय बोलचाल और वेदों की भाषा में किसी प्रकार का अन्तर न था किन्तु विकास की प्रगति में इसमें परिवर्तन सन्निविष्ट हुए। जिससे दो विलोम दिशाओं की ओर उनका मुड़ जाना स्वाभाविक हो गया।

पंजाब प्रदेश से आर्यों के आगे बढ़ने पर उनका आर्येतर जातियों से संघर्ष हुआ फलस्वरूप वैदिक भाषा में उनके भाषा-तत्त्व मिश्रित हो गए। इन नवीन समावेशों के कारण ही यास्क को वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव हुआ था। इस प्रकार विविध मिश्रणों की स्थिति में भी आर्यों की यह भाषा विद्वानों की परिनिष्ठित भाषा समझी जाती थी और इसी में उनके द्वारा आरण्यक ब्राह्मण उपनिषद आदि लिखे गए थे। आगे चलकर भाषा को वर्णसंकुलता से बचाने और उसके विशिष्ट उच्चारणों को सुरक्षित रखने के लिए पाणिनि ने उसे 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों में आबद्ध कर दिया फलस्वरूप उक्त परम्परागत वैदिक भाषा संस्कृत हो गई। इस प्रकार वैदिक भाषा ऋग्वेद कालीन साहित्य आरण्यक उपनिषद आदि की साहित्यिक तथा पाणिनि द्वारा प्रतिपादित संस्कृत भाषा इन तीन कक्षाओं को पार करती हुई रूढ़िबद्ध हो गई।[1] देशी भाषाओं के मध्य में आज भी यह प्रतिष्ठित भाषा अपने वाङ्मय के द्वारा उनको अभिमण्डित करती चली आ रही है।

बोलचाल की भाषा का स्वरूप भी निरन्तर प्रगतिशील रहा। जन-समाज की भाषा होने के कारण इसमें आर्येतर भाषाओं के शब्दों का अधिक समावेश हुआ जिसमें संस्कृत भाषा की अपेक्षा लेश शब्दों को पचाने की शक्ति भी अधिक थी। इससे इसका संस्कृत भाषा से दूर पड़ जाना स्वाभाविक था। सच तो यह है कि यह सब आर्यों व अनार्यों के मिश्रण के कारण हुआ। धीरे-धीरे यह वर्ग ही प्रधान हो गया जिसमें भाषा-परिवर्तन के साथ-साथ सांस्कृतिक परिवर्तन समाविष्ट हुए और आर्यों के विरुद्ध अनीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्मों का विकास हुआ जो सिद्धान्ततः वैदिक धर्म के प्रतिक्रियावादी धर्म थे। इन्हीं सम्प्रदायों ने उनके प्रवर्तकों ने लोक-भाषा को अपनी धर्म भाषा मानकर अपने धर्मों का यथासम्भव प्रसार किया और जन जीवन में भी संस्कृत की अपेक्षा सरलता से हृदयंगम हो जाने के कारण मान

---

१ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ६६ (हिन्दी संस्करण)

भाषा का स्थान लिया।[1]

बुद्ध काल की प्रचलित लोक-भाषा प्राकृत कहलाती है। आरम्भ में वैदिक भाषा और इस प्राकृत में किसी प्रकार का अन्तर न था, किन्तु कालान्तर में दोनों में पर्याप्त अन्तर उत्पन्न हुआ और दोनों भाषाएँ एक दूसरे से दूर जा पड़ी।[2] इन दोनों के अध्ययन और विवेचन की सुविधा के कारण विद्वानों ने वैदिक आर्य भाषा को 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा' और 'प्राकृत भाषा' को 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' की संज्ञा प्रदान की है।

प्रस्तुत सामान्य विषय के साथ पद-साहित्य में उपलब्ध हो रहे हैं। प्रथमतः उन्हीं का प्रयोग 'प्राचीन भारतीय आर्य भाषा' और 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' के साहित्यों में हुआ है। प्रथम की भाषा जैसा निवेदन किया जा चुका है कि पाणिनि के अनन्तर एक सुस्थिर रूप ग्रहण कर चुकी थी। इससे उसकी प्रगति की सम्भावना ही नहीं थी। फलस्वरूप उसके सम्पूर्ण साहित्य में कृत्रिमता और दुर्बोधता एवं शुष्कता मिल जाती है। इसके विपरीत द्वितीय की भाषा लोक जीवन से संयुक्त रहने के कारण प्रायः अपने स्वरूप और साहित्य में परिवर्तन स्वीकार करती रही है। इससे उसके विविध रूपों में वैविध्य और पर्याप्त अन्तर मिलता है। यह पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की सोपानों का अतिक्रमण करती हुई देश की आधुनिक भाषाओं में प्रस्फुटित हो उठी है। इससे 'हिन्दी पद-परम्परा' के अवगत होने के लिए इसमें अलग-अलग उस परम्परा का शोध करना अधिक समीचीन है। हम अपने अध्ययन के रूप में प्रविष्ट हो उसमें पहले उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्य में परिलक्षित हो गया उचित है। इससे शोधकार्य की विविध परिस्थितियों और स्रोतों को हम भली प्रकार समझ सकेंगे।

वैदिक साहित्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार वेद हैं। वैदिक साहित्य के १ 'संहिता' २ 'ब्राह्मण' ३ 'आरण्यक और उपनिषद्' तीन विभाग हैं। प्रत्येक वेद की अलग अलग संहिताएँ, ब्राह्मण तथा आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इनमें ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है।

प्राचीन भारतीय भाषा का साहित्य—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का साहित्य बड़ा सम्पन्न है। महाकवियों, नाटककारों, आख्यायिकाओं और दार्शनिकों ने अपनी प्रतिभा के बल से अपनी रचनाओं द्वारा इसे परिवर्धित किया है। वस्तुतः यह सभी प्रकार विशिष्ट है। इसी कारण इसमें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व और सार भावनाओं के लिए अभिव्यक्ति के तत्त्व विद्यमान हैं।

वेद, दर्शन, पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत आदि भारतीय आर्य भाषा के ही उपजीव्य के रूप में सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के

---

[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ६२

[2] डा० श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा—भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ पृष्ठ ७

अभिप्रेरक और उपजीव्य रहे हैं। इन्होंने हमें विदेशी साहित्य के समक्ष गौरवान्वित और महान् सिद्ध किया है। इन्हीं के कारण विदेशी जिज्ञासुओं ने हमारे साहित्य का अध्ययन कर हमारी महिमा और प्रतिभा का मूल्यांकन किया है जिससे हमारी संस्कृति की महत्ता सिद्ध हुई है।

महाकवियों में संस्कृत में कालिदास का प्रमुख स्थान है। उन्होंने कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल नाटक भी लिखे हैं। कालिदास अपनी मनोरम उपमाओं, अविशिष्ट प्रकृति चित्रण, स्वाभाविक मानवीय चित्रणों के लिए अद्वितीय हैं। उनके अनन्तर भी महाकाव्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। अश्वघोष का बुद्धचरित, भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टि का भट्टिकाव्य, माघ का शिशुपालवध, क्षेमेन्द्र के 'रामायण मंजरी' और 'भारतमंजरी', श्री हर्ष का 'नैषध', बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', कल्हण का 'राजतरंगिणी' आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। गद्य साहित्य में बाणभट्ट के 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी', दण्डी का 'दशकुमार चरित', नाट्य साहित्य में कालिदास के नाटकों के अतिरिक्त विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, शूद्रक का 'मृच्छकटिक', भवभूति के 'मालती माधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित', राजशेखर का 'बाल रामायण', जयदेव का प्रसन्नराघव तथा भाण साहित्य में 'चतुर्भाणी', युवराजकृत 'रससदन भाण', काशीपति कृत 'मुकुन्दानन्द भाण', रामभद्र दीक्षित कृत 'शृंगारतिलक भाण', मल्ला दीक्षित कृत 'शृंगार सर्वस्व' आदि संस्कृत-साहित्य को गौरवान्वित किये हुए हैं। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालंकार', वामन का 'काव्यालंकार सूत्र', रुद्रट का 'काव्यालंकार', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', रुय्यक का 'अलंकार सर्वस्व', पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि प्रसिद्ध हैं। भारतीय साहित्य में दो प्रकार के दर्शनों का विकास हुआ है—(१) नास्तिक दर्शन और (२) आस्तिक दर्शन। प्रथम के अन्तर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं तथा द्वितीय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों का विकास हुआ है। इन सभी दर्शनों में पर्याप्त साहित्य का निर्माण हुआ है।

घ. मध्य. भारतीय आर्य भाषाएँ—इन भाषाओं का समय ५०० ई० पू० से १००० ई० तक सीमित है। १००० ई० के आस-पास मुसलमानों के आक्रमणों, विजयों तथा देश में उनके बस जाने से यहाँ की राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परम्पराओं में परिवर्तन हो उठा था। इसी समय यही भाषाएँ अपभ्रंश से अलग अपनी प्राण-प्रतिष्ठा में प्रवृत्त हो चलीं। इस तथ्य के कारण ही डा० चटर्जी १००० ई० को भारत की आधुनिक भाषाओं के विकसित होने की आदि सीमा मानते हैं।[1]

---

१ डा० चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०५

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने उपर्युक्त १२०० वर्ष के समय के निम्न तीन विभाजन किए हैं।[1]

१ पालि तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ (५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक)
२ साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ (१ ई० से ५०० ई० तक)
३ अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई० से १००० ई० तक)

१ पालि साहित्य—भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग १३वीं १४वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता। प्राचीन समय की अपेक्षा यह प्रयोग अधिक नवीन है। आचार्य बुद्धघोष ने चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग अपनी 'अट्ठकथाओं' और 'विशुद्धिमग्ग' में किया है। यह शब्द निस्सन्देह बड़ा विवादास्पद है किन्तु आज यह शब्द बौद्ध साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है।

उपर्युक्त के समान यह किस प्रान्त की भाषा है यह प्रश्न भी विवादास्पद है। सच तो यह है कि गौतम बुद्ध ने अपने विचार मागधी में ही प्रकट किए थे किन्तु भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा जब वे दूरस्थ प्रदेशों तक ले जाए गए तब विविध प्रान्तीय भाषा तत्त्वों का उनमें सम्मिश्रण हो गया जिससे विद्वानों के मध्य में पालि-विषयक विचार-वैषम्य प्रस्तुत होता रहा है। वस्तुतः मूल पालि मागधी ही रही है।[2]

पालि साहित्य में निम्नलिखित वर्णनात्मक काव्य उपलब्ध हैं—महावंस, तेलकटाहगाथा, जिनालंकार, जिनचरित, पज्जमधु, सद्धम्मोपायन, पञ्चगतिदीपन, सीहलवत्थु आदि। उपर्युक्त के अतिरिक्त गद्य और पद्य मिश्रित ये काव्य भी हैं—रसवाहिनी, बुद्धालंकार, सहस्सवत्थुप्पकरण, राजाधिराजविलासिनी आदि।[3]

इन काव्यों के लिखने का उद्देश्य केवल जैन और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार ही रहा है अतः काव्य के अपेक्षित तत्त्व उनमें उपलब्ध नहीं होते। उनमें रसात्मकता और सौन्दर्य की अनुभूति तो दूर रही जीवन का वैविध्य भी सन्निहित नहीं है।

२ प्राकृत साहित्य—मध्य भारतीय भाषाओं में पालि के अनन्तर प्राकृत की प्रतिष्ठा हो चुकी है। सच तो यह है कि वैदिककालीन लोक भाषा ही क्रमिक विकास ग्रहण करती गई और पालि के अनन्तर प्राकृत में उसका सुस्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ बाद में अपभ्रंश भाषाओं ने उसका व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार लोक भाषा के विकास के विविध स्तरों में यह मध्य का स्वरूप है जो पालि की अपेक्षा साहित्य क्षेत्र में व्यापक रूप में प्रतिष्ठित है।

जन जीवन में प्राकृत भाषा के माधुर्य की अनुभूति हो चुकी थी जिससे विविध विद्वानों ने उसकी सराहना की है। नाटक-नाटिका शिल्प शृंगार का प्राकृत

---

१ डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ ४६ ४८
२ श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ ८
३ श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३८८

अभिमरक और उपजीव्य रहे हैं। इन्होंने हमें विदेशी साहित्य के समक्ष गौरवान्वित और महान् सिद्ध किया है। इन्हीं के कारण विदेशी जिज्ञासुओं ने हमारे साहित्य का अध्ययन कर हमारी महिमा और प्रतिभा का मूल्यांकन किया है जिससे हमारी संस्कृति की महत्ता सिद्ध हुई है।

महाकवियों के मध्य में कालिदास का प्रमुख स्थान है उन्होंने कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल नाटक भी लिखे हैं। कालिदास अपनी मनोरम उपमाएँ, मश्लिष्ट प्रकृति चित्रण, स्वाभाविक मानवीय चित्रणों के लिए अद्वितीय हैं। उनके अनन्तर भी महाकाव्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। अश्वघोष का बुद्धचरित, भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टि का भट्टिकाव्य, माघ का शिशुपालवध, क्षेमेन्द्र के 'रामायण मंजरी' और 'भारतमंजरी' श्री हर्ष का 'नैषध' बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित' कल्हण का 'राजतरंगिणी' आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। गद्य साहित्य में बाणभट्ट के 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दण्डी का 'दशकुमार चरित' नाट्य साहित्य में कालिदास के नाटकों के अतिरिक्त विशाखदत्त का मुद्राराक्षस शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भवभूति के 'मालती माधव' 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित्' राजशेखर का 'बाल रामायण' जयदेव का 'प्रसन्नराघव' तथा भाण साहित्य में 'चतुर्भाणी' युवराजकृत 'रससदन भाण' काशीपति कृत 'मुकुन्दानन्द भाण' रामभद्र दीक्षित कृत 'शृंगारतिलक भाण' नल्ला दीक्षित कृत 'शृंगार सर्वस्व' आदि संस्कृत-साहित्य को गौरवान्वित किए हुए हैं। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत भरत का 'नाट्यशास्त्र' भामह का 'काव्यालंकार' वामन का 'काव्यालंकार सूत्र' रुद्रट का 'काव्यालंकार' आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' रुय्यक का 'अलंकार सर्वस्व' पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि प्रसिद्ध हैं। भारतीय साहित्य में दो प्रकार के दर्शनों का विकास हुआ है—(१) नास्तिक दर्शन और (२) आस्तिक दर्शन। प्रथम के अन्तर्गत चार्वाक जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं तथा द्वितीय में न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा वेदान्त आदि दर्शनों का विकास हुआ है। इन सभी दर्शनों में पर्याप्त साहित्य का निर्माण हुआ है।

(आ) मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ—इन भाषाओं का समय ५०० ई० पू० से १००० ई० तक सीमित है। ५०० ई० के आस-पास मुसलमानों के आक्रमणों विजयों तथा देश में उनके बस जाने से यहाँ की राजनीतिक सांस्कृतिक धार्मिक एवं साहित्यिक परम्पराओं में उद्वेलन हो उठा था। इसी समय देशी भाषाएँ अपभ्रंश के अनन्तर अपनी प्राण-प्रतिष्ठा में प्रवृत्त हो उठीं। इस तथ्य के कारण ही डा० चटर्जी १००० ई० को भारत की आधुनिक भाषाओं के विकसित होने की आदि सीमा मानते हैं।[1]

---

१ डा० चटर्जी—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ १०३

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने उपयुक्त १५०० वर्ष के समय के निम्न तीन विभाजन किए हैं।[1]

१ पालि तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ (५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक)
२ साहित्यिक प्राकृत भाषाएं (१ ई० से ५०० ई० तक)
३ अपभ्रंश भाषाएं (५०० ई० से १००० ई० तक)

१ पालि साहित्य—भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग १४वीं १५वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता। फलतः समय की अपेक्षा यह प्रयोग अधिक नवीन है। आचार्य बुद्धघोष ने चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग अपनी 'अट्ठकथाओं' और 'विसुद्धिमग्ग' में किया है। यह शब्द निस्सन्देह बड़ा विवादास्पद है किन्तु आज यह शब्द बौद्ध साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है।

उपर्युक्त के समान यह किस प्रदेश की भाषा है यह प्रश्न भी विवादास्पद है। सच तो यह है कि गौतम बुद्ध ने अपने विचार मागधी में ही प्रकट किए थे किन्तु भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा जब वे दूरस्थ प्रदेशों तक ले जाए गए तब विविध प्रादेशिक भाषा तत्त्वों का उसमें सन्निवेश हो गया जिससे कि विद्वानों के मध्य में पालि-विषयक विचार-वैषम्य प्रस्तुत होता रहा है। वस्तुतः मूल पालि मागधी ही रही है।[2]

पालि साहित्य में निम्नलिखित वर्णनात्मक काव्य उपलब्ध हैं—अनागतवंश, तेलकटाहगाथा, जिनालङ्कार, जिनचरित, पज्जमधु, सद्धम्मोपायन, पञ्चगतिदीपन, लोकप्पदीपसार आदि। उपर्युक्त के अतिरिक्त गद्य और पद्य मिश्रित व आख्यान भी हैं—रसवाहिनी, बुद्धालङ्कार, सहस्सवत्थुप्पकरण, राजाधिराजविलासिनी आदि।[3]

इन काव्यों के लिखने का उद्देश्य केवल जैन और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार ही रहा है। फलतः काव्य के अपेक्षित तत्त्व उनमें उपलब्ध नहीं होते। उनमें कल्पना और जीवन की अनुभूति तो दूर रही जीवन का वैविध्य भी सन्निहित नहीं है।

२ प्राकृत साहित्य—मध्य भारतीय भाषाओं में पालि के अनन्तर प्राकृत की प्रतिष्ठा हो उठी है। सच तो यह है कि वेदकालीन लोक भाषा ही क्रमिक विकास ग्रहण करती गई और पालि के अनन्तर प्राकृत में उसका सुस्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ बाद में अपभ्रंश भाषाओं ने उसने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार लोक भाषा के विकास के विविध स्वरूपों में यह मध्य का स्वरूप है जो पालि की अपेक्षा साहित्य क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है।

जन जीवन में प्राकृत भाषा के माधुर्य की अनुभूति हो उठी थी जिससे विविध विद्वानों ने उसकी सराहना की है। नायक-नायिका विषयक शृंगार का प्राकृत

---

१ डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ ४६ ४८
२ श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ २८
३ श्री भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृष्ठ २८४

के ललित और मधुर अक्षरों में जो स्वरूप है वह भला संस्कृत में कब पढ़ा जाना सम्भव है—जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' में यह विचार प्रकट किया है।[1] 'गाथा सप्तशती' के संग्रहकार हाल प्राकृत के माधुर्य को काम क्रीडा में भी मधुरतर कहते हैं।[2] राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में संस्कृत और प्राकृत का वही अन्तर माना है जो पुरुष और स्त्री में होता है।[3]

प्राकृत के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्राकृत वैयाकरणों ने उसके निम्न पाँच विभाजन किए हैं —

१ *शौरसेनी प्राकृत*—मथुरा तथा उसके आसपास की बोल भाषा रही है। मध्य देश की भाषा होने के कारण अवशिष्ट प्राकृतों की अपेक्षा इस पर संस्कृत का अधिक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत नाटकों और जैन धर्म के ग्रन्थों में यह उपलब्ध है।

२ *मागधी प्राकृत*—बिहार प्रान्त के अन्तर्गत मगध की भाषा रही है। गौतम बुद्ध के उपदेश और पालि का मूल स्रोत इसी भाषा का पूर्व रूप रहा है।

३ *अर्धमागधी प्राकृत*—यह काशी और कोशल प्रदेश की भाषा थी। इसमें मागधी प्राकृत के रूप भी मिलते हैं। इसका रूप जैन आगमों में सुरक्षित है।

४ *महाराष्ट्री प्राकृत*—व्याकरण के पण्डितों ने इस प्राकृत को ही आदर्श माना है। संस्कृत नाटकों में जहाँ भी प्राकृत छन्दों में रचना प्रस्तुत की गई है वह इसी प्राकृत में लिखी गई है।

५ *पैशाची प्राकृत*—देश की पश्चिमोत्तर भाषों का रूप ही पैशाची के नाम से प्रख्यात है। गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' इसी प्राकृत में लिखी थी किन्तु आज वह अप्राप्य है। इसमें किसी भी प्रकार का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

इन सभी में महाराष्ट्री प्राकृत ही व्यापक और अधिकाधिक प्रयोग में रही है। नाटकों और काव्यों में यही व्यवहृत होती रही है।

प्राकृत में दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध है—१ साम्प्रदायिक—जैन धर्म सम्बन्धी और २ साहित्यिक—काव्य और नाटक आदि।

१ जैन धर्म की सम्पूर्ण रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृत में लिखी गई थीं। इन रचनाओं में उसके सिद्धान्त और टीका ग्रन्थ आते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में छेदसूत्र और मूल सूत्र प्रमुख हैं। इनमें जैन-धर्म के सम्पूर्ण आचार-विचार व्रत अनुशासन आदि

---

१ ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउम्॥

२ अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥

३ परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणम्॥

के ललित और मधुर अक्षरों में जो स्वरूप है वह भला संस्कृत में कब पढ़ा जाना सम्भव है—जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' में यह विचार प्रकट किया है।[1] 'गाथा सप्तशती' के संग्रहकार हाल प्राकृत के माधुर्य का काम क्रीड़ा से भी मधुरतर कहते हैं।[2] राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में संस्कृत और प्राकृत का वही अन्तर माना है जो पुरुष और स्त्री में होता है।[3]

प्राकृत के उपलब्ध साहित्य के आधार पर प्राकृत वैय्याकरणों ने उसके निम्न पाँच विभाजन किए हैं —

१ शौरसेनी प्राकृत—मथुरा तथा उसके आसपास की लोक भाषा रही है। मध्य देश की भाषा होने के कारण पश्चिमोत्तर प्राकृतों की अपेक्षा इस पर संस्कृत का अधिक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत नाटकों और जैन धर्म के ग्रन्थों में यह उपलब्ध है।

२ मागधी प्राकृत—बिहार प्रान्त के अन्तर्गत मगध की भाषा रही है। गौतम बुद्ध के उपदेश और पालि का मूल स्रोत इसी भाषा का पूर्व रूप रहा है।

३ अर्धमागधी प्राकृत—यह काशी और कोसल प्रदेशों की भाषा थी। इसमें मागधी प्राकृत के रूप भी मिलते हैं। इसका रूप जैन शास्त्रों में सुरक्षित है।

४ महाराष्ट्री प्राकृत—व्याकरण के पण्डितों ने इस प्राकृत को ही आदर्श माना है। संस्कृत नाटकों में जहाँ भी प्राकृत पद्यों में रचना प्रस्तुत की गई है वह इसी प्राकृत में लिखी गई है।

५ पैशाची प्राकृत—देश की पश्चिमोत्तर बोली का रूप ही पैशाची के नाम से प्रख्यात है। गुणाढ्य ने बृहत्कथा इसी प्राकृत में लिखी थी किन्तु अब वह अप्राप्य है। इसमें किसी भी प्रकार का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

इन सभी में महाराष्ट्री प्राकृत ही व्यापक और साहित्यिक प्रयोग में रही है। नाटकों और काव्यों में यही व्यवहृत होती रही है।

प्राकृत में दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध है —१ साम्प्रदायिक—जैन धर्म सम्बन्धी और २ साहित्यिक—काव्य और नाटक आदि।

१ जैन धर्म की सम्पूर्ण रचनाएँ अर्धमागधी प्राकृत में लिखी गई थीं। इन रचनाओं में उसके सिद्धान्त और टीका ग्रन्थ आते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में छेदसूत्र और मूल सूत्र प्रमुख हैं। इनमें जैन-धर्म के सम्पूर्ण आचार विचार व्रत अनुशासन आदि

---

१ ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं॥

२ अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥

३ परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥

के सभी सिद्धान्त समाहित हैं। अनन्तर जैन-धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर दो विभागों में बँट गया है। प्रथम ने महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया है। इसमें 'समराइच्च कहा' 'कुवलयमाला' 'धूर्ताख्यान' आदि कथा-साहित्य है—तरंगवती सुरसुन्दरी चरिउ कालकाचार्य कथानक सिरिसिरिवालकहा रयणसेहरकहा' भी कथा-साहित्य के अन्तर्गत परिगणित हैं—किन्तु इसमें गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी उपलब्ध है। दिगम्बर शाखा ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। इसमें पवयणसार समयसार नियमसार, षट्पाहुड दर्शनसार बोधविचार मूलाराधना श्रावकाचार आदि पर्याप्त पद्य साहित्य है। ऋषभ पंचाशिका महावीर शान्तिकथानक आदि जैन सम्प्रदाय के स्तवन ग्रन्थ हैं।[1]

२ साहित्यिक क्षेत्र में भी प्राकृत का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इसको नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों का वार्तालाप का साधन बनाया गया है। इसी से संस्कृत नाटकों में प्रायः इसका प्रयोग किया गया है। अश्वघोष का 'शारिपुत्र प्रकरण' एवं राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' रचनाएँ प्राकृत में ही रही हैं। कर्पूरमंजरी रम्भामंजरी चन्द्रलेहा शृंगारमंजरी आनन्द सुन्दरी आदि स्त्री-प्रधान रचनाएँ रहने के कारण प्राकृत में ही लिखी गई हैं।[2]

प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों की रचनाएँ भी प्राकृत में लिखी गई हैं। रावण वहो गउड वहो लीलावई सिरिचिंधकव्व उषानिरुद्ध कंसवहो आदि प्रबन्ध काव्य तथा 'गाहा सतसई' और 'वज्जालग्ग' मुक्तक काव्य हैं।

उपर्युक्त में 'लीलावई' कुतूहल कवि के द्वारा १० ० ई० में रचित है। इसमें प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहल की राजकुमारी की प्रेम कथा है। सिरि चिन्ध के कवि कृष्ण लीलाशुक और दुर्गाप्रसाद हैं। दूसरी रचना १६वीं शताब्दी में हुई है, इसमें कृष्णलीला का वर्णन है। 'उषानिरुद्ध' तथा 'कंसवहो' के कवि रामपाणिवाद हैं। इसमें प्रथम में उषा और अनिरुद्ध की प्रेमकथा तथा द्वितीय में कृष्ण की बाललीला से माध्यम से कंसवध का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[3]

उपर्युक्त में रावणवहो या सेतुबन्ध गउडवहो और गाहासतसई प्रमुख काव्य ग्रन्थ हैं। 'वज्जालग्ग' एक संग्रहग्रन्थ है इसका संग्रह जयवल्लभ ने किया है। इसमें शृंगार और नीति की ७९५ गाथाएँ उपलब्ध हैं। ये सभी रचनाएँ महाराष्ट्री प्राकृत में रचित हैं और इसमें मात्रा छन्द का प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश साहित्य—जन-वाणी के सम्मान से प्राकृत के च्युत हो जाने पर अपभ्रंश से व्यावहारिक उपयोग की अधिकारिणी हुई जिसमें नवीन प्रयोग हुए और

---

१ सं धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष पृष्ठ ४६४ ४६५
२ सं० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष पृष्ठ ४६४ ४६५
३ सं धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्य कोष पृष्ठ ४६४ ४६५

नवीन प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ। अनन्तर इसी के सम्पन्न रूप से देश की अर्वाचीन भाषाएँ अपना जन्म प्राप्त कर अपने अस्तित्व को प्रगति दे सकीं। विविध प्रान्तों के अनुसार विविध अपभ्रंश भाषाएँ जन्मी और उनसे हमारी देशी भाषाएँ उत्पन्न हुईं। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा खड़ीबोली राजस्थानी पंजाबी गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का मागधी अपभ्रंश से भोजपुरी उड़िया बंगाली असामी मैथिली और मगही का अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी और अवधी का महाराष्ट्री से मराठी का ब्राचड से सिन्धी का जन्म हुआ है। इनमें गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से भी मानते हैं। इन प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं का रूप उस समय विकसित हुआ जब अपभ्रंशों ने शिष्ट साहित्य के लिए साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप अपभ्रंशों के साहित्यिक रूढ़ि में आबद्ध हो जाने पर उन्हीं क्षेत्रों की जनपदीय बोलियाँ वहाँ के जनसाधारण की भावनाओं की अभिव्यक्ति का साधन बनीं और विविध बोलियाँ प्रयोग में आ उठीं।

अपभ्रंश-साहित्य का सृजन सिद्ध और जैन-सन्तों द्वारा किया गया था अतएव यह सभी धर्म-मूलक है। उसमें विशुद्ध काव्य के दर्शन नहीं होते हैं।

(क) सिद्ध-साहित्य—बौद्ध धर्म की परम्परा में कितने ही सहजयानी सिद्ध सन्तों ने विविध प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें सरहपा के दोहाकोष चर्यागीति दोहाकोष उपदेश-गीतिका कायकोष-अमृत-वज्रगीति आदि शबरपा के चित्तगुह्यगम्भीरार्थगीति महामुद्रा-वज्रगीति शून्यतादृष्टि आदि भुसुकुपा का सहज गीति लुईपा के अभिसमय-विभंग गीतिका आदि विरूपा के दोहाकोष विरूपा गीतिका विरूप-वज्र-गीतिका आदि डोम्बिपा के नाडीबिन्दुद्वारयोगचर्या गीतिका आदि कण्हपा के गीतिका वसन्ततिलक वज्रगीति दोहाकोष आदि गोरखपा के गोरख बानी वायुतत्त्वोपदेश आदि प्रसिद्ध हैं।

जैन-साहित्य—अपभ्रंश-काल में सिद्ध-साहित्य के अतिरिक्त यदि कोई साहित्य उल्लेखनीय है तो वह जैनियों का है जिसमें उनका समग्र पुराण और चरित-काव्य परिगणित है। साम्प्रदायिक भावनाओं के कारण उसमें केवल धार्मिक सिद्धान्तों का ही सन्निवेश है, मानव-जीवन भावनाओं का नहीं। इस साहित्य में स्वयम्भू के हरिवंश पुराण और पउमचरिउ पुष्पदन्त के महापुराण जसहरचरिउ और णायकुमार चरिउ योगीन्द्र के परमात्मप्रकाश दोहा और योगसार दोहा रामसिंह का पाहुड दोहा और धनपाल का भविसयत्त कहा आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। १०० ई० के अनन्तर भी जैन-साहित्य का निर्माण होता रहा है जिसमें चरित-काव्य व्याकरण ग्रन्थ और फागु रास आदि लोक-साहित्य प्रमुख हैं।

हिन्दी पद-साहित्य के विविध स्रोत—वेद प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य में हमने देखा है कि उनका प्रथम रूप देशी

भाषाओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान है। इन्होंने जिन परम्पराओं और प्रवृत्तियों को जन्म दिया वे ही आगे की भाषाओं में प्रस्फुटित हुई और उनका अभिन्न अंग बन गई। इसी से आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की भाषा छन्द वस्तु प्रवृत्तियों आदि की परम्पराएँ पूर्व की साहित्यिक अभिव्यक्तियों में विद्यमान हैं। यहाँ उनमें समाहित सब परम्पराओं का विवेचन न उपयुक्त है और न समीचीन ही। प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल पद-परम्परा पर विचार प्रस्तुत किया जायगा। फलतः उससे पूर्व उसके स्रोतों पर दृष्टिपात कर लेना उचित है।

१ वेदों में गीति-तत्त्व

आर्यों के द्वारा वेदों का निर्माण प्रकृति की रम्य गोद में किया गया था जब आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की अविकसित आदि अवस्था थी। उस जीवन में उन्हें जो भी भय विषाद और हर्ष की अनुभूतियाँ हुई उनको स्तुतियों के माध्यम से उन्होंने अभिव्यक्त किया। ये स्तुतियाँ अग्नि सविता वरुण मरुत विष्णु इन्द्र रुद्र आदि देवताओं के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गई थीं जिनका संग्रह ऋग्वेद में उपलब्ध है।

देवताओं को समर्पित इन स्तुतियों में यदि कहीं भय और विषाद की कामनाएँ पिरोई हुई हैं तो कहीं हर्ष और समारोह की और कहीं संघर्ष और युद्ध की। इस तथ्य से उनमें आर्यों का आत्माभिव्यंजन तो हुआ ही है किन्तु एक भाव धारा रहने के कारण विचारों की एकरूपता भी प्रतिष्ठित है। ये अधिक लम्बी नहीं हैं। जो स्तुतियाँ लम्बी हैं उनमें भी मुक्त भाव है और अधिकांश प्रायः चार चरण के दस पद्यों में पूर्ण हुई हैं। इस प्रकार उनमें संक्षिप्तता समादृत है। ऋग्वेद की ऋचाओं के संहिता पाठ और पद पाठ दो रूप उपलब्ध हैं। प्रथम के द्वारा शब्दों की योजना और द्वितीय के द्वारा शब्दों के उच्चारण की व्यवस्था इङ्गित है। चिह्नित स्वर उदात्त अनुदात्त और स्वरित की ध्वनि का संकेत करते हैं। इस प्रकार वेद की ऋचाओं का पाठ ध्वनि और लय के साथ करने की परम्परा कालान्तर में ही नहीं आज तक विद्यमान है। इस लक्षण से ऋग्वेद में गीतात्मक तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त अवशिष्ट सामवेद यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी गीति तत्त्व है किन्तु ऋग्वेद के समान नहीं। इनमें सामवेद का अपना विशिष्ट स्थान है यह संगीत का ही वेद समझा जाता है। इन तथ्यों से वेदों में गीतात्मकता विद्यमान है।

२ प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) का गीति-काव्य

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अपने साहित्य में जिस प्रकार सम्पन्न है वह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। उसमें गीति-काव्य भी प्रभूत मात्रा में लिखा गया है

(मैं सुमुक्त हो गई। मैं अच्छी मुक्त हो गई। तीन टेढ़ी चीजों से मेरी मुक्ति हुई—उखली से, मूसल से, अपने कुबड़े पति से। मैं जन्म-मरण से मुक्त हो गई हूँ। मेरी भव-बेड़ी ही विनष्ट हो गई है।)

सुमङ्गल-माता का श्रावस्ती के निर्धन परिवार में जन्म हुआ था। एक छाता बनाने वाला उसका पति था। प्रव्रज्या ग्रहण करने के उपरान्त उसने कठोर साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। अनन्तर अपने सुख को उसने इस प्रकार व्यक्त किया—

'सुमुत्तिके सुमुत्तिका साधु मुत्तिकम्हि मुसलस्स।
अहिरिको मे छत्तकं वा पि उक्खलिका मे देड्डुभं वाति॥
रागञ्च अहं दोसञ्च विच्छिन्नमानी विहरामि।
सा रुक्खमूलम् उपगम्म अहो सुखन्ति सुखतो झायामि।

—(थेरी गाथा २३ २४)

(मुझ मुक्त की मुक्ति साधु है। मैं मूसल से मुक्त हो गई हूँ। अपने स्वामी के बनाए हुए छातों की छड़ियों से भी मेरी देह दुर्बल थी। मैंने जीवन के राग और दोषों का परित्याग कर दिया है। मैं वृक्ष-मूलों का ध्यान करती हूँ। मैं सुखी हूँ और सुख से ध्यान करती हूँ।)

खेमा सागली नगर के राजा की कन्या थी। पिता से उपदेश प्राप्त कर उसने बुद्ध-धर्म में दीक्षा ग्रहण की। अनन्तर वह भिक्षुणी बन गई। एक मध्याह्न में श्रावस्ती के अन्धवन में विश्राम करने गई। वहाँ छद्मवेषधारी कामदेव ने उसे फुसलाया किन्तु अर्हत्व ज्ञान को प्राप्त उसने उसे निम्न उत्तर दिया—

'सत्तिसूलूपमा कामा खन्धासं अधिकुट्टना।
यं त्वं कामरतिं ब्रूसि अरति दानि सा मम॥
सब्बत्थ विहता नन्दि तमोक्खन्धो पदालितो।
एवं जानाहि पापिम निहतो त्वमसि अन्तक॥

—(वही—१८ १९)

(कामदेव! भोग का सुख मुझे भाले के समान लगता है। जिसे तुम विलास का सुख कहते हो वह मेरे लिए घृणा की चीज है। मेरी भोगासक्ति विनष्ट और महातामान्धकार दलित हो चुका है। पापी! यह समझ ला कि तुम्हारा ही अन्त कर डाला गया।)

अंबपाली का वैशाली के राजोद्यान में आम के पेड़ के नीचे जन्म लेने से यह नाम पड़ा। वयस्था प्राप्त होने पर उसका सौन्दर्य निखर आया। उससे विवाह करने की इच्छा रखने के कारण वैशाली के राजकुमारों में परस्पर स्पर्धा हुई। अनन्तर पंचायत के निर्णय से वह नगरी की सामान्य पत्नी बनी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब गौतमबुद्ध वैशाली गए तो वह उसी के उपवन में ठहरे। उसने भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण किया और अपना उपवन संघ को दान कर दिया। अनन्तर अपने

पुत्र विमल कौण्डिन्य से उसने प्रव्रज्या ली। वृद्धावस्था में शरीर के परिवर्तनों को देख कर उसे बुद्ध-वाणी में सत्यता प्रतीत हुई। वह अपने दुर्बल और जर्जरित शरीर को देखकर कहती है—

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं।
ते जराय साणवाकसदिसा सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा॥
चित्तकारसुकता व लेखिका सोभते सु भमुका पुरे मम।
ता जराय वलीहि पलम्बिता सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा॥
पीनवट्टसहितुग्गता उभो सोभते सु थनका पुरे मम।
थेविकी'व लम्बन्ते नोदका सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा॥
एदिसो अहु अयं समुस्सयो जज्जरो बहुदुक्खानमालयो।
सो पलेपपतितो जराघरो सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा॥

—(थेरी गाथा सुत्ता २५२, २५६, २६५, २७०)

(काले भौंरे के रंग के समान मेरे घुँघराले बाल थे। वही आज वृद्धावस्था के कारण सन के समान हैं—सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते। चित्रकार द्वारा कुशलतापूर्वक चित्रित की हुई मेरी दो भौंहें थीं। वही वृद्धावस्था के कारण झुर्रियाँ पड़कर नीचे लटकी हुई हैं—सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते। पीन गोल और उन्नत कभी मेरे दोनों स्तन थे। वही आज जल रहित चमड़े की थैली के समान लटके हुए हैं। सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।

एक समय यह शरीर इस प्रकार का था किन्तु इस समय यह जर्जर और दुःखों का घर है। जीर्ण-शीर्ण घर जैसे बिना लिपाई-पुताई के गिर जाता है वैसे ही यह शरीर भी शीघ्र ही गिर जायेगा। सत्यवादी बुद्ध के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।)

२ थेर गाथा— थेरगाथा में भी थेरी गाथा के समान आत्माभिव्यंजन का पूर्ण स्वरूप विद्यमान है। नारी होने के नाते भिक्षुणियों की भावनाओं में जो कोमल अभिव्यंजना है वह भिक्षुओं की गाथाओं में प्राप्त नहीं है किन्तु व्यष्टि समष्टि प्रकृति आदि को लेकर उनकी अन्तस्तल की वाणी मुखर है यह सर्वथा सत्य है।

बौद्ध धर्म में ऐसी भिक्षुओं में अनुभूति का प्रमुख स्थान था। वह वर्षाकाल में राजगृह में शुभ स्थान में रहते थे। वर्षाकाल होने पर भी वर्षा नहीं होती थी। बिम्बिसार ने उनके लिए एक कुटी बनवा दी। जैसे ही उन्होंने उसमें प्रवेश किया वर्षा हो उठी। उन्होंने कुटी में बैठकर निम्न गाथा का गान किया—

छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता। वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं। आतापी विहरामि वस्स देवा'ति॥

—(थेर गाथा—

विशेषता के कारण प्राकृत के प्रायः सभी काव्य इसी छन्द में निर्मित हैं। इस स्थल पर कुछेक प्राकृत काव्यों को लेकर उनमें समाहित गीतात्मकता से परिचित हो लेना आवश्यक है।

आ—प्राकृत गेय काव्य

१ सेतुबन्ध—इस काव्य का नाम 'रावणवहो' अथवा 'दहमुहवहो' है। इसके रचयिता काश्मीर नरेश प्रवरसेन हैं। उनकी कीर्ति-कौमुदी बड़ी उज्ज्वल है और दूर दूर तक छाई हुई है[1]। कवि ने इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की है। जिसमें सूक्तियों का सागर भरा हुआ है।[2]

इस काव्य में १५ आश्वास हैं जिनमें 'सेतुबन्ध' और 'रावणवध' के सजीव चित्र कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इस काव्य के संकेत हर्षचरित और 'काव्यादर्श' में उपलब्ध हैं। इससे यह रचना ६वीं शताब्दी में हुई प्रतीत होती है।

रावणवध के लिए जब राम लंका-जय समुद्र के किनारे पहुँचते हैं तब वह समुद्र की गरिमा देखकर आश्चर्यचकित होते हैं—

अह पेच्छइ रहुतणओ चडुल कल्लोलमणुबद्धलोलिअवम्म ।
उत्थम्भिअभाअणअं कज्जारम्भस्स जोव्वणं व समुद्दं ॥

(आश्वास २—१)

(इसके अनन्तर श्रीराम ने मकर-कल्लोल आदि की भयानकता के कारण दुर्लंघनीय अथवा अमृत रस तथा रत्नादि से गौरवयुक्त समुद्र को देखा वह ऐसा ज्ञात होता था मानो प्रारम्भ किए हुए कार्य का मध्य भाग हो।)

राम-काज में सहायक होने के लिए सुग्रीव वानरों को निम्न भावना से अभिप्रेरणा और उत्साह प्रदान करता है—

धरणिधरणे भुअंगेण महणम्मि सुरासुरा रसम्मि समुद्दो
हरणम्मि वहमुहो पवि तुम्हे त्थ महुमहस्स सहाआ ॥

(आश्वास १—१)

(जिस प्रकार भगवान् विष्णु के पृथ्वी निर्मित करने पर भुजाएँ, समुद्रमन्थन के समय सुर और असुर और प्रलय के समय समुद्र सहायक होता है उसी प्रकार रावण-वध के इस कार्य में आप लोग (वानर) सहायक होइए।)

---

१ कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥ —हर्षचरित

२ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥

—काव्यादर्श

रावण-वध के अनन्तर सीता को प्राप्त कर राम अयोध्या म पधारते है—

अह्व न अणअतरणं कञ्चणलट्ठि व हुअवहम्मि विसुद्धम ।
पत्तो पुरिं पुहवई काउ भरहस्स सच्चअं अणुराअम् ।

(आश्वास १५—९४)

(इसके अनन्तर अग्नि मे विशुद्ध हुई कंचन यष्टि की तरह सीता को प्राप्त कर भरत के प्रेम का सफल करने क लिए राम अयोध्यापुरी पहुँचे।)

काव्य के अन्तिम छन्द मे कवि का कथन है कि सीता की प्राप्ति के का[illegible] जहाँ रामाभ्युदय का वर्णन है तथा जिसमें सेतु-बन्ध और रावण वध आदि सीता [illegible] प्रति राम के अनुराग चिह्न हैं जो सब व्यक्तियो को प्रिय है वह रावणव[illegible] (सेतुबन्ध) काव्य द्वारा समाप्त किया गया है—

एत्थ समप्पइ एअं सीआलम्भेण जणिअरामब्भुअअं ।
रावणवहं त्ति कव्वं अणुराअङ्कं समत्थजणाहिप्पेअम् ॥

(आश्वास १५—९५)

सम्पूर्ण काव्य की रचना वीर और करुण आदि रसों मे हुई है। इसमे आदि से अन्त तक 'स्कन्धक' छन्द का ग्रहण किया गया है। स्कन्धक आर्यावृत्त का ही एक भेद है[1] जिसमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध म चार मात्रा के आठ गण होते हैं।[2] आर्या वृत्त के कारण इस काव्य में गेय तत्त्व पूर्ण रूप मे विद्यमान है।

२ गौडवहो—वाक्पति द्वारा रचित एक महाकाव्य है। यह नवी शताब्दी की रचना है। इसमें १२०९ आर्या (गाथा) छन्द हैं। यह महाकाव्य आश्वास सर्ग का काण्ड आदि में विभाजित न होकर कुलक शैली मे रचित है। कुलक काव्य की वह शैली है जिसमें एक कुलक के सभी छन्द एक ही भावना मे पिरोए हुए होते हैं।

यह काव्य वस्तुत कन्नौज के राजा यशोवर्मा का प्रशस्ति-मात्र है। यशोवर्मा के द्वारा गौड-नरेश के वध की घटना पर ही इस काव्य का निर्माण हुआ है। अपनी इस विजय के लिए वह पूर्व की यात्रा करता है और समाप्त तक पहुँचने में मार्ग में जो भी राजा मिलते हैं। उनको वह अपने आधीन करता चलता है।

सम्पूर्ण काव्य में आर्या (गाथा) छन्द का ही प्रयोग किया गया है। विन्ध्य वासिनि देवि की स्तुति की कुछ गाथाएँ देखिए—

---

1 Monier Williams—A Sanskrit English Dictionary Page 1256

२ पढमतो अट्ठगणा पुव्वद्ध उत्तरद्ध होइ समरूआ ।
सा खन्धअ विआणह पिङ्गल पभणइ मुद्धि णहुणेमा ॥
('प्राकृतपैंगलम्' निर्णयसागर प्रेस पृष्ठ ५)

बन्दी रय महिस-सुर-कुल-कण्ठुम्मोडिय-हिय घण्टाए।
माहुवि घण्टा-दामेहिं मण्डियं तोरण-द्वारं ॥२८५।
भमरावलिओ सहरवि कुसुमं धूवाइएम्मि धामोए।
पसु-मेसुम्मोइय-बन्धु विमल-माला-मोच लहुंति ॥२८७॥
मणु तुम्ह समरण रणम्मि विहडन्ति वारण-घडाओ।
कुराव-णिवास वाहण-मइन्द-ल विय माडम्म ॥२८ ॥
तुह चण्डि चलण-कमलाणुवत्तिणो कह णु संकमिज्जन्ति।
वेरिहं-वह-संकुइय-महिस-हीरमाणत्त जमेण ॥२८९॥
तुहिण-गिरी देवि तुमाइ जणय भावेण गारव णीओ।
विझ णय ववलोविं कन्दर-णिवास-वसिय ऐं बहुमाणिं ॥२९ ॥

[हे विन्ध्यवासिनि देवि ! तुम्हारे द्वारा बन्दीकृत महिषासुर कुल के कण्ठ से तोड़ी हुई घण्टियों द्वारा बना हुआ यह तुम्हारा तोरण-द्वार है ॥२८५॥

हे देवि भैरवि ! कुसुम धूप आदि की गन्ध से सुशोभित तुम्हारे गुहागृह में भ्रमरावलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानो स्तुतिपाठ से जीवों की टूटी हुई संसार की बन्धन-मालाएँ हों ॥२८७॥

हे देवि ! तुम्हारे स्वच्छमार्ग में रणक्षेत्र से हाथियों के समूह विघटित होकर सामने समस्त हैं मानो वे तुम्हारे वाहन मृगेन्द्र के द्वारा भगाए जा रहे हों ॥२८८॥

हे देवि चण्डि ! तुम्हारे चरणकमलों के उपासक भक्त यम के द्वारा कैसे मारे जा सकते हैं क्योंकि महिषासुर के वध से उद्विग्न होकर यम का महिष डर जाता है और यम लज्जित हुए से उन भक्तों के पास नहीं जाते हैं ॥२८९॥

हे देवि ! अत्यधिक भाव के कारण हिमालय को तुमने गौरव दिया है। (हिमालय गौरी का पिता है) तथा विन्ध्याचल को भी उसकी कन्दरा में निवास करके उसे गौरवान्वित किया है ॥२९ ॥]

'सेतुबन्ध' और 'गउडवहो' दोनों प्रबन्ध काव्य हैं, इनकी वस्तु कथावृत्तों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त प्राकृत काव्य में 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग' दो प्रमुख मुक्तक काव्य हैं। ये दोनों संग्रह काव्य हैं। प्रथम का संग्रहकर्ता सातवाहन हाल है और द्वितीय का जयवल्लभ। इन दोनों में शृंगार, नीति आदि विविध प्रकार की गाथाएँ संगृहीत हैं। दोनों में गाथा (आर्या) छन्द का प्रयोग हुआ है। गाथा सप्तशती की गाथा बहुत देखिए—

१. गाथा सप्तशती—प्राकृत की यह रचना बड़ी प्रभावोत्पादक रही है। इसने अनन्तर के काव्य में सतसई (सप्तशती) परम्परा को प्रतिष्ठित किया है। यहाँ तक इसके अनुकरण में गोवर्धनाचार्य ने 'आर्यासप्तशती' और अमरुक ने 'अमरुक शतक' जैसी-जैसी रचनाएँ संस्कृत में प्रस्तुत की हैं।

प्राकृत में स्वभावतः माधुर्य समाहित रहता है किन्तु उसके साथ शृंगार रस

के समागम हो जाने के कारण गाथासप्तशती की गाथाएँ अत्यधिक मधुर हो उठी हैं। शृंगार की संयोग और वियोग की मधुर भावनाएँ पग पग पर उपलब्ध होती हैं।

मानवती नायिका को मनाते हुए नायक की निम्न भावना देखिए—

सुअणु पसिअ एण्हि पुणो वि सुलहाइँ रूसिअव्वाइं ।
एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई ॥[1] (१ ६६)

प्रिय के दर्शनमात्र से ही उसके बिना किसी अनुनय विनय के ही नायिका ने मान छोड़ दिया है। उसकी इस स्थिति को देखकर उसकी सखी मान के सुखों को समझाती हुई कहती है—

पायपडणेण मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणम ।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणं बहुआणम ॥[2] (१ ६२)

हल जोतते हुए किसान ने ज्योंही भोजन लाते हुए अपनी सुन्दरी प्रियतमा को देखा वह प्रेम-विह्वल हो गया और बैलों के जोत खोलने के स्थान पर नाथ ही खोल बैठा—

एक्कम्मिएण हलिअणारेण रक्खूण पाअहारीओ ।
मोत्तव्वो ओत्तअणप्पहुम्मि अवहारिणी मुक्का ॥[3] (७-९२)

विरह-कवलिता नायिका उपपति की वाणी को सुनकर भेंट के प्रलोभन से बाहर चली तो आई किन्तु उसका लौट सकना सम्भव न हो सका। अन्ततः दूसरों के द्वारा वह ले जाई जा सकी। इस आशय के कथन में दूती उसे उत्साहित करती है—

तुह दंसणे सअण्हा सोऊण सिणिझवा वाई ।
तह बोलीणे गाई पआई बोहुरिआ बाला ॥[4] (९ ५)

---

१ प्रिये सुतनु ! प्रसन्न हो जाओ। रोष के अवसर फिर आवेंगे किन्तु चन्द्र ज्योत्स्ना से रमणीक और सुन्दर लगने वाली यह रात्रि समाप्त हो रही है। अतः इस समय मान छोड़ दो। संयोग सुख प्राप्त करो मान फिर कर लेना। १ ६६

२ मुग्धे ! तू तो प्रिय के दर्शनमात्र से ही सन्तुष्ट हो गई। अब पैरों पर गिरने बलपूर्वक चुम्बन करने आदि अनेक प्रकार के सुखों से तू वंचित रह गई। १ ६२

३ हल चलाने में मनम्मस्त किसान ने भात (भोजन) लाने वाली सुन्दरी को देखकर प्रेमातिशय के कारण बलों के जोता खोलने के स्थान पर नाथ खोल दी। ७-९२

४ तुम्हें देखने के लिए सतृष्ण नायिका तुम्हारा शब्द सुनकर जितने पग बाहर आई तुम्हारे चले जाने पर वह उतने ही पग दूसरों के द्वारा ले जाई गई। ९ ५

विरहिणियाँ स्वप्न में प्रिय दर्शन के द्वारा अपने को धन्य करती हैं किन्तु निम्न कथन करने वाली यह नायिका विशेष अनुरागवती है जो प्रिय के बिना निद्रारहित रहती है।

> धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति।
> णिद्द च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्॥[1] (४-१२)

नायक के आगमन की प्रतीक्षा में नायिका ने प्रथम अर्धरात्रि तो सुख-पूर्वक क्षीण ही बिता दी किन्तु उसके न पधारने पर उसका शेष अर्धरात्रि काट सकना दूभर हो गया इस तथ्य को कोई दूती नायक से कहती है—

> एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धम्।
> सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणम्॥[2] (४-८१)

उपर्युक्त के समान गाथासप्तशती में शृंगार की उत्कृष्ट कोटि की गाथाएँ संगृहीत हैं। इन सभी में गाथा (आर्या) छन्द का प्रयोग किया है। फलतः उनके माध्यम से इस काव्य में गेय तत्त्व पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष रह सके हैं।

प्राकृत काव्य में गेय तत्त्व

प्राकृत काव्य संस्कृत की अपेक्षा जन जीवन के अधिक समीप था। नाटकों में उसके ग्रहण किए जाने से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण से प्राकृत क्षेत्र अधिक व्यापक हो रहा था और उसमें 'रावणवहो' 'गौडवहो' 'गाथासप्तशती' 'वज्जालग्ग' आदि स्वतन्त्र साहित्यिक रचनाएँ भी प्रस्तुत हो उठी थी। इस संबंध में प्राकृत पालि की अपेक्षा भी अधिक भाग्यवान् है क्योंकि बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त उसमें प्राकृत-काव्य के समान किसी स्वतन्त्र रचना का सृजन नहीं हुआ है। कहने का आशय यह है कि प्राकृत आधुनिक लोक-भाषाओं के अधिक समीप पहुँच रही थी।

मधुर और सर्वसुलभ होने के अतिरिक्त आर्या का नवीन संस्करण गाथा भी प्राकृत में प्रस्फुटित हो उठी है इससे गीतात्मकता के प्रचार और प्रसार में अधिक सुविधाएँ हुई हैं। संस्कृत नाटकों में भी गीतात्मकता के सम्मोहन के कारण कितनी ही आर्या (गाथा) का सन्निवेश हो उठा है इसका उल्लेख किया ही जा चुका है। तदनन्तर प्राकृत में विवेचित रचनाओं को प्राप्त कर जन मन में गीतात्मकता की तृप्ति हो उठना अवश्य स्वाभाविक है।

---

1 वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो स्वप्न में ही प्रिय को देख लेती हैं किन्तु मुझे तो नायक (प्रिय) के बिना नींद ही नहीं आती, फिर स्वप्न कौन देखे? ४ ९०.

2 तुम आओगे इस आशा में जगने (नायिका ने) रात्रि के प्रथम अर्धभाग को पल भर की तरह बिता दिया और न आने पर सन्ताप से दुःखी होकर शेष अर्धरात्रि को वर्ष की तरह बिताया। ४ ८१

प्राकृत में 'रावणवहो' और 'गौडवहो' दोनों महाकाव्य हैं, इतिवृत्त पर आधारित होने के कारण आत्माभिव्यंजन का वैसा सफल स्वरूप इनमें अवश्य नहीं है जैसा गेय काव्य के लिए अपेक्षित है किन्तु छन्द में समाहित इतिवृत्तात्मक गेयता तो यहां है ही इसे भला कौन अस्वीकार कर सकता है ? इन काव्यों ने अपभ्रंश में चरित काव्य रचने की अभिप्रेरणा दी और भक्तिकाल के चरित-काव्य तथा कृष्ण और रामपरक गेय काव्य भी अभिप्रेरित किए हैं। इन इतिवृत्तात्मक काव्यों के अतिरिक्त 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग मुक्तक' रचनाओं में आत्माभिव्यंजन और वैयक्तिक तथ्यों पर आधारित संक्षिप्तता भरपूर है। इस सम्बन्ध में 'गाथासप्तशती' अधिक सम्पन्न और लोकप्रिय है।

पालि-साहित्य में गेय-तत्त्व 'थेर गाथा' और 'थेरी गाथा' में ही थे यह हम देख चुके हैं किन्तु प्राकृत साहित्य में यह प्रवृत्ति अधिक सबल हो उठी है 'गाथा सप्तशती' में तो उसका पूर्ण उत्कर्ष ही विद्यमान है।[1] यह सत्य है कि पाली और प्राकृत काव्यों की गीतात्मकता 'पद' रूप का पूर्ण स्वरूप तो अवश्य प्रस्तुत नहीं करती है किन्तु उनसे वे तत्त्व और अभिप्रेरणाएँ अवश्य सप्राण और जीवन्त हो उठी हैं जिनसे अपभ्रंश काल में सिद्ध सन्तों ने राग रागनियों को अपनी भावनाओं के प्रस्फुरण का आधार बनाया और इस सम्बन्ध में पालि की अपेक्षा प्राकृत-काव्य अधिक सम्पन्न होकर और अपभ्रंश के समीप है।

इ—अपभ्रंश रूप—गीति-काव्य

अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में वर्णन प्रस्तुत किया जा चुका है। उसमें बौद्ध सम्प्रदाय के अन्यतम सहजयानी सिद्ध-सन्तों और जैनाचार्यों का साहित्य उपलब्ध है, जिसमें गीति-काव्य का अपना स्थान है। सिद्ध सन्तों के गीति काव्य ने धार्मिकतापरक साहित्यिक गीति लिखने की यदि प्रेरणा दी है तो जैनाचार्यों के राम फाग और चर्चरि काव्य ने लोक-गीतों को प्रोत्साहित किया है। वस्तुतः दोनों का गीति-काव्य अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है।

सिद्ध सन्तों का गीति-काव्य

जो बौद्धधर्म अपनी सरलता, पवित्रता और स्वाभाविकता के बल पर वैदिक

1 The Gatha saptashati is an anthology in Maharashtri Prakrit of above seven hundred erotic verses in the Arya metre and occupies an unique place. as a lyrical poem in the history of sanskrit poetry

—Gopinath kaviraj

गाथा-सप्तशती (निर्णयसागर प्रेस) १९३३

धर्म को पृष्ठ-भूमि में छोड़कर भारत तथा एशिया के पूर्वी और मध्य भाग का प्रमुख मानवतावादी धर्म बना था। उसमें तीन-चार सौ वर्ष के अनन्तर ही आडम्बर और कृत्रिमता के विकार प्रविष्ट हो उठे। धीरे धीरे उसके गौरव के तत्त्व विलीन हो गए जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म की प्रतियोगिता में उसका स्थिर रहना कठिन ही नहीं असम्भव हो गया। प्रथम ईसवी शताब्दी में महायान और हीनयान उसके दो पक्ष हो गए। हीनयान में यद्यपि अब तक बौद्धधर्म की चिन्तन तथा आचार्यत्व आदि की परम्पराएं विद्यमान थीं किन्तु महायान स्वयं प्रतिक्रियावादी होकर बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों से हीन हो गया। उसने व्यवहार-पक्ष को अपनाकर एक लौकिक स्वरूप धारण कर लिया। इसमें मन्त्र-तन्त्र-योग के प्रति अभिरुचि जागृत हुई। कालान्तर में महायान ही वज्रयान में परिवर्तित हो गया। महायान की इस वज्रयानी शाखा पर आचार्य शंकर के सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

महायान की इस नवीन शाखा के अन्तर्गत सिद्ध सन्तों ने धार्मिक सिद्धान्तों को अपनी कविता का विषय बनाया। इसमें उनकी मौलिकता समाहित थी। जो वज्रयान मद्य मैथुन आदि के स्वीकृत आचरणों के समाज में पतित और हीन हो उठा था उसमें फिर इन सिद्ध कवियों ने विशुद्ध आचरण और मानवीय धर्म का प्रतिपादन कर एक नवीन आदर्श का पोषण किया।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान ओ दूहा' के प्रकाशनोपरान्त ही अपभ्रंश-साहित्य के शोध और अध्ययन का कार्य प्रारम्भ हुआ है। अनन्तर डा० शहीदुल्ला के 'ला चाट्स मिस्टीकस द काण्ह एट सरह' डा० प्रबोधचन्द्र बागची के 'दोहा-कोश' और श्री राहुल सांकृत्यायन के हिन्दी-काव्यधारा के प्रकाशनों से इस ओर का अध्ययन अग्रसर और प्रशस्त हुआ है।

श्री राहुल जी ने इन सिद्ध सन्तों की संख्या में ८४ माना है। ये सिद्ध सभी वर्गों के थे। इनमें निम्न सिद्धों ने प्रमुखतः काव्य द्वारा अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—

सरहपा (सं० ८१७) शबरपा (सं० ८१०) भुसुकुपा (सं० ८२७)
लुइपा (सं० ८८७) विरूपा (सं० ८८७) डोम्बिपा (सं० ८९७)
दारिकपा (सं० ८९७) गुंडरीपा (सं० ८९७) कुकुरिपा (सं० ८९७)
कमरिपा (सं० ८९७) कण्हपा (सं० ९००) गोरक्षपा (सं० ९०२)
तिलोपा (सं० ११००) शान्तिपा (सं० १०९७) आदि[1]

इन सिद्ध सन्तों का कार्य-क्षेत्र बिहार, उड़ीसा, बंगाल और हिमालय के नीचे तराई में कामरूप से हिन्दुस्तान तक फैला था। इन कतिपय प्रान्तों में फैले होने के कारण उनकी कविता की भाषा में वहाँ के तत्त्वों का सम्मिश्रण बन जाना स्वाभा-

1 डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ४४

विक था। इस प्रान्त भेद के कारण विद्वानों ने उनकी भाषा प्रमुखतः बंगला और उड़िया बताई है। श्री राहुल जी ने उसे मगही कहा है। मगही देश के पूर्वी भाग में व्यापक होने के कारण ये सब भाषाएँ मागधी अपभ्रंश के भीतर समा जाती हैं। श्री राहुल का कथन ही विशेष सबल है।

लोक-जीवन में घुले मिले होने के कारण इन सिद्धों ने अपने चर्यागीतों और दोहों में जन-वाणी का ही प्रयोग किया था। इस प्रयुक्त नवीन और सरस शैली में इन्होंने अपने सहजयान सम्प्रदाय के तात्त्विक सिद्धान्तों को भरकर जन-जीवन को पुनः अपने मानवीय धर्म की ओर अभिप्रेरित किया। जन-वर्ग उनकी वाणियों से आश्वस्त हुआ। बौद्धधर्म के इस परिवर्तित स्वरूप में उनकी श्रद्धा पुनः जाग्रत हो उठी। ये सिद्धान्त ही किसी-न-किसी रूप में 'नाथ सम्प्रदाय' और अनन्तर कबीर के 'सन्त मत' में ग्रहण कर लिए गए थे। इन सबका विवेचन प्रबन्ध में यथास्थान किया गया है। अतः उनके सिद्धान्त और उनकी व्यापकता यहाँ दृष्टव्य हैं। अब इस स्थल पर यह देखना ही उचित है कि इन सिद्धों ने पद-शैली को कहाँ तक अपनाया है।

सांसारिक सुख स्वप्नतः निरर्थक हैं किन्तु मानव यह नहीं समझता कि वह स्वयं अपने लिए बन्धन निर्मित कर रहा है। सिद्ध जन्म-मरण के भय से मुक्त है। उसके लिए ये लौकिक सुख-दुःख अचिन्त्य हैं। वस्तुतः प्राणी का यही निर्वाण है।

राग-गुंजरी

अपणे रचि रचि भव निर्वाणा। मिछे लोअ बँधावइ अपणा।
अम्हेंण जाणहु अचिन्त जोई। जाम मरण भव कइसण होई।।
जइसो जाम मरण वी तइसो। जीवंते मइलें णाहि विसेसो।
जा एथु जामा मरणें बिसंका। सो करउ रस रसाणे रे कंखा।।
जो सचराचर तिअस भमन्ति। ते अजरामर किम्पि न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम। सरहु भणइ अचिन्त सो धाम।।[1]

सरह का एक गीत और विचारणीय है जिसमें कल्याण के लिए वह सबसे सहज मार्ग का समर्थन करता है। आत्मज्ञान के लिए अपने मन का विश्राम करो और सीधे-सरल मार्गों को ही प्रमुखता दो। प्रपंच में पड़ना अनुचित है। सरह का कथन है कि सरल (सहजयानी) मार्ग पर चलने से विषम परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं।

राग-देशाख

नाद न बिन्दु न रवि-शशि-मंडल चीअ राअ-सहावे मूकल।

---

१ राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी काव्यधारा-सरहपा पृष्ठ १६

उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु वंक निअड़ि बोहि मा जाहु रे लंक ॥
हाथेर कंकण मा लेहु दप्पण अपणे आपा बुझतु निअ-मण ।
पार-उआरें सोई गजिई दुज्जणि संगे अवसरि जाई ।
वाम-दाहिण जो खाल विखला सरह भणइ बप ! उजु वाट भइला ।

—(हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ १८)

मनुष्य माया-मोह से मुक्त विषय भ्रान्तियों में पड़कर ईश्वर को भूल जाता है। यह अवस्था अपूर्ण है। इससे स्व संवेदन से ही उसके रूप को खोजा जा सकता है। शान्तिपा निम्न गीत में रहस्यवाद के विवरण प्रस्तुत करते हुए सहजयानी मार्ग का समर्थन करते हैं—

राग रामकी

सअ-संवेअण-सरुअ विआरे अलक्ख लक्ख ण जाइ ।
जे जे उजुबाटे गेला अनावाटा भइला सोइ ॥
कुलें कुल मा होइ रे मूढ़ा उजुबाट संसारा ।
(बालभिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कन्धारा ।)
माया मोह समुदा रे अन्त न बुझसि थाहा ।
आगे नाव न भेला दीसइ भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥
सुनापान्तर उह न दीसइ भान्ति न वाससि जान्ते ।
एषा अटमहासिद्धि सिज्झए उजुबाट जायन्ते ।
वाम दाहिण दो वाटा छाड़ी शान्ति बोलथेउ संकेलउ ।
घाट ण गुमा खडतड़ि णउ होइ आँखि बुझिअ वाट जाइउ ।

—(वही पृष्ठ ११८ २४)

माया जीव की अहितकारिणी है। वस्तुतः यह जीवन के अमृत-तत्त्व का पान कर जाती है। केवल सद्गुरु का उपदेश और बोध ही जीवन का कल्याण कर सकता है। सिद्ध भुसुकुपा ने माया का मूसा के साथ रूपक बाँधा है—

राग वराड़ी

निसि अंधारी मूसा करअ सचारा । अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा ।
मार रे जोइया ! मूसा पवना । जेण तुटअ अवणा-गवणा ॥
भव विदारअ मूसा खणअ गाती । चंचल मूसा कलिआँ णाशक थाती ॥
काला मूसा उह ण वाण । गअणे उठि चरअ अमिअ पाण ॥
तावे मूसा चंचल पंचल । सद्गुरु बोहे करहु सो निच्चल ॥
जबे मूसा अचार तुटअ । भुसुकु भणइ तबे बान्धन फिटअ ॥

(वही—भुसुकुपा पृष्ठ १११)

मन की भ्रान्तियाँ रज्जु-सर्प के समान सांसारिक व्यक्तियों को खाए जा रही है। इस भ्रांति विनाश के लिए गुरु के अनुभवों का लाभ उठाना ही श्रेयस्कर है—

राग कण्हु गुंजारी

आइएँ अनुअनाएँ जग रे भान्तिएँ सो पडिहाइ।
राजु-सप्प देखि जो चमकिअ साँचे किम बोड़ो खाइ॥
अकट जोइ आरे मा कर हाथ लोहा। आइस सहावें जइ जग बुझसि
तुट्टइ वासना तोरा॥
मरु-मरीचि गंधव-णअरी दापण-पडिबिम्बु जइसा।
वातावत्तें सो दिढ भइआ। अपे पाथर जइसा॥
बाँझि-सुआ जिम केलि करई खेलइ बहुविह खेला।
बालुअ तेले ससर-सिंग आकाश फुलिला॥
राउतु भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअला अइस सहावा।
जइ तो मूढ़ा अच्छसि भान्ती पुच्छहु सदगुरु पावा॥

(हिन्दी काव्यधारा—भुसुकुपा पृष्ठ १३४)

पंच डाल (पंच तत्त्व) से निर्मित काया के वृक्ष में काल चंचल चित्त से स्थित है। फिर मानव को सुख कहाँ? इससे गुरु से पूछकर महासुख की व्यवस्था करना ही उचित है। कपट की भावनाओं का परित्याग कर समाधि का आश्रय लेना ही उचित है—

राग पटमंजरी

काआ तरुवर पंच विडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल॥
दिढ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥
सअल-समाहिअ काहि करिअइ। सुख-दुख तें निचित मरिअइ॥
एडिएउ छान्दक बान्धकरणकपटेर। आस सुन्न-पक्ख भिति लेहु रे पास॥
भणइ लुई आम्हे झाणें दिठा। धमण-चमण बेणि उपरि बइट्ठा॥

(वही—लुइपा पृष्ठ १३८)

भारत से सिद्ध परम्परा और बौद्धधर्म की समाप्ति पर सिद्ध साधना को चिरजीव रखने के लिए अन्त-कवि के रूप में विनय श्री का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। वह अपने गुरु संघराज शाक्यश्रीभद्र के साथ सं० १२ ३ में तिब्बत गए थे। वहाँ पदावली में उनकी कुछ रचनाएं मिली हैं। उनका पद देखिए—

सिमुल तरुवर डाल न पाती।

---

१ राहुल सांकृत्यायन—सिद्ध सरहपाद का 'दोहा कोश'

निमर फुल्लिअम पेहु विमातो । अ॰ ॥१॥
मवह विनयघी नोली तरुवर । फुल्लए करुणा फलई फलतर ।
कस्णामोर्वे सएलवि तोसए । फल सपत्तिएँ से भव नासए ॥२॥
से चिन्तामणि जे अइस आसए । से फल मेलए नहि ए तीत ए ।
वर गुरु मतिएँ चित्त पचोही । तहि फल लेहु मरणु तरवोही ॥३॥
गोम्मिमहुँ पिरिसिहर रि आसों । तहि ममाविनिन कनिके धन्ते ॥
हुमनि करमि सहीएँ एकेसि । चितरे राउ मेल्लाइ लिनु पेल्सी ।
तहि मंपइ दुठोलिन हैरम मेले । चितम विसमूमिम मा छाडिम हेले
मवह विनयघी वरगुरु वपले । नाह मेल्लपरे गमस ॥४॥[1]

विमय श्री ने सहजिया तरव के वृक्ष को निर्मूल तरुवर कहा है। जिसमे करुणा और निर्वाण के फल फलित होते है। इसी से भव-नाश होता है। जिसके चित मे गुरु-भक्ति है उसे भी निर्वाण का फल मिलता है आदि।

इन सिद्ध सन्तो ने इस प्रकार अपनी सम्प्रदायगत भावनाओ और सिद्धान्तो को गीतों के माध्यम से व्यक्त कर दिया था। धर्म के तात्विक सिद्धान्त केवल इस मनोरंजक गेय शैली से ही सुग्राह्य हो सकते है इसको उन्होने भली प्रकार समझा था।

इस महत्तम उद्देश्य को अपने समक्ष रखकर ही उन्होंने जन-जीवन म प्रविष्ट लोक-रञ्जन करने वाली 'ऐसी सङ्गीत पद्धति'[2] को स्वीकार करना उचित समझा। जन भाषा का प्रयोग गौतम बुद्ध के समय से मान्य था ही। इस प्रकार व्यावहारिक सङ्गीत-पद्धति को अपनाकर वे जन-साधारण के अधिक समीप पहुँच गए।

साम्प्रदायिक भावनाओ के व्यक्त करने मे राग-रागिनियों का व्यवहार सिद्ध सतों का नवीन प्रयोग ही कहा जायेगा। यह जन-जीवन मे अधिकाधिक प्रवेश प्राप्त करने की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ। हिन्दू-धर्म और संस्कृत-साहित्य वस्तुत इस ओर अग्रसर हुए ही नहीं। सच तो यह है कि जन-साधारण की प्रवृत्तियो को न अपनाने के कारण वे जन जीवन से दूर पड़ते गए और उनमे मध्य मे एक लम्बी और

---

१ राहुल सांकृत्यायन—सिद्ध सरहपाद का दोहा कोश परिशिष्ट—१ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना)

२ मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्ग स उच्यते ।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभि ॥
देवस्य पुरत शम्भोर्नियताभ्युदयप्रद ।
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ॥
गीत च वादन नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते ।
नृत्तं वाद्यानुग प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च ॥

(सङ्गीत रत्नाकर—१—२ २४)

गहरी छाप पड़ती गई।

सिद्ध सन्तों द्वारा राग रागनियों के प्रयोग से ही पद-परम्परा का स्थायी विकास हो गया। पालि और प्राकृत साहित्य में गीति-शैली का प्रस्फुटन न हो सका था। इसका स्पष्ट स्वरूप अपभ्रंश काव्य में ही धर्म और साहित्य के सामने आया। अनन्तर इसकी परम्परा ही चल पड़ी और यह काव्य में अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हो गई। हिन्दी साहित्य के प्रथम युग में यह शैली सम्मानित हुई और आज भी काव्य-शैली के अन्तर्गत इसका अपना प्रमुख भाग है।

जैनाचार्यों का गीत काव्य

चाचरि, रास और फागु आदि गीतात्मक रचना के कारण जैन-साहित्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये काव्य पश्चिमीय अपभ्रंश में लिखे गए हैं और गुजराती राजस्थानी और हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं के अधिक समीप हैं। इनको जैन श्रावकों ने केवल गाने के लिए ही लिखा था।

जो नाना चित्रों का निर्माण करता है, जो चित्त को शीघ्र ही हरण करता है, जिसके दर्शन के बिना पुण्य-प्राप्ति दुर्लभ है, जिससे चित्त स्थिर होता है—ऐसे गुरु के पद कमलों को जो प्रणाम करता है वही पुण्य का भागी है। उपर्युक्त आशय की जिनदत्तसूरि की निम्न चाचरि देखिए—

जिण रूव नाणा चित्तइँ चित्त हरंति लहु।
तसु दंसणु विणु पुन्निहि कउ लब्भइ दुलहु॥
चारइ बहु पड़-पुत्तउ, चित्तइँ जेम रम
ताम पयकमलु जि पणमहि ते जण कय-सुकय[1]॥

अंबदेव सूरि ने 'समरसिंह' की प्रशंसा में—'समर-रास' लिखा था। इसने जैन धर्म का पोषण किया था जिससे जिनानुरक्ति उसकी अभिवृद्धि हुई थी। स्फटिक-मणि के समान जिसके गुण अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश करते हैं, जिसने मरुभूमि में अमृतधारा को बहाया, जिसने कलयुग को परास्त कर सतयुग को पृथ्वी पर अवतरित किया, जो धामधाम रूपी कुल का चन्द्रमा है जिसके समान अभी तक कोई उदित नहीं हुआ है, जिसने कलियुग के समय को पढ़ कर चराचर को प्रभावित किया है—इन भावनाओं से युक्त समरसिंह की निम्न प्रशस्ति का अंबदेव सूरि ने गान किया है—

जिणि दिणि दिनु दरसाउ सयाणोहि जिम अम्मयणि।
तसु गुण करउ उद्योउ जिम अंधारइ फटिक मणि॥
मारहि अमियतणोय जिणि बहावी मरुमण्डलहि।

---

१ राहुल—हिन्दीकाव्यधारा पृष्ठ ४०

किज कुसुम प्रमनाह कलियुगि जोवइ बाहुबले ॥
मोलवास दुमि धमु प्रवरउ पुउ समान नहि ।
कलियुगि कालइ पासि छेदीयउ सबराबरहि ॥[1]

राजसेखर सूरि ने नेमिनाथ फाग' म राजमदेवि के शृंगार का बड़ी ही सहृ[illegible] मयापूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया है। राजमदेवि के शृंगार का कैसे वर्णन किया जाए, उसके अंग पर चन्दन का लेप है और जो चंपा के पुष्प के समान गौरवर्ण की है। जिसकी चूड़ा जबा पुष्प और कस्तूरी से सुशोभित है और जिसके बालों में सिन्दूर की रेखा मोतियों से भरी हुई है। नवरंगी कुंकुम का जिसके तिलक लगा है और जिसके भाल पर रत्न का तिलक है जिसके कान में मोती के कुण्डल हैं जो अपना प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं जिसके नेत्रों में कज्जल लगा है और मुख कमल म ताम्बूल है जिसके कण्ठ से नाप के उदर के समान कंठुला सुशोभित है। जिसके छाती के मुक्तावान् वस्त्र हैं और कंचुकी पर फूलों की माला पड़ी हुई है जिसके हाथों में कंकण और मणि घटित चना है जिसको वह खड़काती है जिसके कमर से रणझुण-रणझुण का शब्द होता था जिसके पगों में नूपुर बजते थे जिसके आकृति में श्वेत वर्ण से मिश्रित भासरम लगा हुआ है जिस क) नेत्र वाली राजमरति को उसका पति प्रेमपूर्वक देखता है—

किम किम राजलदेविसउ सिणगार भणेवउ ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ ।
खुंपु भराविउ जाइ कुसुमि कसतूरी सारी ।
सीमंतइ सिंदूर रेह मोतीसरि सारी ॥
नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तस भाले ।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले ॥
नरतिय कज्जलरेह नयणि मुहकमलि तंबोलो ।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो ।
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला ।
करे कंकण मणि वलय चूड खलकावइ बाला ॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणझुणई कडि घाघरियाली ।
रिमझिम रिमझिम रिमझिमए पयनेउर जुयली ॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि ।
अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि ॥

उपर्युक्त रचना पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब वे हमें अधिक प्रासादिक [illegible]र जन-जीवन के समीप प्रतीत होते हैं। उनमें वैसी गम्भीर और दुरूह शैली का [illegible]ग नहीं है जैसी जन साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। यह वस्तुतः उनके नय

१ राजस हिन्दी काव्य धारा पृष्ठ ४८६

योग के कारण ही सम्भव हुआ है। वास्तव में राम और कृष्ण मध्ययुग के ही प्रतीक हैं और वहीं से इनको जैनाचार्यों ने अपने काव्यों के लिए ग्रहण किया है। इसीसे शैव तत्त्वों का उनमें सरलता से समावेश हो गया है।

४ सिद्ध शिवों (नाथ) सम्प्रदाय और योग

नाथ सम्प्रदाय वज्रयानी शाखा के अन्तर्गत सिद्ध परम्परा का परिवर्तित स्वरूप है। सिद्धों के प्रतिष्ठित योग के सिद्धान्तों का यहाँ समावेश हुआ है किन्तु उसकी कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी थीं जो नाथ-सम्प्रदाय की मौलिकता प्रकट करती हैं। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरवादी शून्य भावना जो अभी तक सिद्धों में अवशिष्ट थी वह इस सम्प्रदाय में ईश्वरवादी शून्य भावना में परिवर्तित हो गई।

चौरासी सिद्धों की परम्परा में यद्यपि गोरखनाथ (गोरक्षपा) की गणना भी की जाती है किन्तु अपनी नवीन और मौलिक विचारधारा के कारण उन्होंने अपना सम्प्रदाय ही अलग कर लिया। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने 'योगिनी कौल मार्ग' को जन्म दिया था वही कालान्तर में नाथ-सम्प्रदाय में बदल गया।[1]

नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार प्रथम नाथ 'आदिनाथ' हैं। इस सम्प्रदाय में 'शिव' ही इष्ट रहता है। सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए भले ही इस प्रकार का संबंध शिव से जोड़ा जावे किन्तु मूलतः गोरखनाथ ने ही उसको नवीन रूप प्रदान की। गोरखनाथ ने 'नाथ पन्थियों' को संगठित कर उन्हें १२ शाखाओं में बाँट दिया था— सत्यनाथी धर्मनाथी रामपथ नटेश्वरी कन्हड़ कपिलानी वैराग माननाथी आई पन्थ पागलपन्थ ध्वजपन्थ और गंगानाथी आदि।[2]

नाथ-सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त हठयोग है जो पतंजलि के योगशास्त्र पर आधारित है। हठयोग में प्राणवायु को अनुशासित करके कुण्डलिनी-जाग्रत करने की आवश्यकता होती है। यह कुण्डलिनी शरीर के षट्चक्रों को पार करती हुई सहस्रार में जा पहुँचती है तभी शिव से साक्षात्कार होता है। हठयोग में यही आनन्द की स्थिति है।[3]

इस सम्प्रदाय में सभी प्रकार के संयमों और ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा धर्म कर्म के बाह्याचारों और पाखण्डों के प्रति उपेक्षा है। नाथ-सम्प्रदाय में 'गुरु' को भी प्रतिष्ठा मिली है।

आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ गाहिणीनाथ चर्पटनाथ चौरंगीनाथ ज्वालेन्द्रनाथ भर्तृहरि और गोपीचन्द्रनाथ आदि की गणना ही इस सम्प्रदाय में की

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय पृष्ठ २
२ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय पृष्ठ १०
३ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय पृष्ठ १२६

जाती है। इसमें केवल गोरखनाथ का साहित्य ही उपलब्ध है।

नाथ-सम्प्रदाय में सिद्धों की परम्पराओं के साथ गीत और दोहा-शैली को भी स्वीकृत किया था। इसी में गोरखनाथ की दोनों शैलियों की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

राग रामग्री

चारि पहर आलिंगन निद्रा संसार जाइ विषिया बाही।
उभै बांह गोरखनाथ पुकारै, मूल न हारौ भाई ॥ टेक ॥
अमावस पड़िवा मन घर सूरा सूर्य ले मंजनकारे।
अबला पूनिंदा सहज बर विचारै, सबमी दोष मिवारे ॥१॥
पहुवा आनन्दा बीजनि बसा पांची सेवा पाली।
सातमि औदसि अर एकादसी अंजि न माडे बासी ॥२॥
संगौ सोवे सोइबा मर्द जागिबा तुर्सन सेवा पहरा।
तीनि पहर पर सोइ रूप जाइबा तिहाँ उ काल बाहुरा ॥३।
चोलो सबे सोइबा अबधा मोपधा संसे न पीबको पाची।
इसको अजराबर होइ मछिंद्र बोल्यो गोरष बानी ॥४॥[1]

विषयों म बहते हुए समाज को गोरखनाथ यह चेतावनी दे रहे हैं कि अपने मूल (शुक्र) को मत मारो। अमावस और पड़िवा के अमावस्याय के स्थान पर योगी का शून्य में ही मन और शरीर लगाना अमावस और पड़िवा मनाना है। प्रतिपदा के अमावस्याय के स्थान पर ब्रह्मानन्द में लीन होना ही उसकी प्रतिपदा है। निद्रा की वेला में भी जाग्रत रहो और ब्राह्म मुहूर्त में जागो। स्त्री से दूर रहना उचित है।

कायां कूपी अवधूराइ विषय न बीठे कोई।
वाकौ रूप सूभी रे अमराराम सोई ॥ टेक ॥
आपण ही मध्य घट आपण ही जाल
आपण ही धीवर आपण ही काल ॥१॥
आपण ही रवंच काम आपण ही घाइ
आपण ही नारीला आपण ही वाद ॥२॥
आपण ही हारी पड़िका आपण ही बंध
आपण ही नूपण आपण ही रूप ॥३॥
गुराके को सीरब न बूझिब कौ [illegible]
भजन गोरषनाथ पावन अमेव ॥४॥[2]

---

१ डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोरखबानी पृष्ठ ८७-८६

२ डा० बड़थ्वाल गोरखबानी पृष्ठ १३७ १३६

इन पंक्तियों में गोरखनाथ ने आत्मा की महत्ता का [illegible]
जीव को बन्धन से छुड़ाती है। जीव तत्व जो प्राण [illegible] है वह [illegible]
को उसी की उपासना करनी चाहिए। [illegible]
भेद और रहस्य किसी को भी ज्ञात नहीं है।

> वनि रे पवित्रा कोयल मीरो [illegible]
> [illegible] लिख में घर [illegible]
> छाड [illegible] [illegible]
> [illegible] [illegible]
> [illegible] [illegible] । गोरख के [illegible] ।[1]

गोरखनाथ की यह उलटबाँसी है। माया (माया) [illegible]
(मनोवृत्ति) उसके पास भ्रमण के लिए आती है किन्तु [illegible]
मुख वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाता है और [illegible]
इसी प्रकार मानव की प्रतीति (सिंह) उसकी प्रकृति [illegible]
में आध्यात्मिक सिद्धि पर परिस्थिति में परिवर्तन हो [illegible]
भूति विहीन मानव (मृतक पशु) को यमराज (सांड) [illegible]
कार नष्ट करके मानव जीवन मुक्त होकर स्वयं यमराज [illegible]
सिंगी के ऊपर चढ़ने का संकेत किया गया है। यद्यपि [illegible]
को दीप्त किया किन्तु इसमें उसके सिर पर [illegible]
परब्रह्म होकर संसार का भ्रमण करना ही उसका [illegible] है।

इन्हीं पदों के समान गोरखनाथ के अन्य पदों [illegible]
[illegible] नहीं हुई है। सिद्धों की पद-परम्परा की [illegible]
नवीन दिशा प्रदान की है। उन भावों के द्वारा [illegible]
के मध्य तक पहुँचाने में सफल हुए थे। इसका [illegible]
धारा में प्रस्फुटित हो उठा है। इन परिस्थितियों में [illegible]
जो कुछ था वह भारतीय योग का ही प्रतिपादन था। [illegible]
कर आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्होंने पवित्र सिद्धान्तों [illegible]
कबीर के समय में भारतीय वातावरण में मुसलमानों [illegible]
परिस्थिति घटित हो गई थी। कबीर ने नाथ-सम्प्रदाय [illegible]
भावों को अपना लिया। मुसलमानों में [illegible]
विचारों को व्यापक बनाने में उन्हें कोई [illegible]
साथ उनकी दोहा और पद शैली का भी [illegible]

1. डा॰ बड़थ्वाल—गोरखबानी पृष्ठ 135

५. दक्षिण के आलवार भक्तों का गेय काव्य

गेयकाव्य के उपर्युक्त जिन स्रोतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है वे साहित्य की क्रमागत परम्परा के मध्य से उद्भूत होते रहे हैं। इनसे हिन्दी के पद-साहित्य अथवा गीतकाव्य को जीवन और बल मिलता रहा है। यह भी यत्र-तत्र संकेत किया गया है। इस प्रकार का सीधा प्रभाव तो आलवार भक्तों के गेय काव्य का हिन्दी गीत काव्य पर अवश्य नहीं पड़ा किन्तु उसके दूरागत प्रभाव से हिन्दी क्या कोई अन्य प्रान्तीय भाषा का साहित्य भी नहीं बचा है यह सत्य है। अतः इस महत्त्वपूर्ण स्रोत पर विचार करना भी आवश्यक है।

दक्षिण के भक्ति-आन्दोलन के सूत्रपात करने का श्रेय आलवार सन्तों को है। पोयगै आलवार, भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुमडिशै आलवार, नम्मालवार, मधुरकवि, पेरि आलवार, आण्डाल, तोण्डरडिप्पोडि, तिरुप्पन, तिरुमंगैआलवार—ये बारह आलवार सन्त थे जिन्होंने तमिलनाडु और आसपास के क्षेत्र को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया था। ये जन जीवन के मध्य में जाकर भगवान की लीलाओं और उनकी भक्ति की मधुरिमा का सरस वर्णन पदों में किया करते थे। फलतः जन-जीवन में भगवान् विष्णु के प्रति आस्था बढ़ी और भक्ति भावना का व्यापक प्रसार हो गया। इस स्थिति का लाभ शङ्कराचार्य के मायावाद के विरुद्ध उठे हुए निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत) रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत) माध्वाचार्य (द्वैत) विष्णुस्वामी—वल्लभाचार्य (रुद्र सम्प्रदाय—पुष्टि सम्प्रदाय) आदि आचार्यों ने उठाया। इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तानुसार ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, भगवद्गीता आदि की भक्ति परक व्याख्याएँ कीं और शङ्कर के मायावाद का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की। अनन्तर आचार्यों के ये सम्प्रदाय सम्पूर्ण भारत में फैल गए।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि बिना किसी साम्प्रदायिक भावना के आलवारों ने भक्ति रस से सिक्त अपनी जिस वाणी का प्रस्फुटन किया था उसकी परिणति आचार्यों के विभिन्न सम्प्रदायों में हुई। कालान्तर में जब ये सम्प्रदाय स्वीकृत हुए तब वैष्णव भक्तों ने आचार्यों के सिद्धान्तों का ग्रहण किया किन्तु भक्ति का मधुर आदर्श तो आलवारों के पदों में ही समाहित था। फलतः प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भक्त कवियों ने आलवारों की पद-शैली पर पद लिख गीत रचे और भक्ति रस में निमग्न होकर उनका गान किया। इस प्रकार हम अपनी पद-शैली के सम्बन्ध में आलवारों के गेय काव्य के भी ऋणी हैं यह सत्य है।

६. बंगाल के बाउल सन्त और उनका गान काव्य

बाउल मस्त मगन भाव से प्रभु में निमग्न रहने वाले स्वच्छन्द प्रेमी हैं। उनके समक्ष लौकिक मर्यादा और विधि-विधान का कोई मूल्य नहीं। उनमें मस्ती है, और

अपना सच्चा मनोराज्य है जिसमें वे स्वच्छन्दता से विहार करते हैं। वे भ्रमणशील हैं और जन-जीवन के मध्य में पहुँचकर अपने प्रिय के गान गा उठते हैं।

उसका गेय काव्य मौखिक परम्परा में ही रहा है उसका कुछ अंश अब लिखित रूप में आ सका है। बाउलों की परम्परा का पता १५वीं शताब्दी से मिलता है। अनन्तर इनका प्रचार बंगाल के सभी भागों में हो गया।[1] इनका केन्द्र नदिया रहा है, इससे विश्वास है कि उनकी पूर्व-परम्परा का महाप्रभु चैतन्य पर प्रभाव पड़ा हो। चैतन्य की भक्ति भावना से अनुप्रेरित हो 'गौड़ीय सम्प्रदाय' की परम्परा ही हिन्दी भक्ति-काव्य में उपलब्ध है। इससे बाउलों की गीत। परम्परा का हिन्दी पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है।

निष्कर्ष

हिन्दी पद-साहित्य के सम्भावित सभी स्रोतों पर यहाँ विचार कर लिया गया है। वस्तुतः इनके प्रभाव और अभिप्रेरणा से जीवन प्राप्त कर हिन्दी की पद-शैली का काव्य प्रभूत मात्रा में रचा गया और उसकी अविच्छिन्न परम्परा गतिशील रही। इस परम्परा और तुलसी के पद-साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रबन्ध के अगले पृष्ठों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।



१ श्री परशुराम चतुर्वेदी—मध्यकालीन प्रेम साधना पृष्ठ ४०

२

लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में गीत

विषय प्रवेश—गीत की प्रगति का इतिहास उतना साहित्य और नाट्य में मिल सकता है किन्तु उसका बीज और अंकुर वहाँ नहीं खोजा जा सकता। वह लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में अपने आदि स्वरूप को अन्तर्निहित किए है जिसकी अविच्छिन्न परम्परा हम प्रागैतिहासिक काल तक ले जाती है जब हम अस्त-व्यस्त जीवन के साथ सभ्यता के आदि पथ पर अग्रसर हो रहे थे। इस काल की प्रकृति और सामाजिकता के विभिन्न तत्त्वों के मध्य में ही गीत ने भी अपना अस्तित्व और विकास प्राप्त किया है।

सभ्य होने से पूर्व प्रागैतिहासिक काल में मानव के समक्ष दिन रात सन्ध्या सूर्य नक्षत्र ग्रीष्म वर्षा शीत आदि के सम्बन्ध में कितनी ही जिज्ञासाएँ जाग्रत हुई होंगी चाहने पर भी अभीष्ट के न होने की स्थिति में उस मानवेतर शक्ति की ओर इंगित किया होगा समाज जीवन में उस समय जो सहायक रहा होगा उसने उसे अपने स्मरण का विषय बनाया होगा जिसके आधार पर उसने अपने जीवन में घात-प्रतिघात हर्ष-विषाद को सहकर उसे कितनी ही अनुभूतियाँ हुई होंगी जिनको उसने अपने वार्तालाप के मध्य में प्रभाव का साधन बनाया होगा प्रकृति में समाहित मर्म तारतम्यता को पहचानकर उसने भी सामाजिक समारोहों और ऋतूत्सवों के अवसरों पर अपने आनन्द के लिए लय प्रक्रिया का निर्माण किया होगा—सभ्यता के आदि काल में प्रत्येक समाज इसी प्रकार प्रगतिशील होता है। इन प्रवृत्तियों में ही उसकी धार्मिक गाथाएँ लोक-वार्ताएँ लोकोक्तियाँ लोक-गान आदि समाहित रहते हैं जिनका क्रमिक रूप से विकास होता रहता है। ये सब मानव के मनोरंजन और अनगढ़ मानस की उपज हैं इसी को लोक-साहित्य की संज्ञा प्राप्त होती है।

किसी समाज के सभ्य और सम्पन्न हो जाने पर उसके शिष्ट-साहित्य का शिष्ट और पुष्ट हो जाना स्वाभाविक है किन्तु उसका अपरिष्कृत अनगढ़ और अपरिष्कृत आदि रूप भी प्रमुख बना रहता है जिसमें उस देश की संस्कृति आचरण और भावनाओं का इतिहास समाया रहता है। कालान्तर में पुष्ट साहित्य शिष्ट समाज का सम्मान प्राप्त कर लेता है और उसमें उसी की चर्चा हो उठती है किन्तु उसका परम्परागत आदि स्वरूप भी लोक जीवन की प्रतिष्ठा से युक्त सप्राण रहता

है। इस प्रकार प्रथम कोटि में वेद का शिष्ट साहित्य और द्वितीय में लोक-साहित्य आता है।

आज के शिष्ट नाट्य की परिणति भी मूलतः लोक-नाट्य पर आधारित है। सभ्यता के आदि में विरोधियों पर विजय प्राप्त होने, अभीष्ट के घटित होने, फसल के पकने, ऋतु-परिवर्तन आदि के समय मानव के अन्तर में भावावेग से अंग-संचालन होता रहा होगा। अनन्तर उसने उसके सम्बन्ध में एक स्थायी प्रणाली बना ली होगी। जिसके लिए उसके प्रकृति-पदार्थों के निरखने और नर्तन से भी अभिप्रेरणाएँ ली होंगी। इस प्रकार नाट्य का आदि स्वरूप प्रस्तुत हो गया होगा। कालान्तर में नर्तन और गायन हर्षोल्लास के सूचक रहने के कारण मानव को उसके एकीकरण में विलम्ब न लगा होगा। धीरे-धीरे अपने हितैषी महापुरुषों, देवताओं आदि के चरित्रों को जब उसने कथन और उल्लेख का विषय बनाया होगा तभी लोक-नाट्य में संवाद भी समाविष्ट हो उठे होंगे। उसके इस क्रमिक विकास में मानव की आदि सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्त्वों को वह कहीं भी नहीं छोड़ सका है। इन्हीं परिस्थितियों में लोक-नाट्य ने जीवन पाया है जिसका परिष्कृत रूप ही आज का शिष्ट-नाट्य है। वह आज सभ्य समाज में प्रतिष्ठित है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में लोक-जीवन में लोक-नाट्य भी चिरजीव और प्रगतिशील है जिससे उसकी महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आज के शिष्ट-साहित्य और नाट्य के समक्ष भी उसके पूर्व रूप लोक-साहित्य और लोक-नाट्य का अपना स्थान सुरक्षित है, जिसके द्वारा समाज की विविध परम्पराओं के साथ साहित्य की गीति-परम्परा का पोषण होता रहा। आज गीत ने काव्य की विविध विधाओं में अपना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। किन्तु लोक-साहित्य और लोक-नाट्य में वह किस रूप में रहा है। इस स्थल पर यह देखना भी आवश्यक हो गया है। लोक-साहित्य के विवेचन में प्रवेश होने से पूर्व उसकी विशेषताओं पर विचार करना भी उचित है।

लोक-साहित्य की विशेषताएँ

अज्ञात रचयिता और रचना-काल—लोक-साहित्य के निर्माण-कर्ता और उसके निर्माण-काल का पता लगा लेना बड़ा ही कठिन है। एक व्यक्ति और एक समय में उसके बने होने पर भी मौखिक परम्परा में रहने के कारण उसमें समय-समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं। फलतः उसके निर्माण, प्रसार और प्रचार के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक धारणा व्यक्त नहीं की जा सकती। लोक-गाथाओं में ऐतिहासिक कथानक के कारण एक काल-सीमा का निर्धारण हो सकता है कि एक विशिष्ट लोक-गाथा उससे पूर्व नहीं गा सकती किन्तु उस लोक-गाथा का कब और किससे निर्माण हुआ है—यह कह देना असम्भव है। लोक-गीत या लोक-गाथा का मौखिक स्वरूप स्थिर न रहने के कारण उसकी रचना का दायित्व एक पर न होकर बहुतों पर

रहता है।[1]

बीसलदेव रासो के सम्बन्ध में श्री सत्यजीवन वर्मा का यह कथन है—'एक भाट ने लोक-मनोरंजनार्थ कुछ तुकबन्दियाँ की थीं और वह उन्हें गाकर लोगों को सुनाता फिरता था। पीछे कई शताब्दियों तक वह मौखिक रूप में प्रचलित था और तदुपरान्त किसी ने उसे लिपिबद्ध किया। प्रायः तीन शताब्दी से अधिक जो काव्य मौखिक रहा हो उसमें कितने परिवर्तन हो जाते हैं तथा उसका रूप कितना मूल से विरूप हो जाता है। यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

आल्हखण्ड और ढोला भी इसी प्रकार की लोक-गाथाएँ रही हैं जिनमें समय के साथ परिवर्तन और परिवर्धन समाविष्ट होते रहे हैं। ढोला मारू रा दूहा के सम्बन्ध में उसके सम्पादकों का यह उल्लेख है—

'लोक-गीत ऐसा प्राचीन काव्य है कि जिसका निर्माता यदि कोई हो सकता है तो देश विशेष की प्राचीन कालीन परिस्थिति और साधारण जनता की सामूहिक रागात्मक अभिरुचि ही हो सकती है। × × × ढोला मारू की प्रेम-गाथा को किसी व्यक्ति विशेष कवि की कृति न मानकर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की विशेष कृति है और सम्भव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रखकर उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता के सौन्दर्य उसी के मनोभावों को वर्तमान काव्य रूप में बद्ध कर उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और

---

१ *Prof child's theory—Ballads do not write themselves though a man and not a people has composed still the author counts for nothing*

Prof F B Gummere—Who claims the Ballad as evidence of a co-operative folk intelligence first expressing itself in dance and choral dance.

Prof. Kitteredge He allows an initial creation by an individual author but holds that the processes of oral tradition amount to a second act of composition a collective composition of an in extricably complicated character which is not to be identified with the corruption by scribes and editors of a classical text that the original author is not a professional poet or minstrel but a member of the folk and that the composition is not a solitary act but oral improvisation before an evidence in close emotional contact

Enc Br Vol 2

२ बीसलदेव रासो (ना० प्र० स०) पृष्ठ १२

जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मानकर कण्ठस्थ किया हो।

उपर्युक्त लोक-गाथाओं के समान गोपीचन्द और राजा भरथरी गाथाएँ भी सम्पूर्ण देश में प्रचलित हैं। आज तक उनके स्वरूपों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं है फिर उनके कवि और समय के सम्बन्ध में तो निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना और भी असम्भव है।

मौखिक परम्परा

लोक-साहित्य मौखिक परम्परा में अपने स्वरूपों को समाहित किए रहता है। जब तक कोई गुणी उनको संकलित कर एक स्वरूप प्रदान नहीं कर देता तब तक उसका पूर्ण रूप एक स्रोतस्विनी के समान प्रवाहित रहता है। उसमें परिवर्तन और परिवर्धन प्रत्येक समय सम्भव रहे हैं इससे उसका मूल पाठ प्राप्त कर सकना असम्भव है। सम्पादन के दृष्टिकोण से यदि कोई सम्पादक प्रयास भी करे तो वह अपने अथक श्रम और प्रयत्न के बल से उनके प्राचीनतम रूप को ही प्राप्त कर सकता है किन्तु कोई उसे ही यदि मूल पाठ कहने का दुस्साहस करे तो वह कोरा दम्भ है। सच तो यह है कि उसके प्राचीनतम पाठ के पूर्व भी मौखिक परम्पराओं ने उसमें न जाने कितने परिवर्तन किए होंगे अथवा नवीन अंश जोड़े होंगे।

जगनिक का मूल 'आल्हखण्ड' बुन्देली भाषा में था किन्तु उस भाषा में उसका मूल रूप लुप्त हो गया। उसके प्रेम होने के कारण उसका मौखिक रूप आज भी हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में विद्यमान है किन्तु आज के सम्पादित 'आल्हखण्ड' 'बीसलदेव रासो' 'ढोला मारू रा दूहा' अपने प्राचीनतम रूप का दावा नहीं कर सकते।[1]

प्राकृतिक और स्वाभाविक स्वरूप

यह साहित्य साहित्य-शास्त्र के रीति-ग्रन्थों के विधानों पर अपने स्वरूप का निर्माण नहीं करता है। उसका सरस और सरल स्वरूप अलंकार और रस-परिपाक के लिए विशिष्ट उपमान और उद्दीपन आदि की अपेक्षा न कर ग्रामीण और जीवन के निम्न स्तर के आवश्यक तत्त्वों को चुनकर अक्षुण्ण रहता है। लोक भाषा में सरस और अकृत्रिम भावनाओं को सन्निविष्ट किए पर्वतीय स्रोत के समान अबाध गति से वेगपूर्वक बहता रहता है, जिसका प्रभाव मर्मस्पर्शी और सन्देश निष्कपट होता है।

लोक-साहित्य का निर्माणकर्ता प्रस्तुत भावनाओं से आँख-मिचौनी खेले बिना ही उन्हें विस्तृत होने देता है। इस सम्बन्ध में वह अपने वातावरण का भी पूर्ण ध्यान रखता है। इसी से उसकी अभिव्यंजना में कल्पनात्मकता और काव्य-सौष्ठव का

---

१ ढोला मारू रा दूहा (ना० प्र० स०) पृष्ठ २०

शिष्ट स्वरूप नहीं आ पाता। यों कला की सार्थकता के लिए अलंकार छन्द रस तत्व आदि सभी विद्यमान रहते हैं किन्तु भाव-धारा के अनुकूल वह स्वयमेव आवत हैं। इसी से साधारण ग्रामीण समाज को वे सब ग्राह्य हो जाते हैं तथा उनको समझने में मस्तिष्कीय व्यायाम की आवश्यकता नहीं होती।

आल्हा और ढोला की ग्रामीण समाज में जब व्यवस्था होती है लोग उनको सुनने के लिए दूर-दूर से खिंचे चले आते हैं। वे मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हुए उनका रसास्वादन लेते हैं। यह सब काव्य के प्राकृतिक और स्वाभाविक स्वरूप के कारण ही सम्भव है। यदि उनका अन्यथा स्वरूप होता तो अपढ़ जन-समाज उनसे निराश ही रहता।

'ये लोक-गीत जनता के हृदय के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं जो साहित्य के विधानों के भीतर नहीं आ सके किन्तु शताब्दियों से मनुष्य हृदय के साक्षी बनकर गाँवों के वायुमण्डल में सदैव के लिए गुंजित हुए हैं। हमने अपनी बौद्धिक अहम्मन्यता में इन ग्राम-गीतों को भले ही भुला दिया हो किन्तु उन्होंने ही सच्चे भारतीय हृदय का निर्माण किया है और इन्हीं की धमनियों से हमारे पूर्वजों के हृदय में रक्त का स्पन्दन हुआ है।'[1]

भारतीय संस्कृति और जीवन का निमल स्वरूप

मानव-जीवन में विविध प्रकार के अनुष्ठानों संस्कारों और समय अवसरों का आयोजन होता है। इन्हीं के सम्बन्ध में लोक-गीतों का प्रचार और व्यवहार प्रत्येक समाज में है जिससे सांस्कृतिक भावनाओं और सामाजिक आचार-विचार का संरक्षण और एक सूत्रता बनी रहती है।

लोक-गीतों और लोक-गाथाओं के आधार पर मानव जीवन के निर्मल स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है जिनसे परस्पर के व्यवहार और विविध सम्बन्धों के निर्वाह में भी समुचित मार्ग प्रशस्त होता है। फलतः जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में उनसे काफी प्रेरणा मिलती है।

संगीत

संगीत में नृत्य वादन और गीत का सम्मिश्रण रहता है। लोक-गीत और लोक-गाथाएँ प्रायः नृत्य और वादन के साथ गाई जाती हैं। नृत्य और वादन यों ही मर्मस्पर्शी होते हैं किन्तु जब उनके साथ लोक-साहित्य की मार्मिक भावनाएँ मिश्रित हो जाती हैं तब प्रभावोत्पादक संगीत का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है।

ग्रामीण जीवन में ग्रामीण गीत सदैव किसी न किसी बाद्य पर नृत्य के साथ

---

१ डा० रामकुमार वर्मा—साहित्यशास्त्र

गाए जाते हैं। इनमें सामूहिक गान होते हैं और गान के साथ सामूहिक नृत्य भी सम्पन्न होते हैं।

भाषा

लोक-साहित्य ग्रामीण समाज के उपयोग के लिए होता है। जिसमें उसी के स्तर के अनुकूल भाषा का प्रयोग रहता है। फलतः किसी भी देश के साहित्य की सरस और मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना लोक-साहित्य की भाषा में ही समाई हुई मिलती है।

लोक-साहित्य के प्रकार—लोक जीवन की भावनाओं की प्रवृत्तियों पर ही लोक-साहित्य की विविधताएँ अवलम्बित हैं। उसके १ लोक-कथा २ लोक-गीत ३ लोकोक्ति तीन विभाग किए जाते हैं।

लोक-कथा के धर्म-गाथा लोक-गाथा और लोक-कहानी तीन भेद हैं। धर्म गाथाओं की वस्तु मानवेतर ईश्वरीय होती है। इनमें मनुष्य की भावनाएँ धर्म और ईश्वर की ओर ही उन्मुख रहती हैं। इन गाथाओं में जीवन निर्माण के तत्व समाए रहते हैं। इस प्रकार साहित्य की अपेक्षा इनमें धार्मिकता अधिक रहती है। ये गाथाएँ वस्तुतः धर्म की अंग हो जाती हैं।

लोक-गाथाओं में ऐतिहासिक तथ्य रहते हैं। जीवन के उपयोग में आने वाले आदर्श वस्तुतः इनसे उपलब्ध होते हैं। इन्हीं के अन्य रूप लोक-कहानियों में आदर्श की अपेक्षा कौतूहल और मनोरंजन विशेष रहता है।

लोकोक्तियों में जीवन की अनुभूतियाँ समाई रहती हैं। प्रतिदिन के जीवन में मानव उन्हें प्रयोग में लाकर सत्य का प्रतिपादन करता रहता है।

अब रहे लोक-गीत ये लोक-साहित्य के विविध स्वरूपों में जीवन के समीपतम रहते हैं। जीवन के हर्ष-विषाद किसी भी बेला में उनका उपयोग होता है। मानव हर्ष और उत्सवों के समान शोक के समय भी गाता है। इस प्रकार लोक-गीतों की अपनी विशेष महत्ता है।

लोक-गीत

लोक-गीतों में हमारी जातीय और सांस्कृतिक भावनाओं की निधि छिपी हुई है। इसी से यदि देश के किसी कोने में हम किसी भाषा का लोक-गीत सुनकर परी

---

1 The ballads are incomplete without music. They can not achieve their full effect unless they are sung to their own particular tunes and they can not be understood historically unless their relationship to music is understood

M J C Hodgart—The Ballads—The music of the Ballads

प्रत्येक पर तो भारतीय स्वभाव और विचारों का उसमें सम्मिश्रण मिल जायगा। सम्पूर्ण देश की विभिन्न भाषाओं में तो अपने अपने लोक-गीत हैं ही, किन्तु विविध जातियों में भी अपने-अपने गीत गाए जाते हैं। उन सभी में हमें एक सूत्रता पिरोई हुई मिलेगी। पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ों ने, नगरों की अपेक्षा गांवों ने, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने लोक-गीतों को सुरक्षित रखने का अधिक प्रयत्न किया है। आज भी यह तथ्य असत्य नहीं है।

जीवन में जन्म, विवाह और मृत्यु ऐसी घटनाएँ हैं जो हमें हर्ष अथवा विषाद से उद्वेलित करती रहती हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त विविध संस्कार, पर्व, त्योहार, ऋतूत्सव आदि के अवसरों पर भी हम प्रफुल्लित और आनन्दित होते हैं। इन सभी अवसरों पर पारिवारिक अथवा सामाजिक रूप में इन गीतों के गानों की व्यवस्था की जाती है।

माङ्गलिक समारोहों पर भारतीय जीवन में गीत गाना अनिवार्य रहा है। यदि उनमें गायन न हो तो उन्हें अपूर्ण और असफल मानते हैं। कभी-कभी तो समारोह सम्पन्न होने के दिन से सप्ताहों पूर्व ही से गीत-गान की परिपाटी है। इसी प्रकार होली के लिए सम्पूर्ण फाल्गुन मास भर फाग गाये जाते हैं। इन गीतों के गान के लिए ढोलक, मृदंग, सारंगी और मजीरा आदि प्रयोग में आते हैं।

हमने अपने जीवन में आनन्द और मंगल का सम्यक् मूल्य समझा है। इसी से उनके सम्पन्न करने की विधि-विधान के साथ हमने अवसर के अनुकूल अपने गीतों को भी सुरक्षित कर लिया है। इस परम्परागत भावना के कारण गीतों की परम्परा अक्षुण्ण रह सकी है और उनके कारण हमारे संगीत की शास्त्रीय अथवा लोक पद्धति को भी बल मिलता रहा है।

लोक-गीतों में सरल और स्वाभाविक भाषा-शैली के अतिरिक्त गेयात्मकता, आत्माभिव्यंजन, विचारों की एकरूपता और संक्षिप्तता आदि सभी तत्त्वों की उप-लब्धि हुई है। इस स्थल पर कुछ लोक-गीतों को लेकर हम उनके निष्कपट सौन्दर्य को देख लें और देख लें कि भारतीय जीवन की कितनी परम्पराएँ और विचारधाराएँ उनमें अन्तर्निहित हैं।

सोहर गीत

एक भारतीय अबला जिसकी गोद अभी तक सूनी है, अपने आँगन के चन्दन वृक्ष पर बैठे कौवे से पूछती है कि नैहर से आए हो या प्रियतम ने सन्देश भेजा है? कौवे ने उत्तर दिया कि न मैं नैहर से आया हूँ और न प्रियतम का सन्देश ही लाया हूँ, किन्तु नवें महीने तुम्हारे पुत्र होगा। इस सन्देश को सुनकर स्त्री आनन्द से फूल उठी और कह उठी 'हे काग! पुत्र होने पर मैं तुम्हें दूध की खीर दूँगी और तुम्हारी चोंच को सोने से मढ़वा दूँगी।' गीत में कौवे द्वारा सन्देश लाने की भारतीय परम्परा

के साथ पुत्र जनने की नारी की अभिलाषा बड़ी ही सजीव है—

हमरे अगन चंदन बिरवा हो भो, महर महर करे
महर महर करे हो।
एहो डाहि डाढ़ि बोले एक काग बचन बड़ा सुन्दर बोलिया सुहावन हो।
कि काया नैहर स आयो कि हरि जी पठायो हो।
कागा! कौन संदेश तुम स भो बचन बड़ा सुन्दर बोलिया सुहावन हो।
न हम नहर से आए न हरि जी पठाये हो
धनिया! आज के नव महिनवाँ होरिला तोहरे होइहैं
ललन तेरे होइहैं हो।
जो हमरे होइहैं होरिलवा तो दूध दुनिया देब हो।
रहो सोन के चोंच मढ़इबै बधइया बजइबइ हो॥

बहू सोकर उठी है। रात म प्रत्यक पहर म उसने एक-एक स्वप्न देखा है। पीढ़ा पर बैठी हुई अपनी सासु स वह प्रत्येक प्रहर के सपने का उल्लेख कर विचार करने के लिए कहती है। पाँचवे प्रहर म उसन एपन (पिसा हुआ चावल) सकर खड़ी रसते हुए अपने को देखा है। खड़ो रखने की परिपाटी भारतीय जीवन में शुभ कर्म पर ही सम्पादित की जाती है। इसको शुभ स्वप्न समझकर वह बहू स चुप रहने क लिए कहती है। आठवें महीने के बीतन पर नवें महीने के समत ही आनन्द बधाइयाँ बज उठीं और सोहर राग गाए जाने लग।

रात्रि में चार प्रहर ही होत हैं किन्तु बहू न अन्तिम प्रहर को पाँचवाँ प्रहर कहा है जो अद्भुत है। उसके कथन मे भले ही अद्भुतता है किन्तु उसका सम्बन्ध अन्तिम प्रहर से है। अन्तिम प्रहर का स्वप्न भारतीय जीवन में सत्य माना जाता है। इसी तथ्य के विश्वास पर गीत का मूल सन्देश आधृत है—

मंचहि बैठी है सासु तो बहुआरि अरज करे हो,
सासु! सपन का करहु बिचार सपन बड़ा सुन्दर हो।
पहला सपन सासु! देख्यो मैं पहिले पहरवा हो
सासु! चन्द सुरज दोनों भइया अँगन मोरे उइ गए हो।
दूसरा सपना सासु! देख्यो मैं दूसरे पहरवा हो,
सासु गंगा जमुना दोनों बहनी अँगन मोरे हलरे हो।
तिसरा सपन सासु! देख्यो म तिसरे पहरवा हो
सासु! राम लखन दोनों भइया अगन मोरे खिलत हो।
चउथा सपन सासु देख्यो म चउथ पहरवा हो
सासु! दूध की दलरिया मोरे हाथ तो अइपन संकलपी हो।
पँचवा सपन सासु! देख्यो मैं पँचवे पहरवा हो
सासु! अइपन भरल मोरा हाथ तो खड़िया धरत देख्यो हो।

चुप रहो बैरिन चुप रहो बहुरि । अब सुनि है
बहुरि सपने का कछु बिचार सपन बड़ा सुन्दर हो ।
आठ मास केरे बीतत नवें के आवत हो
यहो बजे लगि अनन्द बधइया उठ लग सोहर हो ।

सोहर गीतों में जच्चा की कामना, पीड़ा, प्रसव, आनन्द-बधाव और नग के गीत तथा बच्चे के जन्म से चलने पर अन्नि सठा जगमोहन तुमरा और छठा के गीत गाए जाते हैं । सम्पूर्ण हिन्दू परिवारों में इन्हीं के सम्बन्ध में गीत गाने की परिपाटी है । उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिला में मन बना गीत गाने की भी पद्धति है । जिस प्रकार ब्रज प्रदेश में जगमोहन तुगरा में जच्चा और नन्द के मध्य में नेग को लेकर नोंक-झोंक चलती है वही विषय 'मनरजना' गीतों का भी होता है । 'मनरजना' 'मनो-रंजन' तत्सम शब्द का ही तद्भव रूप है ।

मनरजना—पुत्र के जन्म के उपलक्ष में परिवार में मोज की व्यवस्था की है । जच्चा ने सासु से भण्डार, जिठानी से चौका और अपने प्रियतम से अपने बक्स का हाल पूछा । उनसे यह सुनकर कि नन्द अधिक-से-अधिक ले गई वह आंगन में लोटने लगती है और वह उठती है कि मेरे नम्मनाम क्या हुए जो इस प्रकार मेरा घर लुट गया ।

कमरे से निकली जच्चा सास जी से पूछ लागी हो
कहो सासू भंडार का हाल तो सोना पानी कितना बचा हो ।
एक सोना नाक को बोम्हा एक करीवा का बोम्हा एक कहरवा का बीम्हा
सोरह बोरा लगाई ननदिया तो चौका तेरा हर हुआ हो ।
कमरे से निकली जच्चा जिठानी जी से पूछे लागी हो,
कहो जिठानी चौक का हाल तो खाना पीना कितना बचा हो ।
एक पनरी नाऊ का बीम्हा एक बारीक का बहरवा एक कहरवा का बीम्हा हो
सोलह थाल लगाई ननदिया तो चौका तेरा हर्र हुआ हो ।
कमरे से निकली जच्चा राजा जी से पूछ लागी हो
कहो राजा बक्से का हाल तो गहना गोठो कितना बचा हो ।
एक बीम्ह नाऊ का बोम्हा एक बरीवा का बोम्हा एक कहरवा का बोम्हा हो
भारी बकसा लाई ननदिया तो बक्सा तेरा हर्र हुआ है ।
कमरे से निकली जच्चा आंगन भर म लोट लागी हो
धोती फुरता फाड़ लागी हो,
और कहो का सब मनभावन मोरा घरा फुरवा लुट गया हो ।

'मैनमन' शब्द का प्रयोग गान का निकट भूत में निमित्त होना अवश्य सिद्ध करता है किन्तु फिर भी ननद के साथ भाभी की इस प्रकार की प्रतिस्पर्धी नेग के रूप में होती रही —— है । इसी भावना का प्रस्फुटन इस गीत में हुआ है ।

भाभी ने ननद को पुत्र होने पर गले की तिमरी देने का वचन दिया है। पुत्र हो जाने पर वह तिमरी न देकर यह कहती है कि अपने भतीजे को मुझे ही ले जाओ किन्तु मैं तिमरी न दूँगी। वह नव जात पुत्र को ले जाती है। इस पर माता का हृदय दुखी हो उठता है। वह विवश हो तिमरी दे देती है और पुत्र उसे पुन प्राप्त हो जाता है। अनन्तर ननद की बिदा-वेला पर वह झट से ननद गले की तिमरी तोड़ लेती है—

कोई कोठे से उतरी ननदइया मनरजना
कोई छोटी ननद मन घेरे अहो मन
भाभी जो हमरे होइहैं भतिजवा मन
भाभी क्या दोगी हमको नग अहो मन०
बीबी जो तुमरे होइह भतिजवा मन
तुम्हें दूँगी गले को तिमरी अहो मन०
कोई भोरे तो छाय सुनाय मन
आज जन्मे हैं कुँवर कन्हाई अहो मन०
कोई भोरे से बैठी ननदिया मन०
मो रे छोटी ननद नहीं काम अहो मन
राजा भीर से बजना बजवा हो मन
कोई द्वार बसे छोटी ननदी हो अहो मन
कोई द्वार पे ठाड़ी ननदिया मन
भाभी लाओ गले की तिमरी अहो मन
बीबी लाऊँ कहाँ से तिमरी मन
तुम ले जाओ अपना भतिजवा अहो मन
ननदी ले गई हमरा हरिलवा मन
मोरा तरस तरस जिया होय अहो मन
बीबी देजाओ हमरा होरिलवा मनरजना
तुम लेजाओ गले की तिमरी अहो मन
कोई ननदी के आए लिवइया मन
कोई ननदी बिदा को करिया अहो मन
मन बसी न तोड़ लो तिमरिया मन
गले मिलते में तोड़ा हार अहो मन
राजा कली में नुपुर निकलो मन
मैंने दोनों ही चीज कैसीहो अहो मन

मुण्डन गीत

प्रेम के लिए यह छीना झपटी मुण्डन गीत में भी है। मुण्डन संस्कार के राम भाई को एक रुपया दिया जा रहा है किन्तु वह उसका लेना अस्वीकार अपनी मूल्यवान माँग प्रस्तुत कर रहा है—

हमारे लउआ मुडन केरि बेरिया
लाख डालिए छुइओं न हाथ से
न लइहों एक रुपया मुडन केरि बरिया
चाँदी का पूरा कटोरी सोन की
लेहवा थारी रुपया मुडन केरि बरिया
बिलख होत लालि लाल मयव भए
हाथ लिये है लउआ मुडन केरि बरिया
पाँव पैजनियाँ कमर करधनियाँ
हाथ में सोन के लउआ मुडन केरि बेरिया।

पुत्र बड़ा होकर अब घूमने-फिरने लगा है। माँ कहती है—दूर खेलने मत जाना। मैं माँ-बाप की दुलारी सात भाइयों के मध्य में अकेली बहन पति की प्यारी हूँ तुम्हें ढूँढने न जाऊँगी किन्तु पुत्र के दूर चले जाने पर वह आकुल हो उठती है और अपने गर्व को तुच्छ समझ कर उसे ढूँढने निकल पड़ती है। वात्सल्य का मार्मिक स्वरूप इस लोक गीत में विद्यमान है—

कमर में सोहै करधनियाँ पाँव पैजनियाँ
ललन दूरी खेलन जनि जाहु हेरन हम न जइब।
सात बिरन की बहिनिया बाप पिया एकै
हरि जी के परम पियारी हूँ हम नहीं जइबै।
भोर भए निकसल खेलना को ललना
दुपहर खेलवा को बेर ललन नहिं आए।
छाँड़ि न सातों बिरनवा बाप के महर
छाँड़ि दीन्हों हरि जी की सिजरिया हेरन हम जाइब।
जैसे कुम्हार का आँवा धधकि रहै
बेटा बेलई माई का करेजवा धधकि धधकि रहै।

गीत की अन्तिम पंक्ति में मातृ-हृदय का वात्सल्य उत्कर्ष पर पहुँच गया है। यह केवल भारतीय माँ ही न रहकर विश्व में मातृ-पद का प्रतीक हो उठा है।

विवाह गीत

विवाह संस्कार के लोक-गीत भी जन जीवन में व्यापक हैं। वर-कन्या दोनों

पक्षों में समान रूप से इस संस्कार के समारोह सम्पन्न किए जाते हैं। वधू जब विदा होकर पति-गृह में पहुँच जाती है तब यह संस्कार समाप्त हो जाता है। विवाह के सगाई, पीली चिट्ठी लग्न मात माँगना ढाई, तेल बरात आगमन द्वाराचार, भाँवर, कहार विदा बरात का वधू को लेकर घर के घर पहुँचना आदि विविध समारोह होते हैं। इन सभी अवसरों पर गीत गाए जाने की व्यवस्था है।

विवाह के पक्का हो जाने पर कन्या के अभिभावक विवाह में दहेज देने के सम्बन्ध में परस्पर विचार विनिमय करते हैं। निम्नलिखित गीत में इसी समस्या का समाधान है—

ईंडिया पथायो बाबा ईंडिया पथायो रे
ईंटिया पथाई बाबा महला उठायो रे
ताहि चढ़ि बैठे हैं बेटी के बाबा हो
रानी बजन तेह बनियाँ बुलाव रे
बनियाँ बुलावे तेहि पूछें हलि बात रे
कितने दहेज देहीं बेटी के ब्याह रे
हाथी देबै घोड़ा देब तोपहो सिपार रे
मथुनी हाथी देब बेटी के ब्याह रे।

यह गीत यहीं पर समाप्त न होकर कन्या के चाचा-चाची फूफा-फूफी मामा मामी आदि सभी को लेकर चलता है।

बरात द्वार पर आ गई है। बजते हुए बाजों को सुनकर कन्या कौतूहल अनुभव करती हुई माँ से पूछ उठती है कि यह बाजे कहाँ बज रहे हैं? माँ उसके ब्याह की बात कहती है। वह प्रतिकार करती है कि अभी तो मैंने डलिया बिनना और रसोई बनाना नहीं सीखा है। हे माँ! सासु और ननद भैया को गाली देंगी मुझसे सहा न जायेगा। माँ कहती है—बेटी डलिया बिनना और रसोई बनाना सीख ले। यदि तेरी सासु और ननद भैया को गाली दें तो उन्हें आँचल पसार कर न लेना।

भारतीय संस्कृति में पली हुई माताएँ अपनी कन्याओं को इसी प्रकार का उपदेश देती हैं।

सोवत रहलि मैं अइया के गोदिया चौंकुल परोर्ड पानी राम रे
केकरे दुआरे अइया बाजन बाजे केहि कर रचा है बियाह
बाबरी भइन् ए ए मेरी बेटी मति तोरी गई भरमाय
तोहरे दुआरे बेटी बाजन बाजे तोहरहि रचा है बियाह
नाहीं सीखो अइया रे डेलिया डेलरिया नाहीं सीखो राम रसोई रे
सासु ननद अइया भैया गरियइहें मोरे सुने सहा नहिं जाय
सिख लेउ बेटी रे डेलिया डेलरिया सिख लेउ राम रसोई रे
सासु ननद बेटी भइया गरियइहें लीजिहों अँचरा पसार

यह गीत कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ कविता कौमुदी—ग्रामगीत के विवाह-गीतों में भी आया है किन्तु यहाँ जिस रूप में यह उपलब्ध हुआ है उसका उल्लेख किया जा रहा है।

वर-कन्या की भाँवरों से पूर्व उनका गठबन्धन हो जाता है। गठबन्धन के पश्चात् वे भाँवरे लेते हैं। उसी अवसर पर सखियाँ उनके सौंदर्य का वर्णन करती हैं—

धर दुलही भेल भँवरिया रे
पंडित बैठ के बेद उचारे गावहिं सखिया सहेलरिया रे
दुलहा के सोहे केसरिया जामा दुलहिन के सोहे चुनरिया रे
सोहैं सुहागिन के माथ सेनुरिया जगमग ज्योति उजरिया रे
पियरी पटुका से गठबन्धन बँधे हैं राजा सँवरिया रे।

भाँवरों के अवसर पर कन्या सोच उठती है कि वह कुछ ही क्षणों में श्वसुर कुल की हुई जाती है। अतः एक-एक भाँवर पर वह क्रमशः एक-एक अभिभावक को पुकारती है किन्तु कोई नहीं आता है। इस प्रकार सातों भाँवरों के पड़ जाने पर वह पराई हो जाती है—

बाबा बाबा गोहराऊँ बाबा न बोलैं
पहली भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
काका काका गोहराऊँ काका न बोलैं
दुसरी भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
मामा मामा गोहराऊँ मामा न बोलैं
तिसरी भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
फूफा फूफा गोहराऊँ फूफा न बोलैं
चउथी भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
मौसा मौसा गोहराऊँ मौसा न बोलैं
पँचवी भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
बाबू बाबू गोहराऊँ बाबू न बोलैं
छठवीं भँवरिया के भीतर भए हूँ तुहार
भइया भइया गोहराऊँ भइया न बोलैं
सतवीं भँवरिया के भीतर होइ गए पराई।

कन्या जब पितृ-गृह से विदा होती है उसके समक्ष बाल जीवन के सुखद और साथियों के विविध चित्र खिंच जाते हैं। फलतः उसका चित्त दुखी हो उठता है। विदा-बेला के निम्न गीत में समाहित विषाद का भाव बड़ा ही मार्मिक है—

हम तो बाबा तोरे [illegible] काहे को ब्याही बिदेस
भइया को दीन्हो महल दुमहला
हमें तो दिहो है परदेस हमें [illegible]

कहाँ मिलिहैं बाबुल कहाँ मेरी मइया
सखियन छूटत कलैस हमें कछु
छूटा री मइया लागिहि खोटें
हमें तो सदा को बिदेस हमें कछु
माय पड़ी मने गठिया को छोड़ी
छोड़ा सखियों का स्नेह हमें कछु
गया अमृता जैसी मइया को छोड़ी
छोड़ा सहेलियों का देस हमें कछु

उपर्युक्त दोनों संस्कारों के अनन्तर मृत्यु जीवन का अन्तिम संस्कार आता है। इसके घटित होने पर सामाजिक जीवन में दुःख अवसाद और उदासीनता छा जाती है। फलस्वरूप गीत गाने के उत्साह और उल्लास विनष्ट हो जाते हैं। डा० सत्येन्द्र ने ब्रज जीवन में चतुर्वेदियों के यहाँ मरण-गीत गान की परिपाटी का उल्लेख किया है उन्हीं के 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' से 'मरण-गीत' उद्धृत किया जा रहा है—

काए के कारन जौ बए, और काहे के हरे हरे बाँस।
हरि रे किसन कैसें तिरयमो।
मामा परम के कारन जौ बए मरन के काजें हरे हरे बाँस।
हरि रे किसन कैसें तिरयमो।
बेटी न ब्याही आपनी, गऊ न सौंपी कन्यादान।
हरि रे किसन कैसें तिरयमो।
काए के कारन गऊ दई काए के लिए पकवान।
हरि रे किसन कैसें तिरयमो।
पार के काजें गऊ दई और तरन कूं बए पकवान।
हरि रे किसन कैसें तिरयमो।

अन्य प्रकार के लोक-गीत

उपर्युक्त के अतिरिक्त त्योहार व्रत देवी शीतला टेसू आदि के गीत और ऋतुओं के गीत (सावन में मल्हार क्वार म झिमकारो कातिक में दिवारी फागुन में फाग चैत में चैती गीत) तथा जातीय गीत (धोबियों के धुबियाऊ ढीमरों के ढीमराऊ और गड़रियों के गड़रियाऊ गीत) आदि-आदि गाने की पद्धति प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित है।

एक देवी गीत देखिए, जिसमें गायिका अंधों को नैन कोढ़ी को काया और बाँझ को पुत्र प्रदान करने की देवी से प्रार्थना करती है।

मात मेरी पूरन करो आशा
कि हाँरी देवा कहाँ का तेरा मंडप

काहे के चार खम्भे लगे माता आस
कि हाँरी मालिन सोने का मोरा मंडप
केले के चार खम्भे लगे मालिन आस
कि हाँरी देवा काहे का तेरा चौरा
काहे के चार खम्भे लगे माता आस
कि हाँरी देवा हरियाई को चौरा
नये के चार खम्भे लगे माता आस
कि हाँरी देवा चन्दन को माँची कोड़ी को काया
दर्शन को बालक देवो माता, आन

चैती बसन्तकालीन गीत है। बसन्त में प्रकृति के प्रफुल्लित और सुरभित हो उठने पर पशु, पक्षी, मानव आदि सभी में आनन्द का उद्रेक हो उठता है और मादकता छलक उठती है। एक छोटी अवस्था की ग्वालिन मथुरा नगर दही बेचने को जा रही। वह जहाँ जहाँ मटकी रखती है राजा का कुमार वहाँ-वहाँ तम्बू तनवा देता है। ग्वालिन के यह कहने पर कि तुम आगे-आगे चलो नहीं तो दही के छींटे पड़ जाएँगे। वह उत्तर देता है कि जिसे तुम दही के छींटे कहती हो मेरे लिए तो वे देवता द्वारा बरसाए जाने वाली अगर और चन्दन की वर्षा है। इस प्रकार गाकर एक सखी एक विरहिन को समझा रही है।

रामा छोटि मोटि ग्वालिन सिर लो मटुकिया हो रामा।
चलि भइल मथुरा नगर दही बेचन हो रामा।
रामा जहाँ जहाँ ग्वालिनि धरके मटुकिया, हो रामा।
तहँ तहँ कुँवर तनावे तम्बुआ हो रामा।
रामा आगू होख आगू होख राजा के कुँवरवा, हो रामा।
परि जइहें दही के छिटकवा, हो रामा।
रामा तोरा लेखे ग्वालिन दही के छिटकवा, हो रामा।
मोरा लेखे अगर चनन देव बरिसे हो रामा।
रामा गाइ के चइतवा बहत सखी गावे, हो रामा।
गाइ गाइ विरहिन सखि समुझावे हो रामा।

इस प्रकार लोक-गीतों के प्रस्फुटन में हम देखते हैं कि उनमें जीवन की स्पष्टता, भाषा-शैली की स्वाभाविकता और सरसता तथा संस्कृति की प्रतीकात्मकता सदैव विद्यमान रही है। इसी तथ्य के कारण वे हमारे जीवनों में घुले मिले रहे हैं तथा संगीत और साहित्य के लिए अभिव्यंजनात्मक रहे हैं। उनके वैशिष्ट्य और स्वरूप के सम्बन्ध में श्री सत्यार्थी जी का कथन है—

"कहाँ से आते हैं इतने गीत लोक-जीवन में? कुछ काले बादलों से बरसने को तैयार, कुछ इन्द्रधनुष से, सूर्योदय के लाल-लाल या फिर सूर्यास्त की रंग

रश्मियों से अरुण अँधेरे का प्रथम छूने, घास व दूबिया, मिष्ठ श्वास से उगते गेहूँ से, धान से या फिर किसी अनाज से, फसल काटते मस्त कृषक के हिय से, ग्राम छीलती नारी चुनरी से मस्त-व्यस्त स्मरण-विस्मरण की आँख मिचौनी से। जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी करती है अपना काम, रस-वृत्ति और भावना भी नृत्य का हिलारा भी। पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुख, ये हैं लोक-गीत के बीज। लोक-गीत हृदय के खेत में उगते हैं। सुख के गीत उमंग के जोर से जन्म लेते हैं और दुख के गीत खीलते लहू से पनपते हैं और आँसुओं के साथी बनते हैं।[1]

प्रबन्ध गीत

अभी तक लोक-जीवन में प्रतिष्ठित लोक-गीतों की परम्परा को हमने देखा है। इनमें गीतों का मुक्तक रूप ही सिद्ध हुआ है, किन्तु इनके साथ उनका प्रबन्ध रूप भी था, जो समाज में उत्साह और मनोरंजन की प्रेरणा के लिए व्यवहृत होता रहा है। पारिवारिक जीवन में इन प्रबन्धात्मक गीतों का प्रयोग 'विवाह-संस्कार' में मिलता है, किन्तु जीत के गीतों में वे अधिकाधिक प्रयुक्त हुए हैं। उस समय स्त्रियों के समीप समय का अभाव नहीं होता, फलत: वे लम्बे गीत सुविधा से गाती रहती हैं। पुरुष वर्ग भी इन गीतों के परिवर्तित अथवा परिवर्धित रूप को अपने परिमित समाज या विशाल जन-समूह में गाकर आनन्दित और प्रोत्साहित होता है।

इन प्रबन्ध गीतों में रामायण, महाभारत, इतिहास आदि के वृत्तों की प्रतिच्छाया रहती है। कभी-कभी स्थानीय घटनाओं पर अवलम्बित अथवा काल्पनिक वृत्त भी स्वीकृत कर लिए जाते हैं। मुक्तक गीतों के समान इनके द्वारा भी हमारी संस्कृति, आचार-विचार और भावनाओं का संरक्षण होता रहा है और संगीत तथा साहित्य को प्रेरणा मिलती रही है।

राम और कृष्ण के चरित्र-परक प्रबन्ध गीत अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक उपयोग में आए हैं। गोपीचन्द, राजा भरथरी, ढोला, आल्हा, पूरन भगत, हीर राँझा ऐसे प्रबन्ध गीत हैं जिनमें ऐतिहासिक वृत्तों के साथ कल्पना के तत्त्व मिले हुए हैं। इस स्थान पर यह भी ध्यान रखने की बात है कि इन प्रबन्ध गीतों का किसी विशिष्ट समाज और प्रान्त में ही प्रयोग नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य से उनकी घटनाएँ भले ही अलग-अलग प्रदेश में हुई हों, किन्तु आज वे सम्पूर्ण राष्ट्र और समाज की निधि हैं। सभी समान रूप से उनसे प्रेरणा लेते हैं।

यदि गोपीचन्द, राजा भरथरी और पूरन भगत के प्रबन्ध वैराग्य की प्रेरणा देते हैं तो ढोला और हीर-राँझा प्रेम के संयोग और वियोग की तथा भावना और

---

1 श्री देवेन्द्र सत्यार्थी—धरती गाती है, पृष्ठ १७

रच की । इनमे से आल्हा ऐसा वीर-गीत है जो समाज के मानस तथा निष्क्रियता को उच्छेदन करने में विशेष सक्षम रहा है । अन्यों से प्रेम और वैराग्य के कोमल भाव ही मिलते रहे हैं । गोपीचन्द का वैराग्य बंगाली उड़िया भोजपुरी पंजाबी मराठी गुजराती और दूसरी भाषाओ के लोक-काव्य गीत प्रेम काव्य का विषय रहा है और अब भी वैरागी भिखारियों के द्वारा हिन्दुस्तान और दक्षिण में गाया जाता है । डा० चटर्जी का यह कथन यद्यपि गोपीचन्द के सम्बन्ध में ही है [1] किन्तु यह राजा भरथरी पूरनभगत ढोला आदि सभी के साथ सत्य है ।

निष्कर्ष

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों में हमारी परम्परागत भावनाएँ, आचार विचार स्वभाव आदि तो छिपे हुए ही हैं परन्तु उनमें संगीत तत्त्व भी कम नहीं है । उसके भी मूल तत्त्व उसमें घुल-मिले हैं । फलस्वरूप उसमें साहित्यिक गीतों के स्रोत के साथ संगीत के स्रोत भी प्रवाहित हैं । 'धीरे बहो गंगा' की भूमिका-अंश में इसी तथ्य पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने विशेष बल दिया है—

'भारतीय संगीत के प्राचीन इतिहास और विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में और जातियों में गाए जाने वाले गीतों के स्वर-तार का अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।"

उसी ग्रन्थ में 'लोक-गीत की परख' के अन्तर्गत श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतीय संगीत पर उसका महान् आभार माना है—

'हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि लोक-गीत सहज संगीत है फिर कुछ और । अन्य देशों में लोक-संगीत के अनुसन्धान तथा पुनरुद्धार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय देकर इसके द्वारा देश की वास्तविक आत्मा को गौरव प्रदान किया है । जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है । हम इतना ही जानते हैं कि शास्त्रों में मार्गी और देशी इन दो मार्गों में संगीत को विभक्त किया गया है और यह बात भी छिपी हुई नहीं कि मार्गी संगीत के विकास में देशी संगीत ने काफी हाथ बटाया होगा । श्री डी० पी मुकर्जी के मतानुसार ठुमरी टप्पा दादरा कीर्तन

---

1 Gopichanda s renunciation is the theme of a large mass of folk poetry songs ballads and romances in Bengali Oryia Bhojpuri Hindi Panjabi Marathi Gujrati and other languages and is the subject even now sung other by itinerant Yogi beggars in Hindustan and Deccan

Dr S K Chatterjee—The Origin and Development of the Bengali language Vol I Page 1.1 (Edition 1976)

भजन इत्यादि 'देशी' या 'लोक-गीत' के अर्थ में हैं।"

विद्वानों के उपर्युक्त अभिमत से लोक-गीतों का महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट है। सांस्कृतिक साहित्यिक और सांगीतिक मूल बातों और तथ्यों से अवगत होने के लिए इन लोक-गीतों को ही परखना पड़ेगा यह ध्रुव सत्य है।

लोक-नाट्य में गीत

शिष्ट नाट्य प्रस्तुत होने से पूर्व हमारे देश में लोक-नाट्य की परम्परा विद्यमान रही है कल्पनात्मकता के प्रभाव से उसमें आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन करके शिष्ट नाट्य कला का सूत्रपात किया गया है इसका यह नवीन स्वरूप ही राजाश्रय और सम्भ्रान्तों की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है जिससे अभिप्रेरित होकर ही भास कालिदास अश्वघोष भवभूति आदि ने अपने-अपने नाटकों की रचनाएं की थीं जिनको साहित्यिक प्रतिष्ठा के साथ शिष्ट रंगमंच का सम्मान भी मिला। इतनी विकास की प्रगति के साथ लोक-नाट्य की गति-विधि अवरुद्ध नहीं हो गई, वह भी उसका समानान्तर प्रवाह रूप में अपने को अक्षुण्ण किए रही। जन जीवन के मनोरंजन का एकमात्र साधन होने के कारण उसका प्रकाश निष्फल न हो सका।

पालि प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यों में लोक-नाट्य के तत्त्व मिलने से यह सिद्ध है कि यह समाप्त ही रहा है। अनन्तर देशी भाषाओं के विकास के साथ उसने अपने स्वरूप से उन्हें नाटक रचने और अभिनय करने की प्रेरणाएं दीं। ये लोक-नाट्य सम्पूर्ण देश में प्रचलित थे और आज भी किसी न किसी रूप में जन जीवन के मनोरंजन की व्यवस्था कर रहे हैं।

'हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन-नाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा और कीर्तनियाँ नाटक बिहारी में विदेसिया अवधी पूर्वी हिन्दी ब्रज तथा खड़ीबोली में राम लीला रास लीला स्वांग भाट राजस्थानी में राम्, झूमर, ढोला मारु गुजराती में भवाई महाराष्ट्री में ललित और तमाशा आंध्र भाषा में यक्षगान आदि नाटक विद्यमान थे। जन-नाटक के उपर्युक्त सभी भेदों में सामान्य रूप से संगीत की प्रधानता थी और गद्य-भाग प्रायः उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व न था और वेशभूषा तथा प्रसाधन अपेक्षा गौण समझे जाते थे।

इन लोक-नाट्यों में अधिकांशतः भगवान विष्णु के दशावतार के वृत्तों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित देवताओं की कथाएं स्वीकृत होती हैं। कभी-कभी प्रदर्शन के लिए उनसे बाहर लोक जीवन की कथाओं को भी अपना लिया जाता है। ये कथाएं गीतों के माध्यम से अग्रसर होती रहती हैं। जिस प्रकार नाटक में पात्र संवाद के लिए ग्रंथ

---

१ डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृष्ठ १७

२ डा० बलवन्तगुप्त—Indian Theatre—The Folk Tradition

रस की। इनमें से आल्हा ऐसा वीर-गीत है जो समाज के आलस्य तथा निष्क्रियता को उन्मेषित करने में विशेष सक्षम रहा है। अन्यों से प्रेम और वैराग्य के कोमल भाव ही मिलते रहे हैं। गोपीचन्द का वैराग्य बंगाली उड़िया भोजपुरी पंजाबी मराठी गुजराती और दूसरी भाषाओं के लोक-काव्य गीत प्रेम काव्य का विषय रहा है और अबभी वैरागी भिखारियों के द्वारा हिन्दुस्तान और दक्षिण मे गाया जाता है। डा चटर्जी का यह कथन यद्यपि गोपीचन्द के सम्बन्ध मे ही है [1] किन्तु यह राजा भरथरी पूरनभगत ढोला आदि सभी के साथ सत्य है।

निष्कर्ष

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों मे हमारी परम्परागत भावनाएँ, आचार विचार स्वभाव आदि तो छिपे हुए ही हैं परन्तु उनमें संगीत तत्त्व भी कम नहीं है। उसके भी मूल तत्त्व उसमें घने-मिले हैं। फलस्वरूप उनमे साहित्यिक गीतों के स्रोत के साथ संगीत के स्रोत भी प्रवाहित हैं। 'धीरे बहो गंगा' की भूमिका-अंश मे इस तथ्य पर डा वासुदेवशरण अग्रवाल ने विशेष बल दिया है—

"भारतीय संगीत के प्राचीन इतिहास और विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न भिन्न स्थानों मे और जातियों मे पाए जाने वाले गीतों के स्वर-ताल का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।"

उसी ग्रन्थ मे 'लोक-गीत की परख' के अन्तर्गत श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतीय संगीत पर उसका महान् आभार माना है—

'हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि लोक-गीत पहले संगीत है फिर कुछ और। अन्य देशों में लोक-संगीत के अनुसन्धान तथा पुनरुद्धार मे बड़े-बड़े संगीतज्ञों ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय देकर इसके द्वारा देश की वास्तविक आत्मा को गौरव प्रदान किया है। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है। हम इतना ही जानते हैं कि शास्त्रों में मार्गी और देशी इन दो भागों में संगीत को विभक्त किया गया है पर यह बात भी छिपी हुई नहीं कि मार्गी संगीत के विकास में देशी संगीत ने काफी हाथ बटाया होगा। श्री डी पी मुकर्जी के मतानुसार ठुमरी टप्पा दादरा कीर्तन

---

1 Gopichanda s renunciation is the theme of a large mass of folk poetry songs ballads and romances in Bengali Oryia Bhojpuri Hindi Punjabi Marathi Gujrati and other languages and is the subject even now sung other by itiverant Yogi beggars in Hindustan and Deccan

Dr S K Chatterjee—The Origin and Development of the Bengali language Vol I Page 121 (Edition 1926)

भजन इत्यादि 'देसी' या 'लोक-गीत' के भागी हैं।

विद्वानों के उपर्युक्त अभिमत से लोक-गीतों का महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट है। सांस्कृतिक साहित्यिक और संगीतिक मूल स्रोतों और तथ्यों से अवगत होने के लिए हमें लोक-गीतों को ही परखना पड़ेगा यह ध्रुव सत्य है।

लोक-नाट्य में गीत

शिष्ट नाट्य प्रस्तुत होने से पूर्व हमारे देश में लोक-नाट्य की परम्परा विद्यमान रही है, कल्पनात्मकता के अभाव में उनमें आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके शिष्ट नाट्य कला का सूत्रपात किया गया है इसका यह नवीन स्वरूप ही रसात्मक और सम्भ्रान्तों की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है जिससे अभिप्रेरित होकर ही भास कालिदास अश्वघोष भवभूति आदि ने अपने-अपने नाटकों की रचनाएँ की थीं जिनको साहित्यिक प्रतिष्ठा के साथ शिष्ट रंगमंच का सम्मान भी मिला। इसकी विकास की प्रगति के साथ लोक-नाट्य की गति-विधि अवरुद्ध नहीं हो गई, वह भी उसका समानान्तर प्रवाह रूप से अपने को अक्षुण्ण किए रही। जन जीवन के मनोरंजन का एकमात्र साधन होने के कारण उसका प्रकाश निष्प्रभ न हो सका।

पालि प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यों से लोक-नाट्य के तत्त्व मिलने से यह सिद्ध है कि वह समाप्त ही रहा है। अनन्तर देशी भाषाओं के विकास के साथ उनमें अपने स्वरूप से इन्हें नाटक रचने और अभिनय करने की प्रेरणाएँ दीं। ये लोक-नाट्य सम्पूर्ण देश में प्रचलित थे और आज भी किसी न किसी रूप में जन जीवन के मनोरंजन की व्यवस्था कर रहे हैं।

'हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन-नाटक पद्धतियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा और कीर्तनियाँ नाटक, बिहारी में बिदेसिया, अवधी पूर्वी हिन्दी ब्रज तथा खड़ीबोली में राम लीला स्वांग और राजस्थानी में रम्मत, झूमर, ढोला मारू, गुजराती में भवाई, महाराष्ट्री में ललित और तमाशा, आंध्र प्रान्त में भगवतमेल आदि नाटक विद्यमान थे। जन-नाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्य भाग प्राय: उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व न था और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे।

इन लोक-नाट्यों में अधिकांशतः भगवान विष्णु के दशावतार के कथा के अतिरिक्त प्रतिष्ठित देवताओं की कथाएँ स्वीकृत होता है। कभी-कभी प्रदर्शन के लिए उनसे बाहर लोक-जीवन की कथाओं को भी अपना लिया जाता है। ये कथाएँ गीतों के माध्यम से अग्रसर होती रहती हैं। जिस प्रकार नाटक में पात्र-प्रवेश के लिए इस

---

१ डा॰ दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृष्ठ ४३
२ डा॰ चन्द्रभानगुप्त—*Indian theatre—The Folk Tradition*

का प्रयोग करते हैं इनमें उनके स्थान पर गीत का उपयोग होता है। इस प्रकार ये गीत बहुल होते हैं।

उपर्युक्त में 'यात्रा' और 'रास' दोनों की दीर्घ परम्पराएँ हैं जो हमें अतीत युग में पहुँचाती हैं। रास-अपभ्रंश के रासक ग्रन्थों पर आधारित रहने के कारण हमें अपभ्रंश काल में और 'यात्रा' वैदिक काल से पूर्व काल में ले जाता है। 'यात्रा' में देव प्रतिमा को लेकर चलते हैं और उपासक गण नृत्य संगीत और वाद्य द्वारा उस देवता की कथा का गान करते चलते हैं। यह पद्धति हमने उस समय ग्रहण की होगी जब हममें दासत्व की भावना जाग्रत हुई होगी। वेदकाल में तो इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं ही किन्तु वह उससे पूर्व अवश्य रही होगी।

'यात्रा-नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक काल से भी पूर्व विद्यमान रहा होगा। देव प्रतिमा के जलूस के साथ इसका सम्बन्ध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव-इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा जब संसार की विभिन्न जातियाँ प्रारम्भ में अपने उपास्य देव की प्रतिमाएँ जलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय करती थीं।'[१]

इस प्रकार यात्रा की परम्परा वेद-काल से लेकर आज तक अक्षुण्ण है और अपने साथ नृत्य संगीत और अभिनय के तत्त्वों को भी सुरक्षित किए है। अपभ्रंश के रासक काव्यों के तीन प्रवाह है—(१) जैनाचार्यों के वृत्त (२) वीरों के वृत्त और (३) शृंगार वृत्त। प्रथम के अन्तर्गत नेमकुमार रास नेमिरास आदि द्वितीय के अन्तर्गत भरतेश्वर बाहुबलिरास समरसिंह रास आदि और तृतीय के अन्तर्गत सप्तकुटरास ताल रास आदि आते हैं। इसके आगे भी जैन धर्म के रासक ग्रन्थों की परम्परा चलती रही है। इनमें उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।

रासक काव्य अभिनीत भी होते रहे हैं इस सम्बन्ध में अब्दुलरहमान का अपने 'सन्देश रासक' में यह कथन है, 'कहीं पर चतुर्वेदी (चारों वेदों के मर्मज्ञ) वेदों की व्याख्या करते हैं और कहीं बहुरूपिये अर्थात् अभिनेता सुसम्बद्ध रासकों का कथोप कथन रूप में प्रदर्शन करते हैं।'[२] इस कथन से यह स्वतः स्पष्ट है कि रासक काव्यों का जन-जीवन में अभिनय होता रहा है। धर्म-प्रचार की भावना के लिए इस पद्धति

---

१ डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृष्ठ ४४

२ कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ।
बहुरूबि णिबद्धउ रासउ भासियइ॥

इसी की एक व्याख्या में इस प्रकार अर्थ मिलता है—

क्वापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते।
क्वापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते॥४३॥ —(सन्देश रासक

डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास से उद्धृत पृष्ठ ८

को उपयुक्त समझ कर ही जैनाचार्यों ने अधिकाधिक रासक काव्य लिखे हैं।

इस स्थल पर यह प्रश्न विचारणीय है क्या सभी रासक या रासो काव्य जो जैनाचार्यों और उनके अतिरिक्त जैनेतर कवियों के द्वारा रचित हैं (जैसे बीसलदेव रासो खुमाण रासो पृथ्वीराज रासो आदि) अभिनीत हुए हैं ? मेरा तो यह विश्वास है कि न तो जैनाचार्यों के और न इतर कवियों के सभी रासो काव्य रंगमंच पर आए होंगे। प्रारम्भ में उनका इस रूप में उपयोग भले ही आता रहा हो किन्तु अनन्तर विद्वानों ने इसे काव्य के लिए उपयोगी शैली समझ कर रासो-परम्परा को जीवन-दान दिया होगा।

यह सम्भव है कि अन्यों की अपेक्षा मधुर और प्रेमपरक रासक या रास काव्यों का अभिनय होता रहा हो और उसी की अविच्छिन्न परम्परा को मध्यकाल में कृष्णोपासक भक्तों ने अपना लिया हो। ब्रज में रास-परम्परा को पुष्ट करने के लिए स्वामी हरिदास हितहरिवंश और आचार्य वल्लभ ने पूर्ण प्रयत्न किया। अनन्तर कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाएँ इन रास-नाटकों का विषय बन गईं। आगे चलकर रामोपासक भक्तों ने भी अपने सम्प्रदायों में रास की प्रतिष्ठा की और उनका प्रदर्शन हो उठा।

इन रास-नाटकों में शिष्ट नाटकों के समान सुसज्जित रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। मंच पर सभी अभिनेता बैठे रहते हैं और कथासूत्र के अनुसार अपने अंश का गान करते हुए अभिनय करते हैं। इनके द्वारा भी धार्मिक भावनाओं के साथ नृत्य और संगीत की परिपाटी सुरक्षित रही है।

लोक-नाट्यों के इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहने का साहस किया जा सकता है कि उनके द्वारा नृत्य संगीत और अभिनय को संरक्षण मिलता रहा है। उनकी लोक-प्रियता से आकर्षित होकर सहृदयों ने इन गीति-नाटकों की रचना की जिनके अभिनय से जन-जीवन रंजन का अनुभव करता रहा और आज भी करता है।

इन गीति-नाट्यों का प्रभाव साधारण जन-जीवन तक ही सीमित नहीं रहा है। चिरकाल से व हमारे जीवन से गुंथे हुए हैं। उनसे नाटक और नृत्य तो अभिप्रेरित रहे ही हैं, किन्तु उनसे भी अधिक उनके द्वारा हमारी गीति-परम्परा को प्रेरणा म-- बल मिलता रहा है। इस प्रकार लोक-नाट्य साधारण जीवन से लेकर सम्भ्रान्त जीवन को भी चिर-आभारी किए हुए हैं।

लोक-साहित्य और लोक-नाट्य के गीत की अभिप्रेरणा

लोक-साहित्य और लोक-नाटकों में गीतों के उपयोग में विषमताओं की अपेक्षा साम्य अधिक है। लोक-गीतों में अभिनय तो नहीं होता किन्तु लोक-नाट्यों के गीतों के समान उनमें संगीत के तत्त्व अवश्य होते हैं। यह एक ऐसी भूमि है, जहाँ

दोनों की समान प्रतिष्ठा है। कथात्मक अंश होने के कारण लोक-नाट्य के गीतों को लोक-गीत के अन्तर्गत प्रबन्ध-गीतों में सरलता से लिया जा सकता है।

दोनों प्रकार के गीतों का निर्माण अपढ़ और असंस्कृत जन-जीवन द्वारा किया गया है, जिसके मानस न परिमार्जित होते हैं और न शिष्ट जीवन से परिचित ही। इससे उनमें परिष्कृत कलात्मकता का अभाव रह जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य के होते हुए भी उनकी भाव-पद्धति शास्त्रीय संगीत को अभिप्रेरणा देती है।[1] यों साहित्यिक गीत के तत्त्व भी उसमें विद्यमान हैं किन्तु 'लोक-गीत' पहले संगीत है फिर कुछ और। डा० देवेन्द्र सत्यार्थी के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ।



1 Classical music picks up the thread where folk music leaves it In folk music there is no conscious aim of understanding the musical weaving of tones or of extending it further for artistic effect The evolution of folk music is inherently a process of an unconscious synthesis of musical material both good and bad Classical music on the other hand leaves nothing to chance, makes a conscious effort of isolating the good material from the bad and always aims at an intellectual understanding and interpretation of such material for further artistic effect When such material is subjected to a conscious analytical process it becomes evident that the various musical elements and operations hinge upon certain physical laws of broad and universal nature

G H Ranade—Hindustani Music The unities of Indian Music Chapter V Page 81

२

संगीत और उसकी नवीन परिणति

विषय प्रवेश—पिछले दोनों अध्यायों के अनुशीलन के मध्य में यत्र-तत्र यह कहा जाता रहा है कि गेय काव्य संगीत से सम्बद्ध है। इस कथन के यथार्थतम तक पहुँचने के लिए संगीत और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन अनिवार्य है। एतत् स्वरूप संगीत और तत्सम्बन्धी राग रागनियाँ ऐतिहासिक प्रगति मध्यकाल में नवीन परिणति हिन्दी-काव्य पर पड़े प्रभाव आदि तथ्यों का विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

गीत के शब्दों में समाहित कवि की आत्माभिव्यंजक भावनाएँ स्वर-साधना के माध्यम से प्रस्फुटित होती हैं।[1] इसमें शब्दों की अपेक्षा स्वरों का ही अधिक मूल्य है, जिसका आरोहावरोह ही उसकी मूलगत भावनाओं का बिम्ब प्रस्तुत कर देता है जिससे वह अधिक ग्राह्य और मनोरम हो जाता है। संगीत में गीत के स्वरों के आधार पर वादन ध्वनित और नर्तन भंगिमाओं का प्रस्फुटन कर उसे सजीव बना देता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों का अलग-अलग क्षेत्र होते हुए भी 'संगीत'[2] संज्ञा के लिए उनका मिलन अनिवार्य है।

संगीत के दो भेद हैं—(१) मार्गी और (२) देशी। 'मार्गी' संगीत पूर्णतम दैवी है जिसे ब्रह्मा ने जन्म दिया और भरत मुनि ने महादेव के समक्ष प्रस्तुत किया। अनन्तर देवताओं के मध्य में इसका अभ्युदय हुआ। दैवी स्वरूप के कारण जन-धर्म को यह बोधगम्य न हुआ। फलतः यह उसके उपभोग का साधन न बन सका। इस कठिनाई के कारण मार्गी संगीत का सर्व सुलभ संस्करण 'देशी सङ्गीत' जनके मध्य में व्यापक बना और अधिकाधिक उसके उपयोग में आया। देश के प्रत्येक भाग में

---

१ 'सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।'

महादेवी वर्मा—सान्ध्यगीत—अपनी बात

२ गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीत मुच्यते

शार्ङ्गदेव—संगीत रत्नाकर १ २१

गीतं वाद्यं नर्तनञ्च त्रयं संगीतमुच्यते

दामोदर—संगीत दर्पणम् १ ३

वहाँ की व्यवहृत रीतियों और प्रणालियों के अनुसार इसने वहाँ के निवासियों को रंजन किया। फलतः इसकी 'देश संगीत' की संज्ञा सार्थक हुई।[1]

संगीत की राग-रागनियाँ ही काव्यान्तर्गत गीतों में प्रतिष्ठित हुई हैं। फलतः काव्य और संगीत का सम्बन्ध विवेचित करने से पूर्व उनकी प्राण-प्रतिष्ठा का आधार और उनके परिवार से परिचित हो लेना आवश्यक है।

रागोत्पत्ति के साधन

राग की उत्पत्ति में नाद उत्पन्न होने के शरीर के विभिन्न स्थल श्रुतियाँ सात शुद्ध स्वर पाँच विकृत स्वर तथा वादी संवादी अनुवादी विवादी चार स्वर-भेद सहायक होते हैं।[2]

(क) नाद

संगीत का नाद से मुख्य सम्बन्ध है। गीत वाद्य और नृत्य आदि तीनों ही नाद माध्यम से संगीत के स्वरों का निर्माण करते हैं। केवल संगीत ही नहीं किन्तु हमारा सम्पूर्ण दर्शन और आध्यात्मिक चिन्ताओं का आधार भी नाद ही है।[3]

नाद से वर्ण वर्ण से पद पद से भाषा और भाषा से सम्पूर्ण विश्व का व्यव-

---

१ मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदय प्रदः
देशे देशे जनानां यद् रुच्या हृदय रञ्जकम्॥
गीतं च वादनं नृत्तं त्रयं संगीतमभिधीयते।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च॥ —संगीत रत्नाकर १ २२ २४
मार्गदेशी विभागेन संगीतं द्विविधं मतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्॥
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरंजनम्।
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते॥ —संगीत दर्पणम् १ ६-८

२ शारीरं नादसंभूतिः स्थानानि श्रुतयस्तथा।
सप्त शुद्धाः स्वराः सप्त विकृता द्वादशाप्यमी॥
वादादिभेदश्चत्वारो रागोत्पादनमहत्वम्॥ —संगीत दर्पणम् १-७-८

३ गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्॥
—संगीत रत्नाकर—पि० प्रकरण १

हार है। फलस्वरूप सब विश्व ही नादाधीन है।[1]

नाद के दो भेद हैं—(१) आहत और (२) अनाहत।[2] मुनि और साधक 'अनाहत' या अनहद की साधना करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसमें उन्हें गुरु से यथेष्ट सहायता लेनी पड़ती है।[3] इसके विपरीत 'आहत' नाद से ही संगीत के स्वर ग्राम और मूर्छनाओं आदि का निर्माण है। यही लोक रंजन का कारण है।[4]

'नाद' शब्द में 'नकार' वायु और 'दकार' अग्निसूचक वर्ण है। मूलतः वायु और अग्नि के सम्मिश्रण से ही नाद की उत्पत्ति होती है।[5] प्राण की वायु की प्रेरणा से चित्त की अग्नि प्रेरित हो उठती है और इस प्रदीप्त अग्नि के प्रभाव से ही ब्रह्मग्रन्थि में स्थित वह जग उठती है।[6]

इस प्रकार अग्नि से प्रेरित वह क्रमशः ऊर्ध्वगामी हो उठती है। वह नाभि हृदय कण्ठ सिर, मुख आदि सभी अंगों में प्रसारित हो जाती है। यही मानवीय शरीर में नाद को ध्वनित करती है।[7]

शरीर में तीन प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं—(१) हृदय में 'मन्द्र' (२) कण्ठ में 'मध्य' और (३) शीर्ष में 'तार'।[8] वायु के आघात से हृदय में नाद उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को संगीत शास्त्र में श्रुतियाँ कहा जाता है। इनकी संख्या २२ है[9]—

---

१ नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥ —संगीत रत्नाकर, २

२ आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते । —वही ३

३ संगीत दर्पणम् —१ ११

४ वही —१ १७

५ नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥ —संगीत रत्नाकर—१ ३ ६

६ आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः ।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ —वही—१ ३ ३

७ ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ॥ —वही—१ ३ ४

८. व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥ —वही—१ ३-७

९. तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः ।
दयावती रंजनी च रक्तिका चर्षभे स्थिता ॥
रौद्री क्रोधा च गान्धारे वज्रिकाऽथ प्रसारिणी ।
प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः ॥
क्षिती रक्ता च संदीपिन्यालापिन्यपि पंचमे ।

वहाँ की व्यवहृत रीतियों और प्रणालियों के अनुसार इसने वहाँ के निवासियों को रंजन किया। फलतः इसको 'देश संगीत' की संज्ञा सार्थक हुई।[1]

संगीत की राग रागनियाँ ही काव्यान्तर्गत गीतों में प्रतिष्ठित हुई हैं। फलतः काव्य और संगीत का सम्बन्ध विवेचित करने से पूर्व उनकी प्राण-प्रतिष्ठा का आधार और उनके परिवार से परिचित हो लेना आवश्यक है।

रागोत्पत्ति के साधन

राग की उत्पत्ति में नाद उत्पन्न होने के शरीर के विभिन्न अंग श्रुतियाँ सात शुद्ध स्वर, पाँच विकृत स्वर तथा वादी संवादी अनुवादी विवादी चार स्वर-भेद सहायक होते हैं।[2]

(अ) नाद

संगीत का नाद से मुख्य सम्बन्ध है। गीत वाद्य और नृत्य आदि तीनों ही नाद माध्यम से संगीत के स्वरों का निर्माण करते हैं। केवल संगीत ही नहीं किन्तु हमारा सम्पूर्ण दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तनों का आधार भी नाद ही है।[3]

नाद से वर्ण वर्ण से पद पद से भाषा और भाषा से सम्पूर्ण विश्व का व्यव

---

१ मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्ग स उच्यते।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम्॥
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च॥ —संगीत रत्नाकर १ २१-२४
मार्गदेशी विभागेन संगीतं द्विविधं मतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्॥
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम्।
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते॥ —संगीत दर्पण १ १ २

२ शारीरं नादसंभूतिः स्थानानि श्रुतयस्तथा।
तत शुद्धाः स्वराः सप्त विकृता द्वादशाप्यमी॥
वाद्यादिभेदसंस्थाने रागोत्पादनहेतवः॥ —संगीत दर्पण १-७-८

३ गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्॥
—संगीत रत्नाकर—पि प्रकरण १

हार है। फलस्वरूप सब विश्व ही नादाधीन है।[1]

नाद के दो भेद हैं—(१) आहत और (२) अनाहत।[2] मुनि और साधक 'अनाहत' या अनहद की साधना करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसमें उन्हें गुरु से यथेष्ट सहायता लेनी पड़ती है।[3] इसके विपरीत 'आहत' नाद से ही संगीत के स्वर ग्राम और मूर्छनाओं आदि का निर्माण है। यही लोक रंजन का कारण है।[4]

'नाद' शब्द में 'नकार' वायु और 'दकार' अग्निसूचक वर्ण है। मूलतः वायु और अग्नि के सम्मिश्रण से ही 'नाद' की उत्पत्ति होती है।[5] प्राण की वायु की प्रेरणा से चित्त की अग्नि प्रेरित हो उठती है और इस प्रदीप्त अग्नि के प्रभाव से ही ब्रह्मग्रन्थि में स्थित वह चल उठती है।[6]

इस प्रकार अग्नि से प्रेरित वह क्रमशः ऊर्ध्वगामी हो उठती है। वह नाभि हृदय कण्ठ सिर, मुख आदि सभी पर्वों में प्रसारित हो जाती है। यही मानवीय शरीर में 'नाद' को ध्वनित करती है।[7]

शरीर में तीन प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं—(१) हृदय में 'मन्द्र' (२) कण्ठ में 'मध्य' और (३) शीर्ष में 'तार'।[8] वायु के आघात से ह्रस्व नाद उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को संगीत शास्त्र में श्रुतियाँ कहा जाता है। इनकी संख्या २२ है।[9]—

---

१ नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥ —संगीत रत्नाकर, २

२ आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते। —वही ३

३ संगीत दर्पणम्, —१ १६

४ वही —१ १७

५ नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥ —संगीत रत्नाकर—१ ३-६

६ आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ —वही—१-३ ३

७ ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥ —वही—१ ३-८

८ व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥ —वही—१ ३-७

९ तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः।
दयावती रंजनी च रतिका चर्षभे स्थिता।
रौद्री क्रोधा च गांधारे वज्रिका [illegible]
प्रीतिश्च मार्जनी [illegible]
क्षिती रक्ता च संदीपिन्या [illegible]

तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवती दयावती रंजनी रक्तिका रौद्री क्रोधी वज्रिका प्रसारिणी प्रीति मार्जनी क्षिती रक्ता संदीपिनी आलापिनी मदंती रोहिणी रम्या उग्रा क्षोभिणी आदि।

(आ) स्वर

वेदों में स्वरों का उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीन विभेद करके उनकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। इनकी व्यापक शक्ति के सम्बन्ध में यह कथन है—"स्वर की शक्तियाँ अनन्त हैं और वे आकाश के समान ही व्याप्त होने वाली हैं।"[1] वर्णों से निर्मित काव्य के अंग इतने प्रभावोत्पादक और ग्राह्य नहीं होते जितने संगीत स्वर। संगीत के स्वर किसी भी भावना को सजीव और मधुर बना देते हैं।

'जो नाद ध्वनि आदि उत्पन्न करे और प्रतिध्वनि का रूप धारण करे यदि वह स्निग्ध और रंजक है तो वह स्वर कहलाती है।'

शुद्ध स्वर सात हैं और विकृत स्वर पाँच हैं। स्वरों के आरोहावरोह को 'मूर्छना' कहा जाता है।[3] स्वरों के समूह 'ग्राम' कहलाते हैं।[4] इसके 'षड्ज' 'मध्यम' और 'गान्धार' तीन भेद हैं। इनमें प्रत्येक ग्राम में सात-सात मूर्छनाएँ रहती हैं। श्रुतियों में षड्ज ऋषभ गान्धार मध्यम पंचम धैवत निषाद—सात स्वर माने जाते हैं। इन्हीं के प्रारम्भिक वर्णों से इन्हें स रि ग म प ध नि कहा जाता है।[5] इन स्वरों का निर्माण विविध पशु-पक्षियों की बोलियों पर आधारित है।[1] मयूर की बोली से षड्ज चातक से ऋषभ छाग से गान्धार क्रौंच से मध्यम कोकिल से पंचम

मदंती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्रस्तु धैवते ॥
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती।—सं० रत्नाकर—१।१।३६-३८

१ व्यापिनीर्व्योम रूपा स्फुरणमया स्वर समुदय—शक्तिमीम तंत्र

२ श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ॥

×　　×　　×

स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥—संगीत रत्नाकर १।३।२४-२५

३ मूर्छते येन रागो हि मूर्छनेत्यभिसंज्ञिता।
आरोहणावरोहण क्रमेण स्वर सप्तकम् ॥ बृहद्देशी १४

४ ग्राम स्वरसमूहः स्यान्मूर्छनादेः समाश्रयः—संगीत रत्नाकर १।४।१

५ श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते।
तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥—संगीत रत्नाकर १।३।२३-२४

१ ते पुनः सप्तभिः सार्धं मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः ॥
मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः ॥
च सप्त षड्जादीन्क्रमादुच्चारयन्त्यमी।—वही—१।३।४६-४७

दादुर से धैवत और गज से निषाद—स्वरों का निर्माण है। इन स्वरों से बने अलग हैं। इनके अपने अलंकार[1] और अट्ठारह जातियाँ हैं।[2]

राग-रागिनियाँ

स्वर और वर्णों से युक्त जो ध्वनि मानवीय चित्त का रंजन करे वही राग है।[3] मतंग और कल्लिनाथ के मत से राग के तीन भेद हैं[4]—(१) शुद्ध (२) छायालग और (३) संकीर्ण। शास्त्रीय विधि-विधान से शुद्ध राग विविध रागों के मिश्रण से छायालग और शुद्ध तथा छायालग के मिश्रित स्वरूप से संकीर्ण राग जन-मन का मनोरंजन करते हैं।[5] उपर्युक्त के अतिरिक्त स्वरों के माध्यम से भी रागों के तीन भेद माने जाते हैं—(१) पाँच स्वरों के राग को 'ओडव' (२) छः स्वरों के राग को 'षाडव' और (३) सातों स्वरों से युक्त राग 'सम्पूर्ण' कहलाते हैं।[6]

इनके पारिवारिक स्वरूप के सम्बन्ध में संगीत-शास्त्र में कई मत प्रचलित हैं। सभी मत छः पुरुष राग तो मानते हैं किन्तु सभी के एक ही राग नहीं हैं। इनमें से कुछ उनसे तीस रागिनियों की उत्पत्ति मानते हैं और कुछ छत्तीस किन्तु विभिन्न मतों के आधार पर उनकी एक रागिनियाँ नहीं हैं।

रागोद्भव के सम्बन्ध में यह एक धार्मिक विश्वास है कि शिव-शक्ति मता

---

१ सङ्गीत रत्नाकर १.६

२ सङ्गीत रत्नाकर १-७

३ योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥
रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता ।
भरतकर्पादिभिः का यौगिकी सम्पादिता ॥—मतङ्ग
स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा पुनः ।
रज्यते येन यश्चित्तं स रागः सम्मतः सताम् ॥—संगीत समयसार,
—संगीत रत्नाकर (The Advar Library Series No 43)
पृष्ठ ३ से उद्धृत

४ शुद्धश्छायालगः प्रोक्तः संकीर्णश्च तथैव च—संगीत दर्पणम् २.४

५ तत्र शुद्धरागत्वं नाम शास्त्रोक्तनियमात् रंजकत्वं भवति ।
छायालगत्वं नामान्यच्छायालग लेनरक्ति हेतुत्वं भवति ॥
संकीर्ण रागत्वं नाम शुद्धच्छायालगयुक्तत्वेन रक्ति हेतुत्वं भवति ॥

६ औडवः पंचभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिश्च षाडवः ।
सम्पूर्णः सप्तभिर्ज्ञेय एवं रागस्त्रिधा मतः ॥

—संगीत ...

पर शिव के सद्योजात मुख से 'श्रीराग' वामदेव मुख से 'वसन्त' अघोर मुख से 'भैरव' तत्पुरुष मुख से 'पंचम' ईशानमुख से 'मेघराग' तथा पार्वती के मुख से लास्यमूलक प्रसंग में 'नट्टनारायण' राग की उत्पत्ति हुई है।[1]

शिव से सम्बन्धित यही पुरुष राग कहे गए हैं। तदनन्तर इनमें प्रत्येक से छः रागिनियों की उत्पत्ति है। 'श्री राग' से मालवी त्रिवेणी गौरी केदारी मधुमाधवी पाहाडिका वसन्त से देशी देवगिरि, वराटी तोडिका ललिता हिन्दोली भैरव से भैरवी गुर्जरी रामकिरी गुणकिरी बंगाली सैन्धवी पंचम से विभाषा भूपाली कर्णाटी बडहंसिका मालवी मेघराग से मल्लारी सौरटी सावेरी कौशिका गान्धारी हरशृंगारी नट्टनारायण से कामोदी कल्याणी आभीरी नाटिका सारंगी नट्टहंबीरी रागिनियों की उत्पत्ति है।[2]

'हनुमान मत' से भैरव कौशिक हिन्दोल दीपक श्रीराग एवं मेघराग छः पुरुष राग हैं।[3] भैरवी से बंगाली मधुमाधवी वराडी सिन्धु, भैरवी कौशिक से टोडी खम्भावती गौरी ककुभी गुणकरी हिन्दोल से वेलावती देशाख रामकरी

---

१ शिवशक्तिसमायोगाद्रागाणां संभवो भवेत्।
पंचास्यात् पंच रागाः स्युः षष्ठस्तु गिरिजामुखात्॥
सद्योवक्त्रात्तु श्री रागो वामदेवाद्वसन्तकः।
अघोराद् भैरवोऽभूत्तत्पुरुषात् पंचमोऽभवत्॥
ईशानाख्यान्मेघरागो नाट्यारम्भे शिवादभूत्।
गिरिजाया मुखाल्लास्ये नट्टनारायणोऽभवत्॥—संगीत दर्पणम् २ ६ ११

२ मालवी त्रिवेणी गौरी केदारी मधुमाधवी।
ततः पाहाडिका ज्ञेया श्री रागस्य वरांगना॥
देशी देवगिरि चैव वराटी तोडिका तथा।
ललिता चाथ हिन्दोली वसन्तस्य वरांगना॥
भैरवी गुर्जरी रामकिरी गुणकिरी तथा।
बंगाली सैन्धवी चैव भैरवस्य वरांगना॥
विभाषा चाथ भूपाली कर्णाटी बडहंसिका।
मालवी पटमंजर्या सहैता पंचमांगना॥
मल्लारी सौरटी चैव सावेरी कौशिकी तथा॥
गांधारी हरशृंगारी मेघरागस्य योषितः॥
कामोदी चैव कल्याणी आभीरी नाटिका तथा।
सारंगी नट्टहंबीरा नट्टनारायणांगना॥ —संगीत दर्पणम् २ १४ १९

३ भैरवः कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा॥
श्री रागो मेघरागश्च षडेते हनुमन्मता॥

पटमंजरी ललित दीपक से केदारा कानरा देसी कामोद विहागरा श्रीराग से वसन्ता मालव मालश्री धनाश्री आसावरी मेघराग से मल्लारी देसकारी भूपाली टङ्क गूजरी आदि रागिनियों की उत्पत्ति है।[१]

'रागार्णव मत से भैरव पंचम नाट मल्लार गौड मालव देस ये मुख्य राग है।[२] भैरव राग से बंगाली गुणकिरी मध्यमादि वसन्त धनाश्री पंचम राग से ललिता गुर्जरी देसी वराडी रामकिरी नाट से नट्टनारायण गान्धार सालग केदार, कर्णाट मल्लार से मेघ मल्लार माल कौशिक पटमंजरी आसावरी गौड मालव से हिंदोल त्रिवण आभारी गौरी पद्मंजिका देस से भूपाली कुडायी कामोदी नाटिका वेलावली आदि रागनियों ने जन्म प्राप्त किया है।[३]

उपर्युक्त प्रमुख तीन मतों से विविध राग रागनियाँ व्यवहार में आ उठी है। मानवीय रंजन का मूल सिद्धांत होते हुए भी संगीत के विचारकों ने अपने अपने दृष्टिकोणों से उनमें परिवर्तन और परिवर्धन कर अपनी प्रगतिशील भावना का परिचय दिया है। उनके मध्य में विषमता के उन्मेष का विवेचन वस्तुतः आलोच्य विषय की सीमा के बाहर भारतीय संगीत-शास्त्र से सम्बन्धित है। इस स्थल पर पुनः यह सम्मेलन उचित है कि छः राग और छत्तीस रागनियों का उल्लेख ही विद्वानों को मान्य है।

राग षडत्र रागिण्य षट त्रिंशत चार विग्रहा।
आपता ब्रह्म-वदति ब्रह्माण्याय समुपासते ॥[४]

इस प्रकार छः राग और छत्तीस रागिनियों का ब्रह्मा के विग्रह से जन्म लेना और उनका उन्हीं की उपासना और सम्मान में स्तुति-गान स्वीकार किया गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दैवी आधार आधुनिक युग में अधिक विश्वस्त और मनोवैज्ञानिक न हो किन्तु राग रागिनियों के अस्तित्व और प्रभाव से सभी सहमत हैं और वे सर्वमान्य हैं। उपर्युक्त दैवी प्रमाण के स्थान पर यह सिद्धान्त सरलता से माना जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में मानव ने अपनी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति द्वारा प्रकृति की संगीतात्मकता को संगीकृत कर संगीत का क ख ग सीखा हो और विकासवाद की अभिप्रेरणा से वह उपासनीय हो सका हो। अनन्तर इतिहासकाल में वह प्रगतिशील रहा और आज भी है।

---

१ मैथिल कवि लोचन—राग तरङ्गिणी—द्वितीय तरङ्ग (दरभङ्गा-राजप्रेस)
२ भैरव पंचमो नाटो मल्लारो गौडमालव।
देवाख्यश्चेति षड्रागा प्रोच्यन्ते लोक विश्रुता ॥ —संगीत दर्पणम् २ १८
३ संगीत दर्पणम् २ १९ ४८
४ भारताय पंचम—सार संहिता।
(G C Gangoly at Ragas and Raginis) से उद्धृत

संगीत शास्त्र में राग-वेला और ऋतुओं के सम्बन्ध में भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कौन राग रागनियाँ किस किस समय और ऋतु में गाई जायें। यह सिद्धांत भी सर्वमान्य रहा है किन्तु इसके साथ निम्न विकल्प भी जोड़ दिया गया है—

राजाज्ञया सदा गेया न तु कालं विचारयेत्।

राग रागनियों के द्वारा ही संगीत में 'प्रबन्ध' भी गाने की चर्चा है। इनका अध्ययन प्रस्तुत करना भी विषयान्तर है। केवल इस स्थल पर यह उल्लेख ही समीचीन है कि इन 'प्रबन्धों' का आधार साहित्य-क्षेत्र में स्वीकृत हुआ अथवा इनके नाम से गेय परम्परा का सूत्रपात हो उठा।

यों संगीतशास्त्र में कितने ही प्रबन्धों के विवरण मिलते हैं[1] किन्तु उन सब में न जाकर केवल चच्चरी प्रबन्ध चर्या प्रबन्ध रासक प्रबन्ध आदि के संबंध में विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इनसे हमारा आलोच्य विषय किसी-न-किसी रूप से सम्बन्धित है।

प्रथम अध्याय में सहजयानी सिद्ध सन्तों ने चर्यागीत और जैनाचार्यों ने रासक चाचरि और फागु काव्य लिखकर हिन्दी की गीति पद्धति का सूत्रपात किया—उल्लेख हो चुका है। वस्तुतः उक्त पद्धतियाँ संगीतशास्त्र से ही सम्बन्धित हैं।

'चर्या पद्धड़ी या पाद्धड़ी छन्द में बद्ध होती है, पादान्त अनुप्रास युक्त होता है और उसकी भाव-धारा आध्यात्मिक रहती है।[2] यों उसकी विधि में संगीत विषयक तालों का भी उल्लेख किन्तु काव्य की गेय परम्परा में चर्याओं की संगति बिठालने के लिए ये तथ्य भी पर्याप्त हैं।

चच्चरी वसन्तोत्सव में गेय होती है और देश भाषाओं में रची जाती है।[3] रासक राग ताल के अन्तर्गत गेय होती है। इसके चार भेद हैं (१) विनोद रासक कौतुक की परिस्थितियों में (२) वरद रासक देवताओं की स्तुति में (३) नन्द रासक अद्भुत रस में और (४) कुंकुम रासक करुण रस में गेय होती है।[4]

---

१ संगीत रत्नाकर अध्याय ४ (The Adyar library Series)

२ पद्धड़ी प्रभृतिच्छन्दा पादान्तप्रास शोभिता।
अध्यात्मगोचरा चर्या स्याद्द्वितीयादितालतः॥
—संगीत रत्नाकर अध्याय ४ २९२

३ वसन्ते गीयमाना स्तुतौ दौ च भाषासंयुती।
स्यात् वसन्तोत्सवे गेया चच्चरी प्राकृतैः पदैः॥ वही—४ २९८

४ रासको रागतालेन स चतुर्धा निरूपितः।
विनोदो वरदो नन्दः कुंकुमश्चेति शार्ङ्गिणा॥
हासोपहास्य वचनादिविनोदः कौतुके भवेत्।
प्रकाशसामपद्यात् वरदो देवतास्तुतौ॥

'फागु' की परम्परा का सङ्गीत में यद्यपि उल्लेख नहीं है किन्तु वह अपनी प्रकृति में बहुत कुछ चच्चरी पर ही आधारित है।

संगीत और काव्य

संगीत रंजन और काव्य आनन्द प्रदान करता है जिनकी परिणति रसानुभूति रहती है। तदिपयक कला-कृति में चाहे वह राग रागिनी हो चाहे कविता सामाजिक की इस अनुभूति में जितनी अधिक निमग्नता होती है उतनी ही अधिक उसकी सफलता और सार्थकता आंकी जाती है अन्यथा उसे विफल ही समझना चाहिए।

रस-निष्पत्ति दोनों कलाओं का आधार होते हुए भी उसकी अनुभूति और आस्वादन के क्षेत्र अलग-अलग हैं। उसके लिए सामाजिक को संगीत में स्वरों और काव्य में भावों के आश्रित होना पड़ता है। स्वरों के आरोहावरोह और लय के द्रुत विलम्बित विविध प्रकारों से राग रागिनी की निर्धारित ध्वनियाँ निर्मित होती जाती हैं, जिनके उतार-चढ़ाव और क्रम की स्थितियों में सामाजिक अपनी वैयक्तिकता और चेतना को भूल जाता है। यह स्थिति ही उसकी तदाकार परिणति है और यही सङ्गीत की रस-दशा है। संगीत के स्वरों के समान काव्य में रस-दशा लाने का काम भाव करते हैं। जब काव्य के विविध विषयों के मार्मिक भाव सामाजिक की अन्तश्चेतना को स्पर्श कर उसे तन्मय और निमग्न कर देते हैं तब वह अपने को विस्मृत कर उस भाव-धारा में बह उठता है। उस क्षण प्रस्तुत भावना को वह स्वयं की ही अनुभूति करता है। काव्य में यह स्थिति ही रस-दशा है। दोनों कलाओं के लिए यह रसानुभूति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

यह सत्य है कि संगीत में प्राय: काव्य की छन्दोबद्ध पंक्तियों का गान होता है, किन्तु भावनाओं के समाहित रहने पर भी गायक स्वरों के माध्यम से ही संगीत का सौन्दर्य प्रस्तुत करता है भाव के आधार पर नहीं। भाव के आधार पर सौन्दर्य प्रस्तुत करने का काम तो काव्य का है। इसी से 'रसात्मक वाक्य काव्यम्' और 'रम्यार्थ प्रतिपादक शब्द: काव्यम्' वाक्य की काव्य के अन्तर्गत प्रतिष्ठा है। ये अनिवार्य अङ्ग हैं संगीत के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है। संगीत ने बुझे हुए दीपकों को जगाया है निरभ्र आकाश से जल बरसाया है और मि ति तथा निष्प्राण को सजीव और सप्राण किया है। यह उसकी स्वरोर्मियों का ही प्रभाव है भाव का नहीं। निर्जीव के लिए भाव भावना की बोधगम्यता ही क्या? इससे संगीत स्वर-प्रधान ही सिद्ध होता है।

सप्तमात्र द्विजाध्यस्योद्धाहृत्यामात्यविनिर्मितम् ।
यस्यासौ रामको नाम्नो गीयते चारुभुने रसे ॥
नानारागैर्नवस्थानकामुक वक्त्र भवन् ।
सर्वेषु रागेष्वेषु द्विजपोद्धाहृतलना ॥

काव्य भावों पर आधारित है। इसमें मानव-जीवन के समस्त व्यापारों मानवेतर पदार्थों और चराचर के सम्बन्ध की भावनाएँ सन्निविष्ट रहती हैं। सच तो यह है कि भावनाओं की व्यापक सुलभता के कारण काव्य अन्य कलाओं की अपेक्षा सामाजिक की भावात्मक सत्ता का अधिकाधिक प्रसार करता है, जिससे उसमें शिव-तत्व की उपलब्धि अधिक सरल और स्वाभाविक रहती है। अब यह विचारणीय है कि क्या काव्य के लिए संगीत के स्वरों की आवश्यकता है? वस्तुतः नहीं है क्योंकि काव्य की पंक्तियों के शब्दों का उच्चारण किए बिना मौन पाठ से ही उसकी भावना का आनन्द लिया जा सकता है। काव्यानन्द के लिए आवश्यक नहीं है कि वे स्वर से या लय के साथ पढ़ी जाएँ। इससे यह सिद्ध है कि काव्य में संगीत के स्वरों की आवश्यकता नहीं है।

संगीत और काव्य के मूल तत्वों पर विचार करने से यद्यपि यह स्पष्ट है कि संगीत को काव्य के भावों की और काव्य को संगीत के स्वरों की आवश्यकता नहीं है किन्तु भाव-युक्त और स्वर-युक्त पद की पंक्तियों से संगीत और काव्य अधिक समावोपयोगी और मूल्यवान हो उठते हैं यह निस्सन्देह सत्य है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण दोनों कलाओं में देखा जा सकता है—गायक प्रायः भावपूर्ण गीत ही गाता है और कवि काव्य को मात्रिक या वर्णिक वृत्त के लय के अनुसार ही पढ़ता या ध्वनित करता है। जिस प्रकार गेय पंक्तियों के भाव गायक के लिए कवि के समान मूल्यवान नहीं हैं उसी प्रकार काव्य के वृत्त का लय कवि के लिए गायक के समान मूल्य नहीं रखती है। फिर भी दोनों तत्व अपने-अपने स्थान पर उपर्युक्त हैं और कला की शोभा की अभिवृद्धि करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला के उत्कर्ष के लिए संगीत काव्य तत्व और काव्य संगीत-तत्व को अपने में संजोये हुए हैं। अब यदि यह कहा जाए कि संगीत कला ने काव्य को अपने स्तर पर और काव्य कला ने संगीत को अपने समकक्ष समावृत कर लिया तो यह स्तर ही कला के दो स्वरूप हैं। क्योंकि एकीकरण दोनों स्थितियों में है जिससे दोनों की समान प्रतिष्ठा है। इस समस्थिति पर ही साहित्य में गीत की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

गीत-काव्य के तत्व

गीति-काव्य अपने जीवन के लिए संगीत पर आधारित है। यह हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं। इस स्थल पर संगीतात्मकता आत्माभिव्यंजन विचारों की एकरूपता संक्षिप्तता और मधुर भाषा-शैली के प्रयाग आदि उसके तत्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

संगीतात्मकता (Lyrical Elements)

मानव अपनी सभ्यता के आदि जीवन में सरल और मधुर प्रकृति के मध्य में

रहा। यह स्वयं अलौकिक संगीत से युक्त थी। जब भावातिरेक से बाधित हो मानव उसकी अभिव्यक्ति के लिए विवश हुआ तब अपनी रसानुभूति के अनुकूल ही उसने नाद किया। यह नाद ही साहित्य और संगीत के स्वर बने। तदनन्तर मानव ने साहित्य का सृजन कर डाला और संगीत की परम्परा भी प्रस्तुत कर दी। आदि में काव्य और संगीत परस्पर में गुँथ कर ही चले। वेद इसके प्रमाण हैं—हमारे साहित्य और संगीत के आदि रूप उनमें विद्यमान हैं।

यह प्रारम्भिक रूप क्षणस्थायी ही रहा। इन दोनों को मानव ने शास्त्रीय स्वरूप दे डाला किन्तु लौकिक परम्परा को वह भी न छीन सका। यह दोनों अक्षुण्ण रहे। दोनों के शास्त्रीय विकास के समानान्तर उनका लोक-रूप प्रचलित रहा। इन दोनों का समन्वित रूप ही गीति-काव्य की संज्ञा को प्राप्त कर सका।

आगे चलकर साहित्यिक गीत और लोक-गीत क्रमशः दो भेद हुए किन्तु संगीत की राग रागिनियों के बंधन और स्वरों के आरोहावरोह का परित्याग यह भी न कर सके। इसी से गीति-काव्य के लिए संगीत का बंधन छोड़ सकना असम्भव है।

आत्माभिव्यंजन (Subjectivity)

गीति काव्य की वस्तु कवि के अन्तरतम से उभर कर निःसृत होती है। इससे उसमें कवि की आत्माभिव्यक्ति स्वाभाविक है। गीतिकार वस्तु-वर्णन को अपने गीति-काव्य का विषय नहीं बनाता। वस्तु वर्णन में चित्रण ही प्रस्तुत होते हैं जो किसी भी काव्य की मार्मिकता और स्वाभाविकता के लिए घातक हैं। गीति-काव्य कवि की भावना-जगत की मधुर सृष्टि है इससे उसमें स्थूल को न पिरोकर अस्थूल और सूक्ष्म को ही प्रमुखता देता है।

विचारों की एकरूपता (Centralised Thoughts)

गीति काव्य में विचारों की एकरूपता अत्यावश्यक है अन्यथा काव्य के रस परिपाक में व्यवधान पड़ेगा। उपर्युक्त सत्य वस्तुतः एक ही गीत अथवा एक ही भावना के गीतों के सम्बन्ध में सत्य है अन्यथा विचारों की एकरूपता रह ही न सकेगी। इस तथ्य का मूल उद्देश्य यही है कि एक गीत में एक भाव धारा पिरोई हुई हो। यदि एक से अधिक भाव धाराएँ समाहित हुईं तो वह गीत सरस न होगा। पाठक या श्रोता का मन सरसता के राजपथ को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर जा पहुँचेगा जहाँ काव्यानन्द आकाश-कुसुम होगा।

संक्षिप्तता (Brevity)

आत्माभिव्यक्ति और विचारों की एकरूपता से युक्त गीत में संक्षिप्तता

प्रिय बना। गुरु नानकदेव ने सन्तमत की भावनाओं पर 'सिख सम्प्रदाय' खड़ा कर दिया। ईश्वर में एकनिष्ठ होना और आत्मबल सक्षम करना इस सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्त रहे हैं।

गुरु नानकदेव ने इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इसके प्रथम प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। अन्तिम दसवें गुरु गोविन्दसिंह थे। उनके सिख सम्प्रदाय में गुरु की परम्परा समाप्त हो गई और 'ग्रन्थ साहिब' के सिद्धान्तों की मान्यता की ही परिपाटी चल पड़ी।

ग्रन्थ साहिब

'आदि ग्रन्थ' या 'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिख-सम्प्रदाय का पवित्र ग्रन्थ है। इसमें नानकदेव, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, तेगबहादुर आदि गुरुओं की पवित्र वाणियाँ संगृहीत हैं। छठे, सातवें, आठवें गुरुओं के जिनके नाम क्रमशः हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्णराय थे। उन्होंने किसी प्रकार की रचनाएँ ही नहीं की थी। सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने जाप जी, अकाल उस्तत, विचित्र नाटक, देवी माहात्म्य, ज्ञान परबोध, शिवा चरित्तर और ज़फ़रनामा आदि रचनाएँ की थी, किन्तु उनकी वाणियाँ 'ग्रन्थ साहिब' में संकलित न की जाकर अलग से पुस्तकाकार में संगृहीत कर ली गई हैं।

इस पवित्र ग्रन्थ का संग्रह पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के इंगित से गुरदास ने गुरु-मुखी लिपि में किया था। सम्पूर्ण ग्रन्थ महला १ से महला ९ तक विभाजित है। एक महला में एक गुरु की रचनाएँ संगृहीत हैं। इन गुरुओं के अतिरिक्त कबीर, नामदेव, रविदास, त्रिलोचन, जयदेव आदि की रचनाएँ इसमें उपलब्ध हैं।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में निम्नलिखित रागों में सभी गुरुओं तथा गिरेतर सन्तों की वाणियाँ संगृहीत हैं—

सिरी, मझी, गाझा, गूजरी, देव गंधारी, बिहागड़ा, वडहंस, सोरठि, धना-सरी, टोडी, बैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावलु, गौड़, रामकली, नट, नाराइन, मलार, तुखारी, केदारा, भैरव, बसंत, सारंग, मलार, कानड़ा, कलियान, प्रभाती, बैजावंती आदि।[1]

उपर्युक्त सभी राग सभी गुरुओं द्वारा पंजाबी और हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं। गुरु नानक, अंगद और अमरदास की रचनाएँ पंजाबी में, रामदास की रचनाएँ कुछ पंजाबी और हिन्दी में, अर्जुन और तेगबहादुर की सम्पूर्ण रचनाएँ हिन्दी में की गई हैं।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में गुरुओं-रचित हिन्दी की कविताओं के होने से तो हिन्दी

[1] संत सुधासार—वियोगीहरि, पृष्ठ १११

साहित्य म उनका मूल्य है ही   किन्तु उनमे कबीर नामदेव आदि की कविताओं को भी सुरक्षित रखा है। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस भावना से प्रेरित होकर ही गोस्वामी तुलसीदास से पूर्ववर्ती गुरुओं की वाणी मे पद-परम्परा को देखना है कि उन्होंने कहाँ तक इस विशिष्ट शैली का प्रयोग किया है।

सिख धर्म के प्रथम चार गुरुओं के काव्य को ही मैंने अपने अध्ययन का विषय बनाया है। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव का जन्म-काल १६२ वि० सं० है। गोस्वामी तुलसीदास की कृष्ण गीतावली और राम गीतावली का रचनाकाल १६२८ वि तथा विनयपत्रिका का १६११ वि० है। १६२८ वि मे गुरु अर्जुनदेव केवल आठ वर्ष के बालक ही थे इससे तुलसी के पद-साहित्य के समक्ष उनके काव्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसस उनके काव्य को विवेचना का विषय नहीं बनाया गया है।

१ गुरु नानक (जन्मकाल गुरुवार १ १५२६ वि —आश्विन शुक्ल १ १५९५ वि)—लाहौर के समीप तलवंडी (ननकाना साहब) ग्राम में जन्म हुआ था। उनके पिता क लूचन्द ने उनके अध्ययन की सुव्यवस्था की थी। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से पंजाबी हिन्दी संस्कृत और फारसी का अध्ययन किया था किन्तु बाल्य काल से ही आत्म-चिन्तन के कारण वह एकान्त सेवी बन चुके थे। पिता ने कितने ही व्यवसायो मे आपको डाला किन्तु आप उनमे असफल सिद्ध हुए। अन्त में अपने अभिन्न साथी मर्दाना को लेकर वह यात्रा के लिए निकल पड़े। कुरुक्षेत्र हरिद्वार, काशी कामरूप तथा दक्षिण भारत तथा पश्चिम मे मक्का मदीना की आपने यात्राएँ की थी।

इन यात्राओ मे सर्वत्र ही ईश्वर भक्ति का आपने प्रचार किया और केवल सत्य का अनुसरण करने के लिए कहा। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य अंगद को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया।

पद शैली—गुरु नानकदेव ने अपने जीवन मे कितने ही पदों की रचना की थी जो अब से 'गुरु ग्रंथ साहिब' मे विभिन्न रागों के अन्तर्गत समाविष्ट है। उनके वे पद और श्लोक आदि मर्दाना के रबाब के स्वरो से ध्वनित भी हुए थे।[१] उनकी रच नाओं मे सर्वश्रेष्ठ और सिख-धर्म मे सर्वमान्य उनका 'जपुजी' है इसमें ३८ छन्द है और अन्त में एक श्लोक है, जिसमे उक्त आध्यात्मिक रचना का सार समाविष्ट है। द्वितीय महत्वपूर्ण रचना 'आसा दी वार' है। यह ईश-स्तुति है, इसमे २४ पौड़ियाँ है। 'रहिरास' तथा 'सोहिलो' के अन्तर्गत अन्य गुरुओं के साथ इनके पद का संग्रहीत है जो क्रमश सूर्यास्त और सोने के समय पढ़े जाते है। उनके पदों में बहुत माया नाम गुरु तथा भक्ति विषयक सामग्री उपलब्ध है।[२]

---

१ सन्त सुधासार, पृष्ठ २ १

२ उत्तर भारत की सन्त परम्परा पृष्ठ २९७

अद्वैतवादी सिद्धान्त के समान वह ही केवल सत्य है और विश्व की विविध परिस्थितियों में वह सत्य रहता है। वह अनादि और अनन्त है—

१ओंकार सति नामु करता पुरखु निरभउ।
निरवैर अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।
आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सच॥

—(जपुजी प्रथम तीन पंक्तियाँ)

जपुजी के मध्य में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता निरंजन स्वरूप परमात्मा के सम्बन्ध में गुरु की महत्ता तीर्थाटन तप आदि की निस्सारता धर्म ज्ञान कर्म आदि विषयों पर सामाजिक शैली में नानकदेव ने लिखा है। उसका अन्तिम श्लोक देखिए—

पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु॥
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु॥
चंगिआईआ बुरिआईआ वाचै धरमु हदूरि।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि॥
जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि॥
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥

लौकिक सम्बन्धों के निर्विकारी प्रकृति के उपमान मानव-जीवन के निष्कृति के कितने बड़े साधन और अभिप्रेरक हैं ये उन्हीं सुधी को अनुभूति-गम्य हैं जो जीवन को अलौकिक पथ पर ले चलने के लिए जरा भी चिन्तित और व्यग्र हैं। राम नाम के अभ्यास से भक्त स्वयं का ही कल्याण नहीं करते परन्तु उनके साथ अन्य भी सत्पथ पर लगते हैं।

'जपुजी' सिक्ख-धर्मावलम्बियों की वह गीता है जिसका पाठ और गान जीवन के लिये श्रेयस्कर है।

परमात्मा के बिना जीवन में वास्तविक सुख नहीं। लौकिक विकार सभी प्रकार का अहित करने के लिए उस स्थिति में ही अवसर पा जाते हैं। उसके संयोग से ही दुःख सुख में और पीड़ा आह्लाद में परिवर्तित हो जाते हैं। निस्सन्देह परमात्म मिलन जीवन का सबसे बड़ा संयोग है। नानक की भक्ति भावना और विरह की अनुभूति विचारणीय है—

रागु सारग

हरि बिनु किउ रहिए दुखु ब्यापै।
जिहवा सादु न फीकी रस बिनु बिनु प्रभु कालु संतापै।
जब लगु दरसु न परसै प्रीतम तब लगु भूख पिआसी।
दरसनु देखत ही मनु मानिआ जल रसि कमल बिगासी॥
ऊनवि घनहर गरजै बरसै कोकिल मोर बैरागै।

तरवर बिरख बिहंग भुइअंगम घरि पिरु धन सोहागै ॥
कुचिल कुरूप कुनारि कुलखनी पिर का सहजु न जानिया ।
हरि रसि रंगि रसन नही तृपती दुरमति दूख समानिया ॥
आइ न जावै ना दुख पावै ना दुख दरदु सरीरे ।
नानक प्रभ ते सहज सुहेली, प्रभ देखत ही मनु धीरै ॥
—(सन्त-सुधासार पृष्ठ २४१)

सम्पूर्ण विश्व माया के वशीभूत हो चक्कर काट रहा है। नानक मन को सत्य रूप परमात्मा का भक्त होने के लिए प्रेरित करते हैं और उसी से जीवन की कुशलता माँगते हैं—

रागु सूही

अंतरि वसै न बाहरि जाइ । अंमृत छोडि काहे बिख खाइ ।
ऐसा गिआन जपहु मन मेरे । होवहु चाकर साचे केरे ॥
गिआनु धिआन सभु कोई रवै । बांधनि बांधिया सभु जगु भव ॥
सेवा करे सु चाकर होइ । जलि थलि महीअलि रवि रहिआ सोइ ॥
हम नहीं चंगे बुरा नहीं कोइ । प्रणवतु नानकु तारे सोइ ॥
—(सन्त सुधासार, पृष्ठ २४२)

गुरु नानक की रचनाओं में सात्विक धर्म की सीधी-सादी व्याख्या मिलती है। उन्होंने 'जपुजी' के अतिरिक्त अपनी अन्य वाणियों में आध्यात्मिक अंगों पर प्रकाश डालकर उनका ग्रहण आवश्यक बतलाया है जिससे केवल सिख ही नहीं हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रभावित हुए हैं।

२ गुरु अंगद—(१५६१ वि०—१६०९ वि०)—नानक के मह शिष्य और भक्त लहिणा ही गुरु अंगद के नाम से प्रख्यात हुए। उन्होंने ही गुरमुखी लिपि का प्रचलन किया और उन्होंने ही गुरु नानकदेव के पदों, पौड़ियों और सलोकों का संग्रह कराया था।

पद शैली—गुरु अंगद की अधिक रचनाएँ नहीं हैं। जो हैं भी वे 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' के महला २ में संग्रहीत हैं। वे भिन्न-भिन्न रागों में लिखी गई हैं। इनमें माझ, सोरठ, सूही रामकली और मलार की वारें प्रमुख हैं। सारंग राग की रचना को उन्होंने गुरुमुखी भाषा के निर्मित हो जाने पर आनन्दपूर्वक गाया था।

आत्मसाक्षात्कार को मिलाने में जितना गुरु समर्थ है उतने न सौ चन्द्रमा और न हजार सूर्य। गुरु की महत्ता असन्दिग्ध रूप से प्रशंसनीय है।

आसा की वार

जे सउ चन्दा उगवहि, सूरज चढ़हि हजार ॥

एते चानण होदिआं गुर बिनु घोर अंधार ॥

—(सन्त-सुधासार पृष्ठ २११)

मानव चिन्ता न कर। जब ईश्वर ने जन्म दिया है तब वह पालन भी करेगा। वस्तुतः आत्मसमर्पण की यह सच्ची कसौटी है और भक्त के लिए अपने प्रिय में आश्वस्त हो जाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

रामकली की वार

नानक चिंता मति करहु चिंता तिसही हेइ ॥
जल महि जंत उपाइअनु तिना भी रोजी देइ ॥
ओथै हटु न चलई ना को किरस करेइ ॥
सउदा मूलि न होवई ना को लए न देइ ॥
जीआ का आहारु जीअ खाणा एहु करेइ ॥
विचि उपाए साइरा तिना भि सार करेइ ॥
नानक चिंता मत करहु चिंता तिसही हेइ ॥

—(सन्त सुधासार पृष्ठ २६८)

मानव में ईश्वर का विरह आवश्यक है अन्यथा उसका शरीर और जीव व्यर्थ का भार है—

सिरी राग की वार

जिसु पिआरे सिउ नेहु तिसु आगै मरि चलीऐ।
ध्रिगु जीवणु संसारि ता कै पाछै जीवणा ॥
जो सिरु साई न मिलै सो सिरु दीजै डारि ॥
नानक जिसु पिंजर महि बिरहु नहीं सो पिंजरु लै जारि।

—(सन्त सुधासार पृष्ठ २७७)

गुरु अंगद की प्रेम विरह और वैराग्य की अनुभूत भावनाएँ विविध रागों की ध्वनियों से बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। उनमें प्रयुक्त प्रासादिक भाषा ने तो उनके पदों को और भी मधुर और ग्राह्य बना दिया है।

३ गुरु अमरदास (१५३६ वि०—१६३१ वि०)—गुरु अंगद के अनन्तर सिख-धर्म की गुरु-परम्परा अग्रसर करने का श्रेय गुरु अमरदास को है। यह एक निष्ठ वैष्णव थे। गुरु अंगद की पुत्री बीबी अमरो से नानक के पद का गायन सुनकर यह मुग्ध होगए और अनन्तर गुरु अंगद का उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। यह प्रारम्भ से ही सदाचारी सहनशील और धर्मनिष्ठ थे। उनका स्वभाव भी बड़ा सरस मधुर था।

पद-परम्परा

गुरु अमरदास के भक्ति रस के पद सिख धर्म में बड़े ही प्रिय हैं। उन्होंने

विभिन्न रागों की वाणी में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। उनकी 'आनन्दु' नामक रचना बड़ी ही विख्यात है और अब भी आनन्द-समारोहों में उसका पाठ किया जाता है।

यह सतगुरु के प्राप्त हो जाने से सात्विक आनन्द में पूर्ण है। उत्तम राग और स्वर्ग की अप्सराएँ उस गुरु के गुण-गान करने के लिए प्रस्तुत हो गई हैं।

रागु रामकली

अनन्दु भइया मेरी माए सतिगुरु मैं पाईया ॥
सतिगुरु त पाईया सहज सेती मनि वजीआ वधाईआ ॥
राग रतन परवार परीआ सबद गावण आईआ ॥
सबदो त गावहु हरी केरा मनि जिनी वसाईआ ॥
कहै नानकु अनन्दु होआ सतिगुरु मैं पाईआ ।

—(संत सुधासार पृष्ठ २८२)

भक्त की विचित्र गति होती है वह लौकिक विकारों का परित्याग करके भी वासनाओं को हरि में केन्द्रित कर देता है। रामकली राग में गुरु का कथन—

भगता की चाल निराली।
चाल निराली भगताह केरी बिखम मारगि चलणा ॥
लबु लोभ अहंकार तजि तृसना बहुत नही बोलणा ॥
खनिअहु तिखी वालहु निकी एतु मारगि जाणा ॥
गुर परसादी जिन्ही आपु तजिआ हरि वासना समाणी ॥
कहै नानकु चाल भगता जुगहु जुगु निराली ॥

(संत सुधासार पृष्ठ २८

मानव-जाति की कसौटी ब्रह्म है जो उच्चकुल में जन्म लेने का गर्व करता है, उसे मूर्ख ही कहना चाहिए। एक ही ब्रह्म से सभी वर्णों की उत्पत्ति है फिर ऊँच नीच का प्रश्न क्यों उठता है? इस प्रकार का प्रश्न उठाने वाले ही विकारी हैं कर्म का बन्धन ही जीव को घेरे है उसकी निष्कृति बिना गुरु के कठिन ही नहीं असम्भव है।

रागु भैरउ

जाति का गरब न करियहु कोइ। ब्रह्म बिंदे सो ब्राह्मण होइ ॥
जाति का गरब न करि मूरख गवारा। इसु गरब ते चलहि बहुत विकारा ॥
चारे बरन आखै सब कोई। ब्रह्म-बिन्दु ते सब ओपति होई ॥
माटी एक सगल संसारा। बहुविधि भांडे घड़ै कुम्हारा ॥
पंच ततु मिलि देही का आकारा। घटि वधि को करै बीचारा ॥

कहतु नानक दुहि भोग करमबंधु होई। बिन सति गुर भटे मुकत न होई॥
—(संत सुधासार, पृष्ठ १०४)

ब्रह्म-निष्ठा के विरोधी तत्त्वों और विकारों का गुरु अमरदास ने मुक्त कण्ठ से खण्डन किया है। लौकिक वस्तुओं को हम जितना सत्य और हितकर समझते हैं। उतने ही आध्यात्मिक पथ से हम दूर पड़ते जाते हैं। यह तथ्य ही वह तथ्य है जिसको सन्त-परम्परा के सन्तों के अतिरिक्त अन्य भक्तों ने भी समझा है। इसी को पृष्ठभूमि में करके भक्त कवि आध्यात्मिक भावना की श्रेयस्करता के सम्बन्ध में अनुकूल और कल्याणप्रद कह पाता है।

गुरु अमरदास की वाणी सरस पदावली में ही प्रस्फुटित हुई है। उन्होंने अपनी भावनाओं द्वारा सिख-धर्म के मार्ग को प्रशस्त किया है।

४ गुरु रामदास (१५९१ वि०—१६३८ वि०)—गुरु रामदास गुरु अमरदास के जामाता थे। गुरु-गद्दी पर बैठने से पूर्व उनका नाम जेठा था। उन्होंने अपने जीवन काल में अमृतसर का निर्माण कराया था और सिख धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने मसंद नियुक्त किये थे।

पद-शैली

प्रत्येक राग पर ही इनके पद मिलते हैं। इनका आसा राग का 'सो पुरख' पद बहुत लोकप्रिय और प्रख्यात है। उक्त पद के समान ही सूही राग की छंत के चार पदों का प्रयोग सिख लोग विवाह-संस्कार में करते हैं। विवाह में फेरों के समय उनका गान किया जाता है।

'सो पुरख' में निरंजन और अगम्य से भी अगम्य हरि के माहात्म्य का गान किया गया है। राग के प्रारम्भिक शब्दों के आधार पर ही यह 'सो पुरख' पद कहा जाता है—

रागु आसा

सो पुरखु निरंजनु हरि पुरखु निरंजनु हरि अगमा अगम अपारा॥
सभि धिआवहि सभि धिआवहि तुधु जी हरि सचे सिरजणहारा॥
सभि जीअ तुमारे जी तूं जीआ का दातारा॥
हरि धिआवहु संतहु जी सभि दूख विसारणहारा॥
हरि आपे ठाकुरु हरि आपे सेवकु जी किआ नानक जंत विचारा॥
तूं घट घट अंतरि सरब निरंतरि जी हरि एको पुरखु समाणा॥
इकि दाते इकि भेखारी जी सभि तेरे चोज विडाणा॥
—(संत सुधासार, पृष्ठ ३१)

अमर रूप शरीर में काम क्रोध प्रभृत माया में भरे हुए हैं किन्तु सतकर्मों

की सम्पत्ति से दोनों के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। गुरु से भेंट हो जाने के कारण ही यह जीव हरि भक्ति में प्रवृत्त हो गया। भगवान और नास्तिक भला हरि भक्ति रस को क्या समझे? आस्तिक भक्त ही ब्रह्मानन्द में डूब कर अलौकिक रस का पान करने में समर्थ होता है अन्य नहीं—

रागु गउड़ी पूरबी

कामि करोधि नगरु बहु भरिआ मिलि साधू खंडल खंडा है ॥
पुरबि लिखत लिखे गुरु पाइआ मनिहरि लिव मंडल मंडा है ॥
करि साधू अंजुली पुनु वडा है करि डंडउत पुनु वडा है ॥
साकत हरिरस सादु न जानिआ तिन अंतरि हउमै कंडा है ॥
जिउ जिउ चलहि चुभै दुखु पावहि जमकालु सहहि सिरि डंडा है ॥
हरिजन हरिहरि नामि समाणे दुखु जनम मरण भव खंडा है ॥
अबिनासी पुरखु पाइआ परमेसरु बहु सोभा खंड ब्रहमंडा है।
हम गरीब मसकीन प्रभु तेरे हरि राखुराखु वडवडा है ॥
जन नानक नामु अधारु टेक है हरिनामे ही सुखु मंडा है ॥

—(स. सुधा सार, पृष्ठ १२

रागु सूही-छन्त के प्रथम चार पदों में आध्यात्मिक विवाह की अवस्था प्रस्तुत की गई है। प्रथम पद के प्रथम फेरे में परमात्मा ने प्रवृत्ति कर्म को दृढ़ किया है, द्वितीय पद के द्वितीय फेरे में उसने सतगुरु से भेंट करा दी है। तृतीय पद के तृतीय फेरे में उसने आनन्द-उत्साह और वैराग्य की परम्परा को प्रस्फुटित किया है और अनन्तर चतुर्थ पद के चतुर्थ फेरे में अविनाशी प्रभु का प्राप्ति और ज्ञान के प्रकाश का मन में प्रसार किया है। चतुर्थ पद दृष्टव्य है—

रागु सूही छंत

हरि चउथड़ी लावँ मनि सहजु भइआ हरि पाइआ बलि राम जीउ ॥
गुरमुखि मिलिआ सुभाइ हरि मनि तनि मीठा लाइआ बलि रामजी ॥
हरि मीठा लाइआ मेरे प्रभु भाइआ अनदिनु हरि लिव लाई।
मन चिंदिआ फलु पाइआ सुआमी हरि नामि वजी वाधाई ॥
हरि प्रभि ठाकुर काजु रचाइआ धन हिरदै नामि विगासी।
जनु नानकु बोलै चउथी लावै हरि पाइआ प्रभु अविनासी ॥

—(संत सुधासार पृष्ठ ११२)

सिख धर्म के पूर्व गुरुओं की भावनाओं की परम्परा का पालन गुरु रामदास की वाणी से हुआ है। आध्यात्मिक धर्मों के विस्तृत वर्णन के साथ उनका पदावली में प्रेम और विनय तथा मार्मिकता से स्पष्ट हुआ है।

१

२ सगुणधारा

अ—राम भक्ति-शाखा और पद—हिन्दी काव्य में राम भक्ति का मूल स्रोत अपने तत्त्वों के लिए रामानुजीय सम्प्रदाय का आभारी है। उसके तात्त्विक सिद्धान्त रामानन्द के द्वारा स्वीकृत किए गए। अनन्तर उनकी कुछ मौलिक विचारधाराओं के साथ रामानुजीय सम्प्रदाय का एक नवीन संस्करण रामानन्दी सम्प्रदाय के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार रामानुज का विशिष्टाद्वैत ही एक प्रकार से रामानन्द और उनके अनन्तर के राम भक्त व तुलसीदास तथा अन्य कवियों की दार्शनिक भावनाओं का पोषक रहा।

प्रस्तुत अध्याय का आलोच्य विषय तुलसी से पूर्व की गीति-परम्परा का विवेचन है। वस्तुतः तुलसी से पूर्व हिन्दी में रामानन्द के अतिरिक्त इस शाखा में अन्य कवि हुआ ही नहीं है। इसमें रामानन्द के पदों का विवेचन ही इस स्थल पर उपयुक्त है। रामानन्द पर रामानुज का प्रभाव है और अनन्तर के कवियों पर रामानन्द का। फलस्वरूप रामानुज और रामानन्द की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है।

रामानुज—आचार्य रामानुज का विशिष्टाद्वैत वेदान्त का धर्म और भक्ति परक सम्प्रदाय है। इसके माध्यम से वह वेदान्त के सिद्धान्तों को जन-वर्ग में व्यवहार करने योग्य बना सके यही आचार्य रामानुज की मौलिकता है।

आचार्य शङ्कर का अद्वैत केवल निर्गुण ब्रह्म को ही प्रमुखता प्रदान करता है। उसके अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति आदि का निजी अस्तित्व नहीं है। ये सब अनिर्वचनीय माया के आधीन ब्रह्म के केवल विवर्तमात्र हैं। इसके विपरीत आचार्य रामानुज ने इन सभी की सत्ता स्वीकार की और साथ में निर्गुण ब्रह्म और ईश्वर की अभेदता को प्रमाणित कर उसके सगुण स्वरूप को प्रतिपादित किया। जीव और प्रकृति में चेतन ब्रह्म की चेतना के समावेश से वे ब्रह्म के ही शरीरी भाव अथवा अंशी हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त आचार्य रामानुज ने भक्ति योग को आत्मज्ञान और मोक्ष का साधन सिद्ध किया। इस प्रकार वेदान्त के सम्बन्ध में उनकी निजी मान्यताएँ थीं। उनकी इन विशिष्टताओं ने ही वस्तुतः अद्वैतवाद के आलोचकों और भक्ति मार्ग के प्रचारक मध्वाचार्य वल्लभाचार्य चैतन्य और रामानन्द आदि को विशेष रूप से प्रभावित किया।[1]

ब्रह्म और विशिष्टाद्वैत—रामानुज का विशिष्टाद्वैत भी अद्वैत की सत्ता का ही समर्थन करता है वह अद्वैत होता हुआ भी विशिष्ट है। इससे पहले उसकी विशिष्ट

---

१ डा० देवराज—भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास—'विशिष्टाद्वैत अथवा रामानुज दर्शन' (एकेडमी)

तत्वों पर ही विचार करना उचित है। अनन्तर आचार्य के तात्त्विक सिद्धान्तों के विवेचन में सुविधा होगी।

चित् (जीव चेतन और आत्मा) और अचित् (जड़ प्रकृति और माया)—ये दोनों ही तत्त्व ब्रह्म (ईश्वर परमात्मा परमेश्वर भगवान श्रीराम आदि) में व्याप्त हैं।[1] इन दोनों तत्त्वों का यह विशेष स्वरूप ही ब्रह्म के साथ अभेदता अथवा अपृथक्त्व का परिचायक है। इनका यह गुण इनकी विशिष्टता को प्रकट करने के कारण ही 'विशेषण' है और ब्रह्म से अभेदता के कारण उनमें ब्रह्मांश का होना स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार ब्रह्मांशी होकर ये 'विशेष्य' भी हैं। ब्रह्म अजर, अमर और नित्य है। फलस्वरूप चित् और अचित् भी इन्हीं विशिष्ट गुणों के अधिकारी हुए।[2]

चित् और अचित् की भी दो परिस्थितियाँ हैं। दोनों सूक्ष्म और स्थूल होते हैं। चित् तो सूक्ष्म ही रहता है, किन्तु जब उसका संसर्ग स्थूल से हो जाता है तब चित् की भी स्थूल में ही गणना होने लगती है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व अचित् की स्थिति सूक्ष्म ही थी किन्तु सृष्टि के उपरान्त वह स्थूल हो गई है और स्थूल के अन्तर्गत ही उसकी गणना होती है।

चित् और अचित् ब्रह्म के भी सूक्ष्म और स्थूल दो भेद हुए। इन्हीं के आधार पर ब्रह्म को 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' कहते हैं।

इस प्रकार की प्रतिपादित विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण ही रामानुज का ब्रह्म विशिष्ट है और चित्-अचित् के उसमें ही व्याप्त होने के कारण वह अद्वैत भी है। इसीसे उनके सम्प्रदाय का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा।

जीव

आचार्य रामानुज ने जीवात्मा की निम्न परिभाषा दी है—'जीवात्मा वह स्वरूप है जो देवता और मनुष्य आदि के मध्य में प्रकृति के परिणाम द्वारा प्रस्तुत अन्तर रहित ज्ञान और आनन्द से युक्त हो। जब देवता और मनुष्य का अन्तर, जो कर्म के कारण

---

१ 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'—ईशावास्योपनिषद्

२ अहं बहु स्यामित्यस्यैवार्थभूतप्रकारतयैव विचित्रचेतनाचेतनात्मक प्रपञ्चस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च समवाय। तथा च बहु स्यां प्रजायेयेत्ययमर्थः सम्पन्नो भवति तस्यैवेश्वरस्य कार्यतया कारणतया च नानासंस्थानसंस्थितस्य संस्थानतया चिदचिद्वस्तुजातमवस्थितमिति।

—(रामानुजाचार्य—वेदार्थसंग्रह—११)

"चिदचिद्वस्तुनो शरीरत्वमात्रापृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम् तद्विशिष्टतया ब्रह्मणस्त्वशरीरित्वेन प्रकारित्वं पारमार्थिकमेव"

ब्रह्मसूत्र—आनन्द भाष्य १ १ १

उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है तब उसका वास्तविक स्वरूप रह जाता है जो वाणी से अकथ्य है और जिसको स्वयं आत्मा ही जान सकती है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान स्वरूप है और वह सभी में समान है।[१]

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप बड़ा ही पवित्र और विशुद्ध होता है। वे प्राणी जो छल और कपट रहित होते हैं समदर्शी होते हैं। किसी के प्रति उनके हृदय में उपेक्षा और घृणा की भावना नहीं होती।[२]

इस त्रिगुणात्मक विश्व में आकर जीवात्मा में विकारों का समाहित हो जाना स्वाभाविक है। उस दशा में वह भटक उठती है किन्तु ब्रह्म तब भी सहयोगी रहता है। ब्रह्म के निर्विकार होने से संसार के त्रिगुण उसको प्रभावित नहीं कर पाते। इससे भगवान् को जीव के आत्मसमर्पण में ही उसकी निष्कृति है। फलतः आत्मसमर्पण ही भक्ति की वर्णमाला का प्रथम वर्ण है।

जीव की स्वाभाविक स्थितियाँ निम्न हैं—(१) वह कर्म पर आश्रित रहता है (२) दुःख से पीड़ित रहता है (३) सर्व-ज्ञान नहीं होता (४) उसका निर्वाण भक्ति पर आधारित रहता है।[३]

ईश्वर

ईश्वर संसार के निवर्तन (स्थिरता) का हेतु है जबकि चित् और अचित् उद्भव स्थिति और प्रलय के प्रपंच से युक्त है। समस्त अवगुणों से रहित और अनन्त कल्याणों से युक्त वह, जो स्वयं अन्य वस्तुओं से विलक्षण है और जिसमें अति अन असंख्य कल्याण के गुण भरे हैं वेदान्त में सर्वात्म परब्रह्म पर ज्योति पर तत्त्व परमात्म सत् आदि शब्द-भेद से अन्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवन्नारायण के रूप से अवगत होता है। चित् और अचित् वस्तुओं की अन्तरात्माओं का नियमन करने वाले उसके वैभव का श्रुतियाँ 'तच्छक्ति' 'तदंश' 'तद्विभूति' 'तद्रूप' 'तच्छरीर' 'तत्तनु' आदि

---

१ जीवात्मनः स्वरूपं देवमनुष्यादि प्रकृति परिणामविशेषरूपनानाविध भेद रहितं ज्ञानानन्दैकगुणं तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्य ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम्। तच्च सर्वेषा मात्मानां समानम्।

—(रामानुजाचार्य—वेदार्थसंग्रह—५)

२ विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

—(गीता ५ १८)

३ सम्पादक—श्री कृष्णमाचार्य—'वेदान्त सार' पृष्ठ १४ (अदयार लाइब्रेरी)

धर्मों और समानाधिकरण से प्रतिपादन करती है।[1]

ईश्वर अपने विशुद्ध स्वरूप में ज्ञान और आनन्द की निधि है। उसमें अनन्त गुण हैं। वह इन्हीं गुणों के कारण चेतन और अचेतन पर शासन करता है। ब्रह्म का 'परम पद' जो विष्णु का पूर्ण स्वरूप है कर्मों के आधीन होने के कारण मानव प्राप्त नहीं कर पाता। जब वह कर्म से मुक्त हो जाता है और सत्कर्म तथा पुण्य-बल से जब उसे आवागमन की बाध्यता नहीं रहती तभी उसे विष्णु का वह स्वरूप उपलब्ध हो जाता है।

ईश्वर की निम्न स्थितियाँ होती हैं—(१) निर्विकार रहता है (२) सर्वज्ञ होता है (३) सत्य संकल्प होता है (४) सर्वेश्वर अथवा परमात्मा होता है।[2]

प्रकृति (माया)

आत्मा और प्रकृति के मध्य के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए वायुपुराण का यह कथन है— 'आत्मा आनन्द और पवित्रता-युक्त होती है जबकि प्रकृति दुःख अज्ञान और कलङ्क-युक्त होती है।"[3]

प्रकृति अचेतन है इससे उसमें जड़ता का अंश स्वाभाविक है। प्रकृति के साथ सचेतन जीव का संसर्ग होने के कारण जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की अंशी होती है जैसा पहले कहा जा चुका है। प्रकृति (माया) अपने स्थूल स्वरूप से जीव के विवेक को विनष्ट कर देती है उस स्थिति में उसमें लौकिक विकार प्रभूत मात्रा में समाविष्ट हो जाते हैं किन्तु उसके सत्कर्म और पुण्यों से तथा ईश्वर की जीव की निष्कृति भावना से उसका माया-तत्व तिरोहित हो जाता है। अनन्तर वह भगवान् के कल्याण-पद आध्यात्मिक पथ में सचेष्ट हो उठता है।

---

१ एवं चिदचिदीश्वरात्मकप्रपंचस्योद्भवस्थितिप्रलयसंसारनिवर्तनैकहेतुभूत समस्तहेय प्रत्यनीकतयानन्त कल्याणतया [च स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षण स्वरूपोऽनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगुण सर्वात्मपरब्रह्मपरज्योति परतत्त्व परमात्म सदादिशब्दभेदैर्निखिलवेदान्तवेद्यो भगवान्नारायण पुरुषो- त्तम इत्यन्तर्यामिस्वरूपम्। अस्य च वैभवप्रतिपादन परा: श्रुतयः स्वेतर समस्तचिदचिद्वस्तुजातान्तरात्मतया निखिलनियमन तच्छक्तितदंशतादि भूमितद्रूपतच्छरीरतत्तनु प्रभृतिभि: शब्दैस्तत्सामानाधिकरण्येन च प्रति पादयन्ति।
—(रामानुजाचार्य— वेदार्थ संग्रह १)

२ डॉ० वी० कृष्णामाचार्य—'वेदान्त सार' पृष्ठ १४ १५

३ निर्मलमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमल:।
दुःखाज्ञानमला धर्मा प्रकृतेस्ते न चात्मन:। —(वायुपुराण १-७-२२)

भक्ति और मुक्ति

'भक्ति' शब्द प्रीति का समानार्थी है। किसी के प्रति प्रीति का सृजन उसके सम्यक् ज्ञान पर आधारित होता है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान निर्विकारी होने के कारण भक्ति का अभीष्ट स्वरूप बन जाता है। आचार्य रामानुज का सिद्धान्त है कि शास्त्रों के अध्ययन से तत्त्व ज्ञान का अर्जन कर जो भक्त स्वकर्मों को पूर्ण करता हुआ ब्रह्म के प्रति अपनी निष्ठा रखता है वही भक्ति है। प्रेम से आनन्द की उपलब्धि होती है और वह आनन्द जो ज्ञान पर आधारित होता है वह सुख विशेष ही होता है।[1]

आनन्द स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान में खपने का आशय ही है कि ब्रह्म में लीन हो जाना। इस प्रकार भक्त का अहंकार धीरे-धीरे पलायन कर उठता है। भक्त में अहंकार के विनष्ट हो जाने से वह ब्रह्म के समीप पहुँचकर निर्वाण का अधिकारी बनता है।

त्रिगुणात्मक विश्व में मानव का पाप-पङ्क से कलुषित हो जाना स्वाभाविक है। उसको दूर करने के लिए सत्कर्म करने की परम आवश्यकता है। इन सत्कर्मों की प्रेरणा ब्रह्म के एक मात्र आश्रय में ही जाने से उपलब्ध होती है। यह भी वस्तुतः भक्ति का एक गुण है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥—(गीता १८ ५५)

भक्ति ज्ञान है। यह सभी को आत्मसात कर लेती है। जिस व्यक्ति ने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया उसे ब्रह्म स्वयं अङ्गीकृत कर लेता है। फलस्वरूप उसका ब्रह्म से एकाकार हो जाना स्वाभाविक है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव की अणुता और ब्रह्म की अपनी आत्मा के समान उपासना करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।[2] 'वेदान्तसार' के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में आचार्य रामानुज ने 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'[3] उपदेश दिया है कि जो सत् (ब्रह्म) के प्रति निष्ठा रखता है उसे मुक्ति मिलती है।

---

१ ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानपूर्वकस्वकर्मानुगृहीतभक्तिनिष्ठासाध्यानवधिकातिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपपरभक्तिरेवेत्युक्तम्। भक्तिश्च प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एव। ननु च सुखं प्रीतिरित्यनर्थान्तरम्। सुखं च ज्ञानविशेषसाध्यं पदार्थान्तरमिति हि लौकिकाः। नैवम्। येन ज्ञान विशेषेण तत्साध्यमित्युच्यते स एव ज्ञान विशेषः सुखम्। —(रामानुजाचार्य वेदार्थ संग्रह १४१)

२ अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत—बृहदारण्यक उपनिषद् १ ४-७

३ वेदान्तसार—१ १-७

रामानन्द

रामानुजाचार्य के अनन्तर रामानन्द के व्यक्तित्व ने विशिष्टाद्वैत को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ा। उन्होंने उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों को व्यापक बनाया और व्यावहारिकता प्रदान की। परम्परागत विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों में उन्होंने अपनी कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी सम्मिलित की इससे रामानन्दी सम्प्रदाय के लोग उन्हें उसकी सीमा से बाहर भी मानने लगे हैं किन्तु यह सम्प्रदायगत पक्षपात की विचारणा है निष्पक्ष भावना नहीं। विशिष्टाद्वैत के विचारों में रामानन्द ने समया नुसार जो परिवर्तन और परिवर्द्धन किए वह उनकी मौलिकता अवश्य है किन्तु वह परम्परागत सम्प्रदाय को नवीन दिशा देने के लिए ही है स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रमाणित करने के लिए नहीं।

रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने प्रवर्तक के जीवन का बड़ा ही अति रंजनापूर्ण वर्णन किया है। रामानन्द को राम का अवतार कहा गया है। उनके जन्म से पूर्व ही देवताओं का आकर प्रसूतिगृह का निर्माण प्रादुर्भाव हो जाने पर देवी देवताओं का आगमन रामानन्द के समीप आकर सरस्वती का विलाप आदि के अति शयोक्तिपूर्ण वर्णन है।[1]

रामानन्द के जीवन के सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि श्री पुण्यसदन और सुशीला उनके पिता-माता का नाम है। प्रयाग में उनका जन्म हुआ था। विशि ष्टाद्वैती राघवानन्द उनके गुरु थे और उन्हीं की अनुमति से उन्होंने अपना मत से रामानन्दी सम्प्रदाय चलाया था। उन्होंने सम्पूर्ण देश की यात्रा की और अपने सम्प्र दाय को व्यापक बनाया।

सिद्धान्त

रामानन्द के 'रामार्चन पद्धति' और 'वैष्णवमताब्जभास्कर' दो सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। प्रथम ग्रन्थ राम की अर्चना के बाह्य स्वरूपों का विचार करने वाला कर्मकाण्डी ग्रन्थ है जबकि द्वितीय सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ में श्री सुरसुरानन्द ने रामानन्द से (१) तत्त्व क्या है ? (२) क्या जपना चाहिए ? (३) किसका ध्यान करना चाहिए ? (४) मुक्ति का साधन क्या है ? (५) श्रेष्ठ धर्म क्या है ? (६) वैष्णव कितने प्रकार के हैं ? (७) उनके लक्षण क्या हैं ? (८) वे कैसे कालक्षेप करें ? (९) उनका प्राप्य क्या है ? और (१०) उन्हें कहाँ निवास करना चाहिए ? दस प्रश्न पूछे हैं। रामानन्द ने उनके उत्तर दिए हैं जिन पर उनका रामानन्दी

---

१ भगवदाचार्य—रामानन्द दिग्विजय अध्याय १ से ४ १ आदि।
—(श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर, अलवर)

सम्प्रदाय स्थिर है ?[1]

(१) केवल ब्रह्म ही एक तत्त्व है। अचित् (प्रकृति माया आदि) चित् (जीव) और ईश्वर उसके तीन भेद हैं। अचित् (माया) विकार रहित सम्पूर्ण विश्व का कारण अनेक वर्णों से युक्त त्रिगुणात्मक भगवत्परतंत्र गुणी परार्थी तथा महत्तत्व और अहङ्कार आदि की उत्पादिका है।[2] चित् (जीव) बद्ध नित्य मुक्त तीन प्रकार हैं। यह नित्य अज ईश्वराश्रित और अणु परिमाण है। कर्म और भोगों पर अभिमान करता है।[3] ईश्वर समस्त विश्व का आधार सर्वशक्तिमान संसार का कर्ता धर्ता अविनाशी है। अपने धाम में स्थित केवल श्रीराम ही ईश्वर पद के अधिकारी हैं।[4]

अचित् और चित् दोनों ही ईश्वर के आश्रित होने से सत्स्वरूप हैं। माया ईश्वर से अभिप्रेरित हो सृष्टि का कारण है। इस प्रकार ब्रह्म के ये तीनों तत्त्व अपने स्वरूपों में रामानुज के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करते हैं।

(२) इस सम्प्रदाय में तीन मन्त्र जपने का विधान है—प्रथम श्रीराममंत्र 'रां रामाय नमः' इसमें 'रां' ॐ से भी उत्तम है, जो जगत का आधार है। यह जगत का प्रकाशक उत्पादक एवं अभिव्यंजक नाम रूप अथ गुण स्वरूप एवं मन्त्र आदि इसमें समाहित महाशक्तिशाली विश्व का कारण स्वरूप है। इन विशेषणों से युक्त राम को नमस्कार का विधान है। द्वितीय मन्त्र 'द्वय मंत्र' कहा जाता है इसके दो भाग हैं 'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः'। इसमें सीता और रामचन्द्र दोनों के चरणों के शरण की अभिव्यंजना है और उन्हीं को नमस्कार

---

१ तत्त्वं किं किल कथ्य किमथ शुभकरं चैत्याचैत्यानिमिष्टं मुक्ते किं साधनं
सत्सुमतिमतिमतो धर्म एकोऽस्ति कश्च। कर्माणि चैत्यचास्ते मुरवर कतिधा
सततं किं च तेषां कालक्षेपं किमाप्य कथमुक्तमुक्त कृत्य कार्यो निवासः ॥
—(वैष्णवमताब्जभास्कर—४)

२ नित्याऽचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिः गुणैका। नानावर्णातिम
काया त्रिगुणगुणितसाम्यावस्थाभिधेया निष्पादिका परार्था महदहमिति
सुरम्यते तत्त्वविद्भिः।
(वही—६)

३ अस्त्यप्रयेवमोघ सततपरवशः सूक्ष्मतोऽस्त्यणुरूपो भिन्नोऽबद्धादिभेदैः प्रति
कुणपममी नैकधा सूरिपर्वं। श्री धामस्थामयस्यो निजकृतिफलभुक्महा
योऽभिमानी जीवोऽसौ प्रोच्यते श्री हरिचरणरत तत्त्वजिज्ञासुभेद्य।
(वही—७)

४ विश्वं जात यतोऽस्त्यत्र्यति निलिम यस्य लीनाति अस्मिन् गूर्यो यतन
प्रेमृ सकलमखिलं मासयत्येव देव। प्रभूवीत्या यानि यातोऽभनिरपि सुखं
याति नैवैतरोसौ साक्षी कूटस्थ एको निखिलमृगमृग मनम गणैर्वदो।
(वही—८)

है। तृतीय मन्त्र 'चरण मंत्र' है—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्योददाम्येतद्व्रतं मम।' यह मन्त्र भगवान की प्रसन्नता का सम्पादन और भगवान पर ही हमारा कल्याण निर्भर है यह विश्वास जागृत करता है।

(३) अवतारि रूप दो भुजाओं से युक्त राम का ध्यान करना ही इष्ट है। (४) मुक्ति के साधनों में भक्त को पंच संस्कार रखना आवश्यक है—धनुष-बाण की तप्तमुद्रा ऊर्ध्वपुण्ड्र वैष्णवतासूचक नामकरण श्रीराममंत्रोपदेश ग्रहण और तुलसी कण्ठधारण। इन संस्कारों से युक्त हो भगवान की रामभक्ति करे। श्री रामनवमी श्री जानकी नवमी श्री हनुमज्जयन्ती नृसिंह जयन्ती श्री कृष्ण जन्माष्टमी वामनद्वादशीव्रत आदि समारोहों को सम्पन्न करे। इन सभी के मध्य में भगवान की कृपा होती है जबकि उससे जीव का कल्याण होता है। (५) श्रेष्ठ धर्म में अहिंसा को प्रमुखता प्राप्त है और उसके साथ राम की अर्चना करना और भक्ति की कामना करना श्रेष्ठ धर्म है। (६) चारों वर्णों के लोग जिन्हें मुक्ति की कामना है वैष्णव हैं। भगवान में दया और वात्सल्य गुण है इससे उनकी दृष्टि में जाति-बन्धन नहीं है। (७) जो पंचसंस्कारी है और राम-कथा कहता और सुनता है—यही वैष्णव के लक्षण हैं। (८) त्रिकाल सम्यक ध्यान और भगवत्पूजन करके भक्त को समय बिताना चाहिए। तीर्थों में भी साधु-सङ्गीत करके समय व्यतीत करना चाहिए। (९) सीता सहित राम ही मुमुक्षुओं को प्राप्य हैं। (१०) वैष्णवों के आवास के सम्बन्ध में रामानन्द के ये संकेत हैं कि विरक्त वैष्णव भक्त अयोध्या नन्दिग्राम जनकपुर, चित्रकूट और काशी में निवास करें। गृहस्थ वैष्णव वहीं रहें जहाँ उनके पिता पितामह रहते हैं। यों वह कहीं भी रहें किन्तु सर्वत्र राम की ही पूजा करें आदि।

रामानन्द की विशेषताएँ

रामानन्द ने 'राम' की उपासना पर बल दिया जबकि रामानुजीय सम्प्रदाय में 'श्री विष्णु' की उपासना प्रचलित है। उनके 'ॐ नमो नारायणाय' मंत्र के स्थान पर रामानन्दी सम्प्रदाय में 'रां रामायनमः' का प्रचार हुआ। इनके अतिरिक्त साम्प्रदायिक उपासना में अवश्य अन्तर है। 'श्री भाष्य' होते हुए भी रामानन्द ने ब्रह्मसूत्रों का 'आनन्दभाष्य' किया। ब्रह्म जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में एक ही भावना है। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात रामानन्दी सम्प्रदाय में उच्च और नीच वर्णों की समानता है। भक्ति भावना के क्षेत्र में दोनों समान हैं।

यस्यापुष्पान्नु भुवि वत्सला मे द्विजाग्रजातिर्मनसैव्ययुक्ता। स्त्रियस्तथाप्यपि च विष्णुभक्त्यप्रमत्सर्मपा विश्वसीता॥　　(श्री वैष्णवमताब्जभास्कर १५)

रामानन्द की *'रामरक्षा' 'ध्यान लीला' 'योग चिन्तामणि' 'राम तिलक'* आदि अन्य रचनाएँ भी हैं, जिनमें उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का उल्लेख है। इनमें तन और मन के योग तथा गुरु की महत्ता पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

रामानन्द के पद

रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में उनकी पदावलियाँ भी उपलब्ध हैं। इन पदों में ईश्वर की सम्यता और व्यापकता, जग की असारता, आत्मबोधन के तत्त्व भरे हुए हैं।

भगवान् के बिना जीवन व्यर्थ है। भले ही लौकिक वैभवों से मानव सुखी भले हो किन्तु यम का त्रास उसको पीड़ित करेगा ही।

हरि बिन जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अन्ध मति सोयो रे।
अति उतंग तरु देखि सुहायो, सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे॥
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सुख पाछे सीस धुनि धुनि रोयो रे।
सुमिरन भजन साध की संगति अंतरि मन मैल न धोयो रे॥
रामानन्द रतन जम त्रासैं श्रीपति पद काहे न जोयो रे॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद १)

संसार की असारता भी बड़ी ही दुःखद है। उसके आकर्षण और प्रलोभन मन को मुग्ध करते हैं किन्तु आसक्तावस्था में उनमें कोई सार-तत्त्व न प्राप्त कर आत्मा का आकुल होना स्वाभाविक है। इससे राम ही जीव का प्रमुख आश्रय है।

तात कछू रे संसार।
मेरे राम को नाम अधारा॥ टेक॥
कुछ जीता कुछ पाई। कुछ माहिं रही लपटाई॥
बहु रानी एक नीका होई। ताहु कुछ पावै सोई॥
सुखसागर राजा होइए। नाना विधि के सुख लहिए॥
ऐसा सुख क्यों सुख होई। जाच्या न छूटा सोई॥
मैं मेरी ध्यान लगावै। तासे अलख समाधि न पावै॥
रामानंद गुरु गमि माना। वहीं भिन भिन समझाने॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद ३)

लौकिक सुख तो काल-प्राप्त कर नाश हो जायेंगे जबकि भक्ति ही स्थिर रह जायेगी। जप और उपासना के विधान से ही भक्त को स्वामी का सामीप्य प्राप्त करना चाहिए और ब्रह्मानन्द का आनन्द तो ऐसा अनन्त है जिसका पार करके भी जीव अनुमान नहीं लगा सकता—

सहज सहजै सब गुन जाइला। भगवत भगता एक थिर पाइला॥
मुक्ति महिला जाप जपीला। यों तिमन स्वामी सम रहीला॥
अमृत सुख निधि अंत न पाइला। जीवन ब्राम न कहुँ अघाइला॥
रामानंद मिलि जप रहेला। जब लग रस तब लग पीवैला॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पद ४)

रामानन्द की भावधारा में भक्ति-तत्त्व प्रधान ईश्वर की अनन्यता तथा अद्वै

तता पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। उनकी इन्हीं भावनाओं से अभिप्रेरित होकर कबीर और तुलसी ने अपने अपने मार्ग पर अग्रसर होकर उनकी भावनाओं को व्यापक बनाया। उनके उदार तथा व्यावहारिक सिद्धांतों को लेकर कबीर चले जिससे सामान्य जन-जीवन में अकृत्रिम आध्यात्मिकता के लिए अनुराग बढ़ा। उनके सांस्कृतिक तत्त्वों को लेकर तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र-गान किया जिससे भारतीयता अक्षुण्ण रह सकी। यद्यपि कबीर और तुलसी में अपने-अपने निजी तत्त्व भी थे किन्तु मूलतः रामानन्द तत्त्व ही उन्हें अग्रसर होने के लिए इङ्गित करते रहे।

कृष्णभक्ति-शाखा और गीत

इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय गौडीय पुष्टि मार्गीय राधावल्लभीय और हरिदासी सम्प्रदायों को है। इन सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण की भक्तिपूर्वक अर्चना और उपासना होती है। सभी में माधुर्य भाव का स्वरूप विद्यमान है।

श्री वल्लभाचार्य और शुद्धाद्वैत

वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की अधिष्ठित गद्दी पर बैठकर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को नवीन जीवन दिया था। इनका सम्प्रदाय प्रेम और माधुर्य भावना के आश्रित है। भगवान के प्रति प्रेम और माधुर्य प्रधान भक्ति उसी स्थिति में जागृत होती है जब उनका अनुग्रह हो। भगवान का यह 'अनुग्रह' ही शुद्धाद्वैत के मार्ग का पोषण करता है। इसी से इस सम्प्रदाय को पुष्टिमार्गीय कहा जाता है।

शुद्धाद्वैत में माया विमुक्त ब्रह्म ही जगत का कर्ता-धर्ता है। उससे युक्त यह जगत का कार्य और कारण कुछ नहीं है। माया-विमुक्त ब्रह्म ही 'शुद्ध' है। इसी कारण उसे शुद्धाद्वैत की संज्ञा दी जाती है। पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डालने के लिये ब्रह्म जीव जगत माया और मुक्ति आदि तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

ब्रह्म

आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त से केवल ब्रह्म ही सत्य है जबकि जीव और जगत असत्य है। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म की सत्यता के साथ इनको भी सत्य माना है। पुष्टिमार्ग में अद्वैत भावना का यही आधार है।

अचेतन तत्त्वों से रहित सच्चिदानन्द गुणों से युक्त सर्वव्यापक सभी प्रकार की शक्तियों से स्वतन्त्र और सर्वज्ञ ही ब्रह्म है।[२] इन विशेषताओं से युक्त होने के

---

१ पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्य —अणुभाष्य

२ सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्तिस्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुण वर्जितं ॥ (तत्त्व दीप निबन्ध)

कारण ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है।

उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त केवल श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द रूप हैं। वह नित्य है इससे उनकी लीलाएँ भी नित्य हैं। वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ गोलोक में निवास करते हैं। अपने अवतार में केवल कृष्ण ने जन्म ही नहीं लिया किन्तु उनके साथ सम्पूर्ण आह्लादिनी शक्तियों ने भी स्वरूप प्राप्त किए। गोलोक ही गोकुल के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

जीव

आचार्य वल्लभ के सिद्धांतों से जीव में सत् और चित् नामों तत्वों का समावेश है। ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप के केवल आनन्द तत्त्व के अभाव के कारण वह दुखी होकर भटकता रहता है। भगवान के आनन्द तत्त्व के अस्तित्व में ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य गुण माने हैं। इनके अभाव से जीव दीनता हीनता आपत्ति अहंकार विषमासक्ति आदि में निमग्न रहता है।

आनन्द प्राप्ति के लिए जीव के लिए भगवान का भजन करना आवश्यक है। उस स्थिति में ही वह भगवदनुग्रह का अधिकारी होकर पुष्ट जीव हो जाता है और मुक्ति का अधिकारी होता है।

जगत

यह जगत भी ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सत्य है किन्तु उसमें चित् और आनन्द का तिरोभाव रहता है। वल्लभ सम्प्रदाय में जिस प्रकार जीव नित्य है उसी प्रकार जगत भी नित्य है। उसका आविर्भाव और तिरोभाव भले ही हो किन्तु उसका नाश नहीं हो सकता है। ब्रह्म के सर्वत्र समाहित रहने के कारण जगत में ब्रह्म का स्वरूप ही भासमान होता है।

माया

भगवान की शक्ति माया के (१) विद्या माया और (२) अविद्या माया दो रूप हैं।[1] माया भगवान के वशवर्तिनी है। वह उनको प्रभावित न कर जीव को प्रभावित करती है। प्रथम के द्वारा संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है जबकि द्वितीय जीव को लौकिक विकारों में ग्रस्त रखती है। उसमें विविध दोष उत्पन्न होते हैं और वह भगवान से दूर रहता है।

जीव जब अविद्या माया के प्रभाव को समझकर उससे मुक्त होने का विचार करता है तब विद्या माया का समावेश होता है। कहने का आशय यही है कि जीव म

१ विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ॥ तत्त्व दीप निबन्ध

सद्भावना का विचार केवल विद्या माया पर आधारित है। यह स्थिति भगवत्कृपा अथवा पुष्टि पर आधारित है।

मोक्ष

संसार के दुःखों का नाश और ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही जीव का मोक्ष है। वेद-शास्त्रों के विचारों द्वारा भगवान का सायुज्य अवश्य मिलता है किन्तु वह साधारण और सरल व्यक्तियों के लिए दुस्साध्य है इसी से आचार्य वल्लभ ने जीव को सरल स्वभाव के आधार पर भक्ति करना आवश्यक बतलाया है। उस स्थिति में भगवान की पुष्टि मिलना स्वाभाविक है। इस पुष्टि भक्ति के माध्यम से जीव ब्रह्म की लोकोत्तर लीला के आनन्द का लाभ प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवेचित तात्विक सिद्धान्तों का प्रयोग वल्लभाचार्य की शिष्य प्रशिष्य परम्परा में आज भी विद्यमान है। अष्टछाप कवियों तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों ने प्रेम लक्षणा भक्ति को मूर्त करने के लिए कृष्ण-लीलाओं का बड़ी सहृदयता से गान किया जिससे उन्होंने मधुर पद-शैली को अपने काव्य का आधार बनाया।

इस गीति-शैली के प्रारम्भ होने से पूर्व राधा-कृष्ण की लीलाओं का स्वच्छन्द गान भी देश के वातावरण को मधुर बनाए हुए था। वल्लभाचार्य द्वारा सम्मोहित भेद परम्परा के विवेचन से पूर्व उक्त इङ्गित भावना पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त रूप से इसने हिन्दी को ही नहीं किन्तु देश में प्रचलित कृष्ण-भावना को अभिप्रेरित किया है।

वल्लभाचार्य से पूर्व कृष्ण-लीला-गान

वल्लभ से पूर्व राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान आध्यात्मिक न था। उनके शुद्धाद्वैत के प्रतिपादन में ही राधा-कृष्ण विशिष्ट अलौकिक शक्ति-सम्पन्न कहे गये हैं। निम्बार्क और विष्णुस्वामी सम्प्रदायों में राधा का स्वरूप प्रमुखता प्राप्त किए है अनन्तर वल्लभ ने जो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे राधा को कृष्ण (ब्रह्म) की अभिन्न शक्ति कहा है।

राधा-कृष्ण विषयक विचार किस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए, इसका पूर्व रूप जयदेव का गीत गोविन्द प्रस्तुत करता है। उनके राधा-कृष्ण ईश्वरीय सम्बन्ध से न बँधे होकर शृंगार के लौकिक रूप को प्रस्फुटित करते हैं। इसी परम्परा को विद्यापति ने अपनी पदावली द्वारा व्यापक बनाया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय से जयदेव को कृष्ण और राधा के अभिन्न सम्बन्ध की प्रेरणा मिली। प्रणय के वशीभूत हो वे किस प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं इसका स्थूल रूप उससे सिद्ध हो जाने के कारण जयदेव ने उनकी लीलाओं को शृंगार परक ही वर्णित किया है। नायक और नायिका के अनुकूल चरित्र मिल जाने पर भी

जयदेव से पूर्व पूर्वीय प्रान्तों में सिद्ध और निर्गुणीय सम्प्रदायों के साधक विविध राग रागनियों में आत्मा-परमात्मा के गान गा ही चुके थे इससे उनको उनकी गेय परम्परा की शैली ग्रहण करने में कठिनाई नहीं हुई।

गीति-काव्य की परम्परा पूर्व में ही विद्यमान न थी किन्तु पश्चिम में भी अव्याहत थी। काश्मीर के कवि क्षेमेन्द्र ने भी कृष्ण विषयक गीतों का निर्माण किया था।[1] इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की कृष्ण राधा विषयक परम्पराएँ सूरदास जैसे ब्रजभाषा के प्रथम कवि को उत्तराधिकारस्वरूप प्राप्त हुई। उन्हें आचार्य वल्लभ की शिक्षाओं को राग रागनियों की शैली में पिरोने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

जयदेव की गीत गोविन्द की परम्परा को मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास ने अपनी-अपनी पदावलियों में प्रतिष्ठा दी। महाप्रभु चैतन्य इन तीनों की पदावलियों में ब्रह्मानन्द की अनुभूति करते थे।

विद्यापति चण्डीदास श्री गीत गोविन्द।
एइ तीन गीते कराय प्रभुर आनन्द ॥[2]

जयदेव—गीतगोविन्द और गीति-शैली

जयदेव का जन्म केन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था।[3] भोज पिता और वामा माँ थी। उन्होंने पराशर आदि जैसे बन्धु के गाने के लिए गीतगोविन्द के काव्य का निर्माण किया था।[4] उमापति धर शरण आचार्य गोवर्धन धोयी आदि कवियों के वह सम कालीन थे।[5] इनके साथ वह भी राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। लक्ष्मणसेन का

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृष्ठ १६६

२ हंसकुमार तिवारी – बंगला और उसका साहित्य पृष्ठ ६० (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

३ वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन।
केन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणी रमणेन।—(गीतगोविन्द तृतीय सर्ग)

४ श्री भोजदेवप्रभवस्य वामा—
देवीसुतस्य श्री जयदेवकस्य
पराशरादि प्रियबन्धुकण्ठे
श्री गीतगोविन्दकवित्वमस्तु।—(गीतगोविन्द द्वादश सर्ग)

५ वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते।
शृंगारोत्तरसत्प्रमेय रचनैराचार्यगोवर्धन
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतस्त्रिभुवने धोयी कवि क्ष्मापति ॥
—(गीतगोविन्द प्रथम सर्ग)

राज्यारोहण १११६ ई० है। इससे इस समय के उपरान्त ही इनका राजाश्रय में आना प्रमाणित है।

जयदेव ने गीतगोविन्द के अन्तिम सर्ग में कहा है कि 'संगीतकला में निपुणता वैष्णवभावना का प्राधान्य शृंगार तत्त्वों का परिज्ञान काव्य का चमत्कार यह सभी गुण सज्जनों को एक ही जगह कृष्णभक्त कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' में मिलेंगे।'[1] उपर्युक्त गुणों में 'संगीत कला में निपुणता' और 'काव्य का चमत्कार' ये काव्य के कला पक्ष से तथा 'वैष्णव भावना का प्राधान्य' और 'शृंगार तत्त्वों का परिज्ञान' ये काव्य के भाव पक्ष से सम्बन्धित हैं।

काव्य के उपर्युक्त दोनों पक्षों पर विचार करने से जयदेव की विचारधारा पर प्रकाश पड़ सकेगा। जयदेव जगन्नाथ जी-भगवान की प्रतिमा के समक्ष गीत गाया करते थे। विवाहोपरान्त अपनी पत्नी पद्मावती के साथ वह इस कार्य को करने लगे। इस प्रकार 'गीतगोविन्द' गोविन्द के लिए गाए हुए गीतों का संग्रह है। गीत-गोविन्द के प्रभाव के सम्बन्ध में कितनी ही किंवदन्तियाँ हैं। यदि हम उनको छोड़ दें तो भी काव्य का अन्तस्साक्ष्य कवि की वैष्णव भावना को प्रमाणित करता है।

जयदेव ने काव्य के प्रथम सर्ग में भगवान के दशावतार की वन्दना की है। वन्दना की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए—

श्री जयदेवकवेरिदमुदितमुदारं
शृणु सुखदं शुभदं भवसारं
केशव धृतदशविधरूप
जय जगदीश हरे।

अनन्तर कवि ने एक श्लोक में दशावतारी कृष्ण को पुनः नमस्कार किया है—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

इसी भावना के साथ उनकी वे आस्था प्रधान पंक्तियाँ रखी जा सकती हैं जिनको कवि ने गीतों के अन्त में कल्याण भावना से अभिप्रेरित हो लिखा है।

गोपीनां निभृतनिरीक्ष्य वनिताकांक्षितं चिन्तयन्
अन्तर्मुग्धमनोहरं हरतु वः क्लेशं नवः केशवः

---

१ यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद् वैष्णवं
यच्छृंगारविवेकतत्त्वमपि यत् काव्येषु लीलायितं
तत् सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः—(गीतगोविन्द १२ सर्ग)

सम्भाव्य मधुसूदनस्य मधुरे राधामुखश्री मधु—
स्मेर कलासिताञ्चितं दधतु वः क्षेमं कटाक्षोर्मय ।

जयदेव की वैष्णव भावना के समान उसमें शृंगार-तत्त्वों का समावेश भी पूर्ण प्रकार से है। लौकिक शृंगार का प्रत्यक्ष पक्ष उसमें प्रस्तुत है। राधा-कृष्ण की काम केलि, परिरम्भ विलास आदि सभी कुछ कवि द्वारा वर्णित किया गया है।[1] इन शृंगार-तत्त्वों के कारण विवेचक उसे अश्लील और नग्न-वर्णन कहते हैं। इसी से इसे वैष्णव भावना का काव्य न मानकर व शृंगार काव्य मानते हैं।

इस स्थल पर निष्कर्ष रूप से हमें यह कहना है कि शृंगार तत्त्वों के कारण हम इस काव्य को वैष्णव भावना से दूर नहीं ले जा सकते। यह निर्णय हमारा न होकर स्वयं कवि का है। डा० ग्रियर्सन तथा काव्य के अन्य समर्थकों के समान राधा-कृष्ण को आत्मा-परमात्मा का प्रतीक मानना विशेष बौद्धिक प्रतीत होता है। हम उससे सहमत नहीं हैं। यह सम्भव है कि कवि के रचना-काल में आध्यात्मिक भावनाओं के साथ इस प्रकार की भावनाओं का वर्णन अनुचित और अश्लील न समझा जाता हो।

अब काव्य के कलापक्ष पर विचार करना है। जहाँ तक काव्य के चमत्कार का प्रश्न है उसमें यमक और अनुप्रास की सुन्दर और अमित छटा विद्यमान है। मधुर और प्रासादिक शब्दों की योजना करने में कवि बड़ा ही निष्णात है। द्वित्व वर्ण विरहित गीतगोविन्द की रसासिक्त पंक्तियाँ बड़ी ही मधुर और प्रिय लगती हैं। अब रहा काव्य में संगीत का पक्ष। वह भी इसमें पूर्ण रूप से सफल उतरा है। कवि ने अपने से पूर्व सिद्धों और निर्गुणियों की गीति-शैली को अपनाकर राधा-कृष्ण के वियोग और संयोग के गीत विविध राग रागनियों में बद्ध किए हैं।

गीतगोविन्द में मालव-गौड़ गुर्जरी वसन्त रामकिरी कर्णाट, देशाग देशी वराड़ी गोंडकिरी मालव देस वराड़ी भैरवी वराड़ी विभास आदि राग रागनियाँ एवं रूपक नि सार, यति एक ताल एक ताली अष्ट आदि तालों का प्रयोग किया गया है।

वसन्त के दिन थे। राधाकृष्ण को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार गई [illegible] किन्तु कृष्ण के न प्राप्त होने पर वह हार मानकर बैठ गई। काम-ज्वर पीड़िता राधिका से उसी सरस शैली में वसन्त-सौन्दर्य का वर्णन कर रही है—

वसन्त राग-यति ताल

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमल मलय समीरे
मधुकरनिकरकराम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते

---

१ जयदेव—गीतगोविन्द षष्ठ सर्ग द्वादश सर्ग आदि

नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते
उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे
मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेशरकुसुमविकासे
मिलितशिलीमुखपाटलिपटलकृतस्मरतूणविलासे
विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे
माधविकापरिमलललिते नवमालिकजातिसुगन्धौ
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणपुलकित मुकुलित चूते
वृन्दावन विपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते
श्री जयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारं
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारं ॥

कृष्ण के विरह का वर्णन सखी राधा से कहती है—

देसी बराड़ी राग—रूपक ताल

वहति मलयसमीरे मदनमुपनिधाय
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय
सखि हे सीदति तव विरहे वनमाली
दहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति
पतति मदनविशिखे विलपति विकलतरोऽति
ध्वनति मधुपसमूहे श्रवणमपिदधाति
मनसि वलितविरहे निशि निशि रुजमुपयाति
वसति विपिनविताने त्यजति ललितमपि धाम
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम
भणति कवि जयदेवे हरिविरहविलसितेन
मनसि रभसविभवे हरिरुदयतु सुकृतेन ।

काव्य-सौष्ठव से परिपूर्ण जयदेव की यह गीति-शैली भारतीय साहित्य और धर्म को अपूर्व देन है । उनके गीतगोविन्द से ही राधा-कृष्ण के सम्मिलित स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई । उनके काव्य में समाहित मधुर भावनाओं के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान सम्पूर्ण देश में हो उठा और उनके द्वारा प्रतिपादित गीति-शैली कृष्ण-काव्य का एक प्रमुख अङ्ग मान ली गई । इस भाव और शैलीगत विशेषताओं

के कारण जयदेव का भारतीय संस्कृति पर बहुत बड़ा आभार है।

विद्यापति-पदावली

विद्यापति ने अपनी पदावली की रचना से जयदेव के गीतगोविन्द में राधा कृष्ण की प्रवाहित परम्परा को व्यापक बनाया। पदावली की लोकप्रियता के कारण मिथिला के होते हुए भी बंगाल ने उन्हें अपना सफल कवि कहा और हिन्दी भाषी उत्तर प्रदेश ने उन पर अपना अधिकार सिद्ध किया। सच तो यह है कि पदावली में समाहित अप्रतिम मधुरता के कारण वह एक विशेष प्रान्त के होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हैं।

उनकी पारिवारिक परम्परा मिथिला के राज-वंश से सम्बन्धित थी। वह स्वयं राजाश्रय में रहते थे किन्तु हिन्दी की वीरगाथा और रीतिकाल के कवियों के समान उनके काव्य में अधिपतियों की चाटुकारिता में वाणी निष्फल नहीं हुई। इसी से उनके काव्य में सार्वजनीन भावना का उत्कर्ष प्राप्त होता है।

'कीर्तिलता' 'कीर्तिपताका' 'भूपरिक्रमा' 'पुरुष परीक्षा' 'लिखनावली' 'शैव सर्वस्वसार' 'गङ्गावाक्यावलि' 'दानवाक्यावली' 'विभागसार' 'वर्षकृत्य' 'गयापत्तन' आदि उनकी विविध प्रकार की रचनाएँ हैं। यों तो इन सभी रचनाओं की अपनी महत्ता है किन्तु उनका दिग-दिगन्त तक व्यापक यश केवल उनकी पदावलियों पर ही आधारित है।

राधा कृष्ण के प्रेम-गान के लिए विद्यापति असन्दिग्ध रूप से जयदेव के आभारी हैं किन्तु उन्होंने अपनी कोकिल-वाणी से प्रेम की नवीन उद्भावनाओं को देश के कोने-कोने तक में ध्वनित कर दिया इसका श्रेय उन्हीं को है। उनकी राधा भावना जगत की अपूर्व सृष्टि है। उनकी पदावली की मधुरिमा को बंगाल में चण्डीदास ने व्यापकता दी।[1] महाप्रभु चैतन्य ने उसको अपना कीर्तन-गान का आधार बनाया। उनके द्वारा पदावली की यह प्रतिष्ठा हिन्दी के अष्टछाप के कवियों को भी मान्य हुई। सच तो यह है कि उनकी इन पदावलियों ने देश को विशेष रूप से रसाप्लावित कर दिया।

विद्यापति की पदावली के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उसके दो भाग हैं—(१) शृंगारी पद और (२) भक्ति-पद। प्रथम प्रकार के पदों में राधा कृष्ण के संयोग-वियोग के अमर पद हैं, जिनमें मानवीय प्रेम का उद्दाम स्वरूप है। इन्हीं पदावलियों को जयदेव की शृङ्गारिक रति-भावना को अग्रसर करने का श्रेय है। राधा-कृष्ण की इन प्रेम-लीलाओं में आत्मा-परमात्मा का रूपक खोजना, पदावलियों के साथ अन्याय है। इन पदावलियों में वैष्णव भावना ढूँढने वाले सहृदय यह सकते

है कि यह तो एक महाकवि की भावनाओं की उपेक्षा है। इस स्थल पर हमें यह समझ लेना चाहिए कि विद्यापति वैष्णव न होकर शैव थे। उनकी आस्था का स्वरूप उनके द्वितीय प्रकार के पदों में विद्यमान है। इस भाग में शिव दुर्गा गङ्गा आदि की स्तुतियाँ आती हैं। प्रथम प्रकार के गीत यदि मनोरञ्जनों और विवाहोत्सवों में गाए जाते हैं तो द्वितीय प्रकार के गीत धार्मिक कृत्यों के अवसर पर।

अनुखन माधव माधव सुमरइत
　　सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
　　अपने गुन लुबुधाई ।

यदि उपर्युक्त पंक्तियों में शृंगार का सार्थक स्वरूप विद्यमान है तो—

कखन हरब दुख मोर
　　हे भोलानाथ ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब
　　सुख सपनहु नहि भेल हे भोलानाथ ।

इन सर्व सुलभ पंक्तियों से आज भी मैथिल अपने जीवन के पापों और अभावों का प्रक्षालन कर डालना चाहता है।

इन पदावलियों में सच तो यह है कि मानवीय भावनाओं का एक ताना-बाना बुना हुआ है जिससे उनमें सभी श्रेणी के व्यक्तियों के लिए आकर्षण है।

विद्यापति कवि ही न होकर एक सफल संगीतज्ञ भी थे। इसी से उनके दोनों स्वरूप उनकी पदावलियों में स्पष्ट हो उठे हैं। उन्होंने अपनी पदावलियों में मालव धनछी आसावरी मलारी मालवी सामरी अहिराणी केदार, कानल कोलार, सारङ्गी गूजरी बराड़ी ललित नट विभास बसन्त आदि आदि राग रागनियों को प्रयुक्त किया है।

कृष्ण (नायक) राधा (नायिका) को छोड़कर किसी अन्य रमणी में अनुरक्त हो गये हैं। इस दशा में दूती नायिका को धैर्य-धारण का सन्देश प्रदान करती है—

मालव रागे

पुरुब बल अपुरुब भेला तमय
　　मते लेहुओ दूर भेला ॥ १ ॥
काहि निवेदबो कुगत पहु
　　परम हो पर रत भौ लहु ॥ २ ॥ ध्रुवं।
तोंहुँ मानवि भो अभिमानी
　　परजना भो बड़ बड़ हानी ॥ ३ ॥
हृदय-वेदन राखिय गोए

जे किछु करिय गुनिय सोए ॥ ४ ॥
सबहि सासनि पंरम सार
गोरस कह कवि कण्ठहार ॥ ५ ॥[1]

कवि ने उपर्युक्त गीत में अपने नाम के स्थान पर अपनी उपाधि 'कण्ठहार' का उपयोग किया है।

दूती राधिका को संकेत करती है कि चरणों के नूपुरों और मुखरित मेखला की ध्वनि को बन्द करके काले वस्त्र से शरीर को आवृत कर अन्धकार के मार्ग पर चल। शीघ्र ही चल अन्यथा चकोर रूपी 'पिशुन-लोचन' तुझे देख लेंगे। अलकों और अङ्गों की साज-सज्जा मत कर ये सब तुझे बाधक हो उठेंगी। तू प्रेमिका है यह प्रेमी है फिर भूषणों की आवश्यकता क्यों? प्रिय मिलन के लिये उत्सुका अभिसारिका राधा की दूती का कथन देखिये—

कानल रागे

चरण नूपुर उपर सारी मुखर मेखल करे निवारी ॥१॥
अम्बरे समीर देह झपाई चलहि तिमिर तिमिर पथ(हि) समाई ॥२॥ध्रु॥
समुर-कुसुम रभस रसी अबहि उगत कुमुद ससी ॥३॥
माएम काहिन कुमुमि लोरा पिसुन-लोचन भम(ए) चकोरा ॥४॥
अलक तिलक न करब राधे मान्न विलेपन करहि बाधे ॥५॥
तञे मधुरागिनि भो मधुरागे कुपथ नागत भूषन मागो ॥६॥
भने विद्यापति सरस कवि नृपति-कुम-सरोरुह-रवि ॥७॥[2]

रति की सफलता के लिए विद्यापति ने राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग के विविध चित्रण अपनी पदावली के द्वारा चित्रित किया है। मैथिली भाषा का सुगम माधुर्य प्रेम की भावनाओं को सजीव कर देने में सफल हो उठा है। संगीतात्मकता प्रसादिकता मधुरता और काव्य सौष्ठव से युक्त उनकी पदावलियाँ मिथिला की प्रादेशिक सीमा में ही न बँधकर सार्वदेशिक हो गई हैं।

१ सूरदास तो पुष्टि सम्प्रदाय में पद

सूरदास—जयदेव और विद्यापति ने कृष्ण राधा के शृङ्गारिक लीला-गान के स्रोत को देखकर जब सूर विरचित सूरसागर पर दृष्टि जाती है तब अवाक् रह जाना पड़ता है। वह कितनी प्रतिभा लेकर जन्मे थे सहसा सोच सकना कठिन है।

---

१ डा सुभद्र झा—विद्यापति-गीत-संग्रह ११८२
२ डा सुभद्र झा—विद्यापति-गीत-संग्रह १०

माना राधा-कृष्ण की काव्य परम्परा जयदेव और विद्यापति से उन्हें मिली थी माना दार्शनिक दृष्टिकोण उन्हें आचार्य वल्लभ से सुलभ हुए थे माना ब्रजभाषा का आदर्श उन्हें पूर्ववर्ती कवियों से धरोहर स्वरूप मिला था किन्तु ये सब सूर की भावना से कहीं पीछे छूट गए हैं। उन्होंने अपनी सरसता मधुरता और भावुकता से इनको इतना सुन्दर बना दिया है कि ब्रजभाषा में सभी लिखे जाने पर भी वह न मिला गया जो सूर की वाणी के समकक्ष रखा जा सके।

सूर के पास कहने को अधिक नहीं था किन्तु उन्होंने जो कहा—इतनी विविधता से कहा कि मानव उसका अन्य स्वरूप सोच ही नहीं सकता। उस विविधता को माधुर्य से रससिक्त कर इस विश्वास और निष्कपटता से कहा कि सामाजिक को जरा भी पुनरुक्ति अखरती नहीं। आलंकारिक कवियों के समान शैली के सम्मोहन के लिए अलंकारों की कृत्रिम लड़ियाँ उन्होंने कहीं प्रस्तुत नहीं की। यों उनके पद उपमा रूपक उत्प्रेक्षा आदि से अलंकृत हैं किन्तु वे कवि की भाव-धारा के साथ स्वयं आकर उसके आभारी हो उठे हैं। कवि के पास प्यारे की लीलाओं की मधुरता ही क्या कम थी जो अलंकारों की ओर देखकर परमुखापेक्षी होता। स्वतः श्रीनाथ के स्वरूप की सेवा में उनके नित्य और नैमित्तिक आचरणों मे सम्मिलित होकर आस्था और भक्ति में निमग्न हो उन्होंने जो हरिलीला के गान किए उनका संग्रह ही सूरसागर के नाम से हिन्दी की अमूल्य निधि है। उनके गीतों की सजीवता भी अद्वितीय है उन्हें अम्लान कहा जाता है। यदि वह अम्लान होते तो हरिलीला मे वैविध्य प्रस्तुत करने में उन्हे कठिनाई होती। चित्रण कहीं-न-कहीं अधिक हो जाते और उस स्थिति मे गीतो में रंगों की व्यवस्था देना सर्वत्र अनुकूल न रहता। वह अम्लै तो थे किन्तु अम्लान न थे। जब अम्लै हुए तब उनको अलसम्लौति मिल चुकी थी यही समीचीन लगता है। इसी से सजीवता गीतों की चिरसंगिनी रही है।

पुष्टि मार्गीय भक्त कृष्ण के अनुग्रह के आभारी और उनकी लीलाओं के माधुर्य म डूबा रहता है। इसके फलस्वरूप ही पुष्टिमार्ग में कृष्ण के जीवन के वात्सल्य और शृंगार की विशेष मान्यता है। प्रेम लक्षणा भक्ति होने के कारण जीवन के इन दो *अंशों से माधुर्य की विशिष्ट अनुभूति हो सकती है अन्यों से नहीं।* इसी से सम्पूर्ण अष्टछाप के कवियों में इन्ही दो अंशों के वर्णन पर विशेष बल दिया गया है। यों भक्त होने के नाते विनय की पदावलियों में दास्य और सख्य भाव की भावनाएँ भी मिलती हैं उस दशा मे भी इन भावनाओं को वह स्थान नहीं पाता है।

उनके सूरसागर में *यों भागवत की* पूर्ण कथा ही निबद्ध है किन्तु कृष्ण के वात्सल्य और शृंगार के चित्रणों मे ही सूरदास की अभिरुचि का परिचय मिलता है। अन्य स्थल तो कवि ने कथा की सम्बद्धता की आवश्यकता से लिख कर दिए हैं। वात्सल्य मे कृष्ण के बाल जीवन के किसी भी चित्रण की उपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को उन्होंने सफलता से अंकित किया

है। सभी ही वर्णन और चित्रण मनमोहक और मर्मस्पर्शी है।

उपर्युक्त मधुर विषयों के साथ सूर ही क्या अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी गीति-शैली को ही हरि-लीला-गान का आधार बनाया है। इससे लीलाओं के माधुर्य की अभिव्यंजना द्विगुणित हो उठी है। गीति-शैली में विभिन्न राग रागनियों का ग्रहण किया गया है। सूरसागर में निम्न राग रागनियों का प्रयोग मिलता है—

राग बिलावल कान्हरो मारू धनाश्री रामकली नट सारंग केदारो मलार परज बिहागरो गौरी सोरठ, आसावरी टंकार, टोड़ी झिंझोटी बिहाग जैतश्री अहीरी नटनारायण मुलतानी धनाश्री बिलावल मुलतानी बिलावल कल्याण सूहरी बिभास भैरो गोपाली बसंत गौरी मलार नायकी मल्हार काफी जैजै वन्ती रागिनी श्री हठी सूही बिलावल सूही ललित नट नारायणी गुंड मलार गौड़ पूर्वी सूही गौड़ मलार, गुजरी, मेघ मलार, सूही बिलावल अड़ाना परासी मलार कमोद बिलावल रामकली अड़ानी हमीर, गुन सारंग पूरिया गुनकली राजी हठीली बिलावल असाहिया गुंड देवसारंग ईमन गचारी असहिया संकरा भरन कुरंग कर्नाटी बैराटी मालकोश सामन्त रागी मलार राजी गौहठी होरी माहूठी श्री मलार रागिनी टोड़ी गगती रामगिरी देवकार, मलार देवगिरि, पटपटी आदि आदि।[1]

इनमें दो चार राग ही ऐसे हैं जिनका न्यून प्रयोग हुआ है, अन्यथा सभी का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है। ये सब उनके महाकवित्व के साथ उनके प्रयोग संगीतज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट सिद्ध करते हैं। हिन्दी काव्य में आज तक सूरदास के अतिरिक्त इतनी राग-रागनियों में कोई भी कवि गीत रचना नहीं कर सका है। राग रागनियों के साथ वह भावनाओं को भी प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल हुए हैं। कुछेक स्थल दृष्टव्य हैं—

भक्त कवि भगवान् की सामर्थ्य की अनुभूति कर भावरत हो जाता है। सोच लेता है, जीवन की नियति अवश्यम्भावी है, फिर इतस्ततः भटकना कहाँ की बुद्धिमानी होगी। वह चिर-आत्म समर्पण कर देता है और उस स्थिति में विनयाद के साथ अपने पापों और लौकिक विकारों का मुक्त कण्ठ से वर्णन कर भगवान् की कृपा की कामना करता है। सूर ने 'विनय' में लिया हुआ आत्मनिवेदन का यह पद देखिए—

राग धनाश्री

माधौ जू जो जन तें बिगरै।
तउ कृपाल करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै।

---

१ सूरसागर नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण।

कहै जननि-जठर अन्तरगत सुत अपराध करै।
तोऊ जतन करै अरु पोषै निकसे अंक भरै।
जद्यपि मलय-वृच्छ जड़ काटै कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाव न सीतल छाँड़े रिपु-तन-ताप हरै।
धर बिधंसि नल करत किरषि हल बारि बीज बिथरै।
सहि सन्मुख तऊ सीत उष्न कौं सोई सुफल करै।
रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै।
छमि सब लोभ जु छाँड़ि छवौ रस लै समीप सँचरै।
करुन-करन दयालु दयानिधि निज भय दीन डरै।
इहि कलिकाल-व्याल-मुख-ग्रासित सूर सरन उबरै।

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११७

जीवात्मा अविद्या माया के प्रभाव से भटक उठी है।

राग नट

आपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसै स्वान काँच-मंदिर मैं भ्रमि भ्रमि भूँकि पर्‌यौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है द्रुम-तृन सूँघि फिर्‌यौ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्‌यौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै आपनु कूप पर्‌यौ।
जैसे गज लखि फटिक सिला मैं दसननि जाइ अर्‌यौ।
मर्कट मूठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर-द्वार फिर्‌यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौनैं पकर्‌यौं॥

—सूरसागर (ना प्र स) पद ११६

कृष्ण के लीला-गीतो मे से एक सजीव बीतों की योजना की गई है। कृष्ण घुटनों के बल चलने लगे है। अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिए दौड़ने मे उनका बहुरूप छिप गया है—

राग बिलावल

बाल बिनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसी घुटरुनि धावत।
अखिल ब्रह्म-अंड-खंड की महिमा सिसुता माँहि दुरावत।
शब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत।
कमल-नैन माखन माँगत है करि-करि सैन बतावत।
सूरदास स्वामी सुख सागर जसुमति-प्रीति बढ़ावत॥—(वही—पद ७२)

कृष्ण बड़े होने पर गोपियों के घर में घुसकर कभी किसी का मक्खन खाते हैं कभी उसे फेंक ही देते हैं। विविध प्रकार के उत्पातों से वे खीझ उठी हैं। अन्त में एक दिन वह पकड़ ही लिए गए। गोपियों से कृष्ण की करतूत सुनकर यशोदा उन्हें दण्डित करने के लिए तत्पर होती हैं। कृष्ण की प्रत्युत्पन्नमति का प्रमाण देखिए। पद में अभिनयात्मक तत्त्व कूट-कूट भर दिए गए हैं—

राग-रामकली

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपने मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ भक्ति प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख सिव बिरंचि नहिं पायौ॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ९५२

कृष्ण इन बाल-केलियों के मध्य में बड़े हो गए हैं। उनकी रूप-माधुरी अपना प्रभाव डालने लगी है। गोपियाँ उनकी मुख-छवि के दर्शन के बिना आकुल हो उठती हैं। उनके रूप-सौंदर्य के समक्ष एक गोपी की विवशता देखिए—

राग मलारौ

मेरौ मन गोपाल हर्यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैन-मग, ना जानौं धौं कहा कर्यौ री॥
मातु-पिता-पति-बंधु सजन जन सखि आँगन सब भवन भर्यौ री।
लोक-बेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यौ न पर्यौ री॥
धर्म धीर कुलकानि कुंजी करि तिहिं तारौ दै दूरि धर्यौ री।
पलक-कपाट कठिन उर अंतर इतेहुँ जतन कछुव न सर्यौ री॥
बुधि-बिबेक-बल-सहित सँच्यौ पचि, सु धन अटल कबहूँ न टर्यौ री।
लियौ चुराइ चित्त चित सजनी सूर सोच सगु जात कर्यौ री॥

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २४१०

पुष्टिमार्गीय भक्ति में वेद-विहित सिद्धान्त और लोक-मर्यादाएँ भक्त के लिए कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं। भक्त भगवान में समरस खिंचा चला जाता है। इसी रूप माधुरी की व्यवस्था में सूर ने मुरली-माधुरी का भी उल्लेख किया है।

गोपियों मे सपत्नी भावना में भरकर उस समय कुछ उपालम्भ दिए हैं।

कृष्ण जब घूमने फिरने लगे हैं तभी उनका राधा से परिचय हो जाता है। राधा भी कम सुन्दरी नहीं है। दोनों प्रेम मे आबद्ध हो जाते हैं। यह प्रेम का स्वाभाविक विकास ही कृष्ण भक्ति की मधुरतम निधि है।

क्रीड़ा के लिए निकले कृष्ण ने एक दिन राधा को देख लिया। नेत्र और मन की राधा की तन-छवि देखकर मुग्ध हो गए। साहस करके कृष्ण पूछ ही बैठे—

राग टोड़ी

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज-तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नंद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

—सूरसागर (ना॰ प्र॰ स॰) पद १२९१

अब राधा कृष्ण के घर भी आने-जाने लगी है। यशोदा उनकी माँग-चोटी करती है खान को 'तिल चाँवरी बतासे मेवा' देती है और कृष्ण के साथ खेलने की अनुमति भी देती है—

खेलौं जाइ स्याम सँग राधा
यह सुनि कुँवरि हरष मन कीन्हौ, मिटि गई अंतर-बाधा।

—सूरसागर (ना॰ प्र॰ स॰) पद १३२१

अब राधा की यह स्थिति है—

चित चंचल कुँवरि राधा खान पान भुलाई।
× × ×
कबहुँ बिहँसति कबहुँ बिलपति सकुच रहति लजाइ।

—सूरसागर (ना॰ प्र॰ स॰) पद १९९६

राधा जननी उसकी इस विचित्र स्थिति को देखकर उससे कह उठती है—

लरिकिनी तबनि कर, तोसी नहिं कोउ निडर,
चलति नग जिय नाहि सकति बरनी।
लिखी [illegible] कौन करै करता कौन
सोइ होइ जु होनहारि करनी॥

—सूरसागर (ना॰ प्र॰ स॰) पद १११६

संयोग के अनन्तर वियोग के क्षण घटित होते हैं। यह भी बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रित किया गया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रज की जो स्थिति है

वह वर्णनातीत है। सम्पूर्ण भ्रमर-गीत कृष्ण-विरह के सम्बन्ध में ब्रज की वियोग गाथा है—

राग सोरठ

पिय बिन नागिनि कारी रात।
जो कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी मुरि मुरि लहरैं खात॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३८९०

ऊधो के पधारने पर श्याम का सन्देश प्राप्त कर गोपियाँ उत्तर-प्रत्युत्तर में उनसे बहुत कुछ कहती हैं। उनका प्रेम वस्तुतः ऊधो के ज्ञान पर विजयी है। यह मत यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से पुष्टि सम्प्रदायी भक्ति की ज्ञान-योग पर सर्वोपरिता ही सिद्ध करने का प्रयत्न है किन्तु उसमें गोपियों ने बड़ी विलक्षणता और धैर्य के साथ ऊधो जैसे बड़े ज्ञानी को निरुत्तर किया है। ऊधो जहाँ अपना सिद्धान्त समझाने के लिए आए थे वहाँ गोपियों के अनन्य प्रेम के भक्त होकर कृष्ण के समीप लौटते हैं। उनके चलने लगने पर राधा के अतिरिक्त सभी ने कृष्ण के लिए सन्देश भेजे हैं। राधा साहस ही न जुटा सकी जो अपने प्राण-प्रिय के लिए अपनी बात कह पाती। यशोदा के सन्देश में वात्सल्य के सजीव चित्र हैं—

राग बिलावल

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिनु माँगे देइ।
को मेरे वा कान्ह कुँवर कौं, छिनु छिनु अंकम लेइ॥
कहियौ पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ मैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मो सी मैया॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १०९१

दूसरा गीत भी द्रष्टव्य है—

सारंग

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैते माखन रोटी भावै॥

तिन दुमनि प्रति तानो बस ताहि बेलि भजि जाते ।
कोइ कोइ माँगत सोइ सोइ देती कम कम करिके न्हाते ॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बढ्यो रहत उर सोच ।
मेरो मनक लड़तो मोहन ह्वै है करत सँकोच ॥

—सूरसागर (ना प्र स) पद १०६१

कृष्ण के समीप पहुँचने पर ऊधौ ने व्रज की दशा का उल्लेख किया । कहे हुए सन्देश भी कह दिए किन्तु राधा का सन्देश न प्राप्त कर आकुलता से उनका हृदय छटपटा उठा । राधा जो सबसे अधिक उनके समीप थी वही अपना सन्देश न भेज सकी । कृष्ण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए । ऊधौ कहें तो क्या कहें । सन्देश के स्थान पर वह राधा की वस्तुस्थिति का वर्णन कर उठे—

राग केदारौ

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन ।
हरि तुम्हारे बिरह राधा मैं जु देखी छीन ॥
तज्यौ तैल तमोल भूषन अंग बसन मलीन ।
कंकना कर रहत नाहीं टाड़ भुज गहि लीन ॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि गवन मो तन कीन ।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बल हीन ॥
कंठ बचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनौ ग्रसित आपद दीन ॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं परम साहस कीन ।
सूर हरि के दरस कारन रही आसा लीन ॥

—सूरसागर (ना प्र स) पद ४७२१

राधा का पूरा चित्र सूर ने उतार कर रख दिया है । 'नैन जल भरि रोइ दीनौ ग्रसित आपद दीन' —विवश हो वह दुख के घूँट पीकर रह गई है । यों कृष्ण को कहने के लिए क्या उनके हृदय में भावनाएँ न थी ? थी हृदय ही वियोग से उद्वेलित था फिर सन्देश क्यों न होते ? भावावेग ने उन्हें विवश कर दिया फलत सन्देश के स्थान पर अपने प्राण प्रिय के लिए अश्रु-बिन्दुओं की मूक भेंट ही भेजने में वह समर्थ हो सकी । वस्तुत राधा का चरित्र भारतीय ललना का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हो सका है जो अपनी तुलना में अद्वितीय है ।

वस्तुत राधा का चरित्र स्वयं मे पूर्ण है । उसकी पूर्णता के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं है । वह संयोगपक्ष मे पूर्ण संयोगिनी है और वियोग में पूर्ण वियोगिनी । कुरुक्षेत्र के युद्ध में अनन्तर कृष्ण और राधा का एक बार फिर मिलन हुआ है—

राग धनाश्री

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रँग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज बिहार नित नई-नई॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९१०

कृष्ण आए, राधा से मिलन भी हुआ, किन्तु उनके चले जाने पर राधा के हृदय की विवशता उसके अन्तरतम को फिर कचोट उठी है—

राग धनाश्री

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आए हौं रही ठगी सी जैसे चित्र धनी॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हौ कमल कुटी अपनी।
न्यौछावर उर अरघ न अँचति जलधारा जु बनी॥
कंचुकी तें कुच कलस प्रगट ह्वै टूटि न तरकि तनी।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन समुझत निज करनी॥
मुख देखत न्यारी सी रहि गई बिनु बुधि मति सजनी।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता मंगल माहिं गनी॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९११

राधा का चित्र वस्तुतः बड़ा ही मधुर और आनन्दपूर्ण है।

सूर के गीतों तथा अन्य कृष्ण भक्ति काव्य का आनन्द लेने के लिए यह समझ रखना आवश्यक है कि भगवान का गोलोक ही गोकुल है। गोपियाँ कृष्ण के आनन्द तत्त्व का व्यापक बनाने वाली शक्तियाँ हैं और राधा आनन्द की सिद्ध शक्ति है। इसी से कृष्ण सब रस-शक्तियों के मध्य में आनन्द की सिद्ध शक्ति राधा के वश में रहते हैं। यह तथ्य समझे बिना सूर अथवा अन्य वैष्णव भक्त के काव्य का यदि हम आनन्द लेना चाहेंगे तो कवि के साथ अन्याय हो जाने की आशंका है।

सूर ने कृष्ण की लीलाओं के गान में लोक जीवन का कहीं भी परित्याग नहीं किया है। इसी विशेषता के कारण उनके चित्र चिर-परिचित से प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही अपनी मार्मिकता और भावात्मकता के कारण वे किसी भी सहृदय को आकर्षित करने में सक्षम हैं। इन सभी सफलताओं के प्रमुख आधारों में एक आधार उनकी गीति-शैली भी है। भक्ति में लिप्त उनका हृदय कृष्ण की मधुर लीलाओं का

भीताद् के स्वरूप के समक्ष स्वच्छन्दता से मान करता हुआ अपनी अर्चना और वन्दना करता चला है। जब प्रभु या ही कुछ के भगवान ने प्रस्तज्योति दे ही दी थी फिर उनके लिए अभाव हो गया था? इसी से अपने पदों के द्वारा वह जो दे सके है [redacted] हृदय को गुदगुदा देता है। वस्तुतः उनका गीति-साहित्य हिन्दी की अपूर्व निधि है।

नन्ददास

विट्ठलनाथ इनके दीक्षा गुरु थे। पुष्टि सम्प्रदाय में अष्टछाप कवियों के मध्य में सूरदास के अनन्तर इन्हीं का नाम प्रतिष्ठित है। वार्ता के आधार पर यह तुलसीदास के छोटे भाई थे किन्तु इसका साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह अवश्य सत्य है कि यह सूरदास और तुलसीदास के समकालीन थे। सूर और तुलसी की समान सिन्धुमय ग्राम की कलानी पर आसक्त होने की एक प्रेम-कथा इनसे भी सम्बन्धित है।

इनमें मौलिक काव्य रचने की पूर्ण प्रतिभा थी। इसी से 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' कहा जाता है। रासपंचाध्यायी अनेकार्थमंजरी भँवरगीत अनेकार्थ माला आदि इनके प्रमुख काव्य हैं। इनके लिखे हुए कुछ पद भी मिले हैं।

'रास पंचाध्यायी' में भागवत के २९ से ३३ वें अध्याय तक के पाँच अध्यायों के आधार पर रास-लीला का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अनुप्रास युक्त जयदेव की 'गीतगोविन्द' शैली पर इसकी रचना हुई है। रोला छन्द के साथ कहीं-कहीं दोहा का भी प्रयोग हुआ है।

"माधुर्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में रास-पंचाध्यायी सर्वश्रेष्ठ है। यदि तुलसी की कविता भागीरथी सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता-त्रिवेणी की पूर्ति करती है।[1]

'भँवरगीत' इनकी द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है। यह सूरदास की 'भ्रमरगीत' परम्परा में लिखा हुआ गीत-काव्य है। नन्ददास ने रोला और दोहा दोनों छन्दों को समन्वित कर दस मात्रा की पंक्ति जोड़कर पंक्तियों का प्रवाह सुखद कर दिया है। डा० रामकुमार वर्मा ने रोला और दोहा के समन्वित छन्द को सूरदास के भ्रमरगीत से लिया सिद्ध किया है और दस मात्रा की पंक्ति को नन्ददास की मौलिक उद्भावना कहा है[2] किन्तु यह असमत है। सूरदास के काव्य में इसी छन्द में दान-लीला के संदर्भ का एक सजीव और युक्तिपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है।[3] सूरसागर के उक्त चित्रण में राधा और कृष्ण का परस्पर का संवाद है। भ्रमरगीत में भी गोपियों और

---

१ डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ६६६
२ डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ६६१
३ सूरसागर (ना० प्र० सभा संस्करण) पद २२११

उद्धव के मध्य में वार्तालाप की योजना है। इसी से नन्ददास ने उसको अपने भँवर गीत के लिए उपयुक्त समझा है। सूरसागर के इस पद के राग का नाम 'राग रामी ठोली' अंकित है। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि नन्ददास का 'भँवरगीत' भी उक्त राग में लिखा हुआ गीति-काव्य है।

हठ छाँड़ो नन्दलाल बात तुमको नहिं दैहु।
लिखा कहूँ ब्रज-लोग कहा काहूँ पतियैहैं ॥
साथ नहीं तुम आवई बोलत ही सतराई।
कहूँ कंस सुनि पाइहै महत किरौंगे पाइ ॥ कहति ब्रजनागरी ॥
सुनत हँसे नंदलाल ग्वारि जिय तामस मान्यो ॥
सींच्यो अमृत बैन कोप कछ्यत नहीं आन्यो ॥
कहाँ अमित हौ नागरि, सो सूर गुप्त भंडार।
ब्रज-वासी कह जानहीं तामस को व्यवहार ॥ कहत नदलाडिले ॥

सूर-सागर (सभा संस्करण) पद २२१६

नन्ददास का भँवरगीत सम्मिलित रूप में एक सफल रचना है। सूरदास के भ्रमर गीत से इसकी अलग विशिष्टता सिद्ध है। सूरदास की गोपियाँ और राधा अपने प्रेम के बल से ऊधो को निरुत्तर करती हैं जब नन्ददास की गोपियाँ तर्क और युक्ति के बल पर। सच तो यह है कि नन्ददास की गोपियाँ मुखर हो गई हैं। सामान्य भँवर गीत में बिना किसी भूमिका के ऊधो अपना सन्देश कहना प्रारम्भ कर देते हैं और गोपियाँ उत्तर देने लगती हैं। संवाद अभिनयात्मक है।

जो उनके गुन होय बेद क्यों नेति बखानै ?
निरगुन सगुन आतम रचि ऊपर सुख मानै।
बेद पुराननि खोजिकै पायो कितहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि ते कहौ अकासहि टेक ॥ सुनो ब्रजनागरी ॥
जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें।
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल बारि मिलि कीच ॥

सखा सुन स्याम के ॥

इसी प्रकार ऊधो और गोपियों में उत्तर प्रत्युत्तर चलता है। एक पक्ष ज्ञान पर डटा है तो दूसरा ज्ञान की युक्ति को काटकर कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम की सर्वोपरिता सिद्ध करता है। पुष्टिमार्गीय दर्शन में जीवात्मा के कल्याण के लिए भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। यह सिद्धान्त ही इस भँवरगीत में प्रमाणित किया गया है।

नन्ददास ने पद-शैली में भी रचनाएँ की हैं। राम-कृष्ण के सम्मिलित नामों के स्मरण की रुचि का आग्रह देखिए—

राग भैरव

राम कहत कहि (उठि भोर ।
वे प्रभुपद धमय कर मारे यह ब्रज-मासन-चोर ॥
उनके छत्र चंवर सिंहासन भरत सत्रुहन लछमन जोर ॥
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर नित गायन संग नंदकिसोर ॥
उन सागर में सिला तराई इन राख्यो गिरि नख की कोर ॥
नंददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरखत चंद चकोर ॥

नन्ददास—नन्ददास ग्रन्थावली पदावली २

कृष्ण और गोप ग्वालों के कारण नन्द-ग्राम की विशिष्ट शोभा है। वहाँ कृष्ण सभी को सुलभ है इसीसे देव और महामुनि भी अपना आवास बनाए हैं। ब्रज-महिमा का उल्लेख देखिए—

राग बिलावल

नन्द-गाउँ नीको लागत री।
प्रात समे दधि मथत ग्वालिनी विपुल मधुर धुनि मन लागत री ॥
मन मोती, मन ग्वाल संग ब्रज के जिनके मोहन उर लागत री ॥
हलधर संग सखा सब राजत गिरिधर सों दधि माँगत री ॥
वहाँ बसत सुर देव महामुनि एको पल नहिं त्यागत री।
'नंददास' प्रभु कथा का ईहित गिरिधर देख मन लागत री ॥ वही—२१

गोवर्द्धन लीला के अन्तर्गत निम्न गीत बड़ा ही माधुर्यपूर्ण है। गोवर्द्धन को हाथ पर धारण किया होने से कृष्ण को बहुत विलम्ब हो गया। सभी में सवेदना जागृति हुई। फलस्वरूप कृष्ण को भी परिहास सूझ उठा—

राग कान्हरो

अब नेकँ हमहिं देहु लाल गिरिवर।
गुई लये बड़ि बार भई है दुखि उठे ह्वै है कोमल कर ॥
मनि जिय धरें सबै सब ब्रज जन भयो है हाथ पै अति भर।
सब कहें हाहि वचन देखिहैं तातें जिय में बढ़ो महो डर ॥
जानि सखनि की हेत सु मोहन दयो नवाय लकुट अपनो कर।
'नंददास' प्रभु भुजा लटक भई तबै हँस लागे नवधर कर ॥

—वही—११७

दोलोत्सव में राधा-कृष्ण को गोपियाँ झुला रही हैं। वह दृश्य बड़ा ही मधुर है।

राग सारंग

ब्रज की नारी डोल झुलावें ।

मुख निरखत मन में सचु पावै मधुर मधुर मुसकावै ।।
रतन जटित सिंहासन सोभित मनो काम की कोटि ।
बड़ स्यामा स्याम झूलत हैं नील-कमल पिय राधा गोरी ।।
सूरत मूरत बोल रसीली उपमा नाहिं सम तोल ।
नन्ददास प्रभु को सब निरखत दंपति भजत डोल ।।

—वही—१६६

नन्ददास ने भी सूरदास के समान कृष्ण सम्बन्धी लीलाओं का पदों में गान किया है। इसके लिए उन्होंने परम्परागत राग रागनियों की मधुर शैली ही ग्रहण की थी। उनकी पदावलियों में निम्न राग रागनियों का प्रयोग हुआ है—

राग भैरव बिभास रामकली सारंग हमीर देवगंधार बिलावल मारु धनाश्री मलार आसावरी काफी जैजैवन्ती रायसो पूरवी टोड़ी ईमन कधारो कल्याण अड़ानी केदार चौताल नट बिहाग गौरी पीड़ा पंचम ललित प्रबन्ध-पद मालकोस सारंग नायकी बिहागरो कान्हरा मल्हार बसन्त आदि आदि।

कृष्णदास (सं० १५६० वि०—१६६५ वि०)

कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अष्टछाप के कवियों में आपका सूरदास और नन्ददास के अनन्तर नाम आता है। आप शूद्र जाति के थे। 'जुगलमान-चरित्र' भ्रमरगीत और 'तत्व निरूपण' आपके काव्य हैं। आपने राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगारपरक पदों की रचना की है।

भगवान् की पुष्टि प्राप्त कर भक्त कवि की माया का उन्मूलन हो गया है और वेद विहित मार्ग छूट हो गया है।

देवगंधार

जब तें स्याम-सरन हौं आयो।
तब तें भेंट भई श्री वल्लभ निज पति नाम बतायो।।
और महिमा छाँड़ि मलिन मति स्रुतिपथ दूर दुरायो।
'कृष्णदास' जन कहूँ कछु खोजत अब निहचै मन आयो।।

—(ब्रजमाधुरी सार-कृष्णदास—१)

कृष्ण की व्यापक रूप-माधुरी ने उन्हें अपना अनन्य बना लिया है अब वह कहीं अन्यत्र देखना भी नहीं चाहते हैं।

गौरी

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो।।

राग भैरव

राम भरत कहिए उठि भोर ।
वे अवधपति धनुष कर धारे यह ब्रज-माखन-चोर ॥
उनके छत्र चँवर सिंहासन भरत सत्रुहन लछमन ओर ॥
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर नित गायन संग नंदकिसोर ॥
उन सागर में सिला तराई इन राख्यो गिरि नख की कोर ॥
नंददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरखत चंद चकोर ॥

ब्रजरत्नदास—नन्ददास ग्रन्थावली पदावली २

कृष्ण और गोप-ग्वालों के कारण नन्द-ग्राम की विशिष्ट शोभा है। यहाँ कृष्ण सभी को सुलभ हैं इसीसे देव और महामुनि भी अपना आवास बनाए हैं। ब्रज-महिमा का उल्लेख देखिए—

राग बिलावल

ब्रज-भाई नीको लागत री ।
प्रात समै दधि मथत ग्वालिनी बिपुल मधुर धुनि मन भावत री ॥
घन गोपी घन ग्वाल संग ब्रज के जिनके मोहन उर लागत री ॥
हलधर संग सखा सब राजत गिरिधर जू दधि माँगत री ॥
जहाँ बसत सुर देव महामुनि एको पल नहिं त्यागत री ।
'नंददास' प्रभु कृपा का इहिं बल गिरिधर देख मन लागत री ॥ वही—२१

गोवर्धन लीला के अन्तर्गत निम्न गीत बड़ा ही भावुकतापूर्ण है। गोवर्धन को हाथ पर धारण किया होने स कृष्ण को बहुत विलम्ब हो गया। सखी में संवेदना जागृति हुई। फलस्वरूप कृष्ण को भी परिहास सूझ उठा—

राग मलारो

अब मैया हमहि देहु कान्ह गिरिवर ।
तुम्ह तबै धरि भार भई है दुखि उठे हुं हैं कोमल कर ॥
अति हित परें सबै सब ब्रज जन भयो है हाथ पे अति भर ।
सब कैसे इहि नयन देखिहु तासे जिय में बड़ो यही डर ॥
जानि सखनि को हेत सु मोहन दयो नवाय लकुट अपनो कर ।
'नंददास' प्रभु भुजा लटक भई तबै हँसि आगर नागर वर ॥

—वही—११७

दोलोत्सव म राधा-कृष्ण को गोपियाँ झुला रही हैं। यह दृश्य बड़ा ही मधुर है।

राग सारंग

ब्रज की नारी डोल झुलावें ।

सुख निरखत मन में सघु चावै मधुर मधुर कल गावै ॥
रतन खचित सिंहासन सोभित मनों काम की डोरि ।
बैठ स्यामा स्याम झूलत हैं नील-कमल पिय राधा गोरी ॥
सूरत मूरत दोउ रसीली उपमा नहिं सम तोल ।
नन्ददास प्रभु को सुख निरखत दंपति झमत डोल ॥

—वही—१६५

नन्ददास ने भी सूरदास के समान कृष्ण सम्बन्धी लीलाओं का पदों में गान किया है। इसके लिए उन्होंने परम्परागत राग रागनियों की मधुर शैली ही ग्रहण की थी। उनकी पदावलियों में निम्न राग रागनियों का प्रयोग हुआ है—

राग भैरव बिभास रामकली सारंग हमीर देवगंधार बिलावल मारू धनाश्री मलार, आसावरी काफी जैजैवंती रायसो पुरबी टोडी ईमन केदारो कल्याण अड़ानो केदार चौताल नट बिहाग गौरी गौंड़ो पंचम ललित प्र.म-पद मालकोस सारंग नायकी बिहागड़ो कान्हरा मल्हार बसन्त आदि आदि।

कृष्णदास (स० १५५० वि०—१६६२ वि०)

कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अष्टछाप के कवियों में आपका सूरदास और नन्ददास के अनन्तर नाम आता है। आप शूद्र जाति के थे। 'जुगलमान-चरित' 'भ्रमरगीत' और 'तत्व निरूपण' आपके काव्य हैं। आपने राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगारपरक पदों की रचना की है।

भगवान् की पुष्टि प्राप्त कर भक्त कवि की माया का उन्मूलन हो गया है और वेद-विहित मार्ग छूट हो गया है।

देवगंधार

जब तें स्याम-सरन हौं पायो।
तब तें भेद भई को अन्तर मिट गति नाम बतायो ॥
और अविद्या छाँड़ि मलिन मति स्तुतिपथ आड़ छुड़ायो।
'कृष्णदास' अब चहुँ कछु बोलत अब निहचै मन आयो ॥

—(ब्रजमाधुरी सार-कृष्णदास—१)

कृष्ण की व्यापक रूप-माधुरी ने उन्हें अपना अनन्य बना लिया है अब वह कहीं अन्यत्र देखना भी नहीं चाहते हैं।

गोरी

मो मन गिरिधर-छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिके चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥

सजल स्यामघन-बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यौ ॥
—(ब्रजमाधुरी सार, कृष्णदास—७)

रास क्रीडा का चित्र भी कवि ने बडी सरल भाषा मे प्रस्तुत किया है—

विभास

रास रस गोविंद करत बिहार।
सूर-सुता के पुलिन रम्य महँ फली कुंद-मँदार ॥
अद्भुत सतदल बिकसित कोमल मुकुलित कुमुद कल्हार।
मलय पवन बहु सारदि पूरनचन्द्र मधुप झंकार ॥
सुघरराय संगीत-कलानिधि मोहन नन्द कुमार।
ब्रजभामिनि-संग प्रमुदित नाचत तन बरषित घनसार ॥
—(ब्रजमाधुरी सार, कृष्णदास—१)

इन कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट प्रमाणित है कि कृष्णदास ने पद-शैली की परम्परा को कृष्ण भक्ति-काव्य मे प्रखर किया है।

परमानन्ददास (रचनाकाल—१६०६ वि०)

श्री वल्लभाचार्य के बडे कृपा-पात्र शिष्य थे। यह कन्नौज निवासी थे। इनका 'परमानन्द सागर' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें ८१२ पद है। 'परमानन्द जी का पद' 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित्र' इनके अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इन्होंने शृगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षो का वर्णन किया है। इनके पद बड़े ही सरस और भावपूर्ण है।

निम्न पद मे भक्त का सच्चा मनोराज्य विचारणीय है। ब्रज के मनोरम वातावरण के समक्ष उन्हे बैकुण्ठ भी उपेक्षणीय है—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहिं नंद जहाँ न जसोदा जहँ नहि गोपी ग्वाल न गाय ॥
जहँ नहिं जल जमुना को निरमल और नहीं कदमन की छाय।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ॥
—(ब्रजमाधुरी सार, परमानन्ददास—१)

कृष्ण के विरह के कारण यशोदा तथा ब्रज की बड़ी करुण दशा है। पद की स्वाभाविक मार्मिकता प्रभावोत्पादक है—

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे से ठाढ़े अति दुर्बल तन हारे ॥
मात जसोदा पंथ निहारत निरखत साँझ-सकारे।

जो कोई लाख-लाख कहि बोलत ओखिधन बहुत पचारे।
यह मथुरा काजर की रेखा जे निकसे ते कारे।
परमानंद स्वामी बिनु ऐसे ज्यों चंदा बिनु तारे॥
—(परमानन्ददास १)

कवि के भक्ति सिक्त हृदय से अनुभूत भावनाएँ पदों के द्वारा स्वाभाविक मधुरता से प्रवाहित हो उठी हैं। इनके पद वैष्णव भक्त प्रायः गाते हैं।

कुंभनदास (रचनाकाल—१६०६ वि०)

ये वल्लभाचार्य के शिष्य परमानन्ददास के समकालीन थे। आपकी कविता बड़ी ही रसीली और भावपूर्ण है। आप स्वयं अच्छे गायक भी थे।

'वार्ता' के आधार पर यह प्रमाणित है कि एक बार अकबर ने इनको फतेहपुर सीकरी बुलाया था। आप वहाँ गए अवश्य किन्तु आपको इसका आजन्म पश्चात्ताप रहा—

संतन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैयाँ टूटी बिसरि गयो हरि-नाम।
जाको मुख देखे दुख लागै ताको करिबे परी सलाम।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन, और सबै बेकाम॥
—(ब्रजमाधुरी सार-कुंभनदास २)

कृष्ण की रूप-माधुरी के प्रभाव का एक गोपी कथन कर रही है—

आवत मोहन मन जु हर्यो है।
हौं गृह अपने सखु सों बैठी निरखि बदन सबसु बिसर्यो है॥
रूप-निधान रसिक नंदनंदन उमंग्यो हिय धीरज न धर्यो है।
'कुंभनदास प्रभु गोवर्धनधर अंग अंग प्रेम-पीयूष भर्यो है॥
—(कुंभनदास ३)

चतुर्भुजदास—गोसाईं विट्ठलनाथ के आप शिष्य थे। 'द्वादशयश' 'भक्ति प्रताप' 'हितजू को मंगल' आपकी रचनाएँ हैं।

जसोदा! कहा कहौं हौं बात?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जो बरजौं तो आँखि दिखावै रंचहु नाहिं सकात॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं छुवत पानि सों पात।
दास चतुर्भुज गिरधर गुन हौं कहति कहति सकुचात॥
—(रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १७६)

छीतस्वामी—(रचनाकाल १६१२ वि)—आप विट्ठलनाथ के शिष्य थे।

आपके पदों में भक्ति के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। इनके रचित पदों में संगीतात्मकता पूर्ण रूप से सुरक्षित है—

राधिका स्याम सुन्दर को प्यारी।
नख सिख अंग अनूप विराजत कोटि चंद दुति वारी।
एक छिन संग न छाँड़त मोहन निरखि निरखि बलिहारी।
छीत स्वामी गिरिधर बस जाके सो वृषभानु दुलारी॥
मेरी अँखियन देखौ गिरिधर भावे।
कहा कहौं तोसों सखि सजनी उतही को पढ़ि भावे॥
मोर मुकुट कानन कुंडल छबि तन अति सब बिसरावे।
बाजूबंद कंठ लखि भूषन निरखि निरखि सचु पावे॥
'छीत स्वामी' कटि छुद्र घंटिका नूपुर पद [illegible] सुनावे।
इह छबि बसत सदा विट्ठल उर भी मन मोद बढ़ावे॥

—(सोमनाथ गुप्त—अष्टछाप पदावली)

गोविन्द स्वामी (रचनाकाल १६०० १६२५ वि० के मध्य)—आप भी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और अच्छे संगीतज्ञ थे। तानसेन जैसे संगीतज्ञ भी कभी-कभी आपके गान सुनने के लिए आया करते थे। आपने स्फुट पदों की रचना की है।

कहा करौं बैकुंठहि जाय।
जहँ नहीं कंज लता अलि कोकिल और सुगंध न बायु बहाय॥
नहीं जहाँ मनिमय वंसी धुन कृष्ण न मुरल अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहिं बोलत तहँ को बसिबो कौन सहाय॥
नहीं जहाँ ब्रज वृन्दावन जीवन गोपी नंद जसोदा माय।
गोविन्द प्रभु गोपी चरनन की ब्रजरज तजि वहाँ जाय बलाय॥

कवि की इन पंक्तियों में भक्ति का सच्चा मनोराज्य है। माधुर्य से सम्बद्ध होने के नाते ब्रज का वातावरण उसे इतना प्रिय है कि वह वैकुण्ठ की भी कामना नहीं करता है।

मही दधि मथति गोप की रानी।
छिन्न चीर पहिरे बसित्र को कटि किंकिनी कलधुन बानी॥
सुत के करम गावति आनन्द भरि बाल चरित जानि बानी।
श्रम जल राजे बदन कमल पर मनहुँ सरद बरषानी॥
पुत्र सनेह चुचात पयोधर प्रमुदित अति हरषानी।
गोविन्द प्रभु घटुरुवनि चलि आए पकरी रई मथानी॥

यशोदा के वात्सल्य के साथ कृष्ण के बाल-रूप का मधुर और सजीव चित्र कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय

हितहरिवंश (रचनाकाल १६ ०-१ ४० वि०)—आप मध्वानुयायी श्री गोपाल भट्ट के अनुयायी थे किन्तु स्वप्न में श्रीराधिकाजी से मंत्र प्राप्त कर आप उन्हीं के भक्त होगए और अनन्तर आपने 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया।

आप संस्कृत के अच्छे कवि थे। 'राधासुधा निधि' आपका संस्कृत का काव्य बड़ा ही मधुर है। आपने ब्रजभाषा में मधुर पद भी लिखे हैं जिनका संग्रह 'हित चौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है।

आपने अपने सम्प्रदाय में कर्म और ज्ञान का खण्डन कर प्रेम-परक भक्ति पर ही विशेष बल दिया है। यों तो इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण दोनों की ही उपासना होती है किन्तु राधा की उपासना शीघ्र ही फलदायिनी है यह आपका विश्वास था। आपने अपने सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की संयोग की लीलाओं का ही आश्रय लेने का संकेत किया है वियोग की भावनाएँ इस सम्प्रदाय में मान्य नहीं हैं।

प्रेम भावना प्रधान होने के कारण आपके गीत बड़े ही सरस और मधुर हैं—

गौरी

(जैसी) 'हित हरिवंश' प्रपंच वंच सब काल व्याल को खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संग सिर नायौ॥

—(ब्रजमाधुरी सार—हितहरिवंश १)

राधिका से युक्त ब्रज युवतियाँ कृष्ण से मिलने जाती हैं—

सारंग

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई।
सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी॥
कमल दच्छिन भुजा बाम भुजा अंसु सखि।
गावती सरस मिलि मधुर सुर राग री॥
सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित।
मिलत नव कुंज वर स्याम बड़ भाग री।

—(हितहरिवंश १७)

प्रेम-मार्ग में लौकिक मर्यादाएँ स्वतः स्खलित हो जाती हैं। इसी भावना से भर कर वह अपने सर्वस्व को केवल श्रीकृष्ण के अनुराग में ही समर्पित करना चाहते हैं—

विहाग

प्रीत न काहु कि कानि बिचारे ।।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारे ।।
ज्यौं पावस सलिता जल उमगति सनमुख सिंधु सिधारे ।
ज्यौं नादहि मन दिये कुरंगनि प्रगट पारधी मारे ।।
(जै श्री) हित हरिवंशहि लग सारंग ज्यौं सलभ शरीरहि जारे ।
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारे ।।
—(हितहरिवंश, २०)

बंसी और रूपमाधुरी की सम्मिलित छटा-प्रधान निम्न पद भी बड़ा मनोरम है—

मोहन बेनु बजावे । इहि रव नारि बुलावै ।।
आईं ब्रजनारि सुनि बंसी-रव गृह पति बंधु बिसारे ।
दरसन मदन गुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ।
हरषित बदन बंक अवलोकनि सरस मधुर धुनि गावें ।
मधुमय स्याम समान अधर धरे मोहन बेनु बजावें ।
—(हितहरिवंश २१)

इस प्रकार राधा कृष्ण प्रेम माधुरी प्रधान हितहरिवंश के गीत बड़े ही सरस और भावपूर्ण है। हितहरिवंश और इस सम्प्रदाय के अन्य भक्त कवियों के शृंगार प्रधान पदों का प्रभाव बल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय पर भी पड़ा है। इसी से शृंगारिक तत्त्वों का समावेश अष्टछाप के कवियों में भी उपलब्ध है।

गौड़ीय सम्प्रदाय

गदाधर भट्ट (रचनाकाल १५८० १६ वि०)—आप भी चैतन्य द्वारा प्रवर्तित 'गौड़ीय सम्प्रदाय' के भक्त कवि थे। आपने चैतन्य महाप्रभु से गुरु दीक्षा ली थी। आप भागवत चैतन्य को सुनाया करते थे। संस्कृत के पण्डित होने के कारण आपकी पदावली पर संस्कृत का पूर्ण प्रभाव है। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति के लिए माधुर्य भावना पर विशेष बल दिया था। इसी से भट्ट जी के गीतों में मधुरता की अनुभूति है—

विभास

हिम दुलह मेरो कुँवर कन्हैया।
नित प्रति सखा सिंगार सँवारत नित आरती उतारति मैया ।।
नित प्रति गीत वाद्य मंगल धुनि नित सुर-मुनिवर बिरद-कहैया ।।

सिर पर श्री ब्रजराज राजवित तैसे ही हिय बलनिधि धनमैया ॥
नित प्रति रासविलास ब्याह बिधि नित सुरतिय सुमननि बरसैया ।
नित नव-नव आनंद बारिनिधि नित ही गदाधर लेत बलैया ॥
—(ब्रजमाधुरी सार—गदाधर भट्ट १)

झूला का सजीव चित्र निम्न गीत में प्रस्तुत किया गया है—

हिंडोल

झूलत नागरि नागर लाल ।
मंद मंद सब सखी झुलावति गावति गीत रसाल ॥
फरहराति पटपीत नील के अंचल चंचल चाल ।
मनहुँ परस्पर उमँगि ध्याम-छबि प्रगट भई तिहिं काल ॥
सिलसिलात अति प्रिया-सीस तें लटकत बेनी नाल ।
जनु पिय-मुकुट-बरहि भ्रमवस तहँ ब्याली बिकल बिहाल ॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि, सोभा बिसद बिसाल ।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि-मन, परयो सुरस जंजाल ॥
—(ब्रजमाधुरी सार गदाधर भट्ट—१८)

सूरदास मदनमोहन (रचनाकाल १५६ —१६० वि के मध्य)—आप चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे । आपके स्फुट पद मिलते हैं ।

अकबर के समय में आप संडीला (हरदोई) के अमीन थे । आपने एक बार सरकारी कोष का सभी रुपया साधु-सन्तों को खिला दिया था । जब अकबर को यह ज्ञात हुआ तब उसने इन्हें क्षमा कर दिया किन्तु तब समय आप साधु-जीवन स्वीकार कर चुके थे ।

आपके पद बड़े ही सरस हैं—

ललित

आछे ललिता आगे स्यामा प्यारी
ता पाछे पिय आवत कुंज बिहारी लाल ।
कठिन भली बीन-बीन प्यारी करत
प्यारी के चरन कोमल जानि सकुचत जिय पहिरेऊ उरमाल ॥
दीर्घ लता करतों निरवारत पाछे
नहि डारि सीस माँहि बरसत पल्लव पात ।
'सूरदास मदनमोहन पिय की अधिक ताई
देखत मेरी है नैन सिरात ॥
—(ब्रजमाधुरी सार—श्री सूरदास मदनमोहन १)

मलार

मोर गोविंद नवल किसोर सखी चित चोर
ठाड़े हैं द्रुम की छहियाँ ।
पकर धरे मुरली ऊँचे सुर लीयें सुनि तोहि बुलावत हैं
माई री तू कत कहति नहियाँ ॥
जिन ही खंजन अंजन से नना पिय-मन-रंजन
पड़ी तिरछी तूँ पिय मन महियाँ ।
'सूरदास मदनमोहन' के ध्यान तेरो निसि बासर
सखी कौन प्रकृति सो पहियाँ ॥
—(सूरदास मदनमोहन—७)

श्रीभट्ट—(रचनाकाल १६२५ वि०) श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के केशव काश्मीरी के शिष्य थे। 'आदिवाणी' और 'युगल शतक' आपके दो काव्य हैं। 'युगल शतक' में आपके १०० पद संग्रहीत हैं। आपके पद बड़े ही सरल और मधुर हैं। अपने पद गाते समय इनको भगवान् के तत्काल ही दर्शन हो जाते थे। आपके पदों का माधुर्य देखिए—

मदनगुपाल सरन तेरी आयौ ।
चरनकमल की सरन दीजिए, चेरौ करि राखौ घर जायौ ॥
धनि धनि मात पिता सुत बंधु धनि जननी जिन गोद खिलायौ ।
धनि धनि चरन चलत तीरथ को धनि गुरजन हरिनाम सुनायौ ॥
जे नर विमुख भए गोविंद सों जनम अनेक महादुख पायौ ।
'श्रीभट्ट' के प्रभु दियौ अभय-पद जम डरप्यौ जब दास कहायौ ॥
—(ब्रजमाधुरी सार, श्रीभट्ट—१)

जुगलकिसोर हमारे ठाकुर ।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं जनम जनम घर जाए चाकर ॥
चूक परे परिहरें न कबहूँ सबही भाँति दया के आकर ।
जै 'श्रीभट्ट' प्रगट त्रिभुवन में प्रनतनि पोषत परम सुधाकर ॥
—(ब्रजमाधुरी सार, श्री भट्ट—२)

हरिदासी (टट्टी) सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास (रचनाकाल १६ —१६१० वि०)—निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हरिदास ने टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। आपने इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की युगल उपासना में केवल सखी भाव पर विशेष बल दिया था।

आप तानसेन के इतिहास प्रसिद्ध गुरु थे। स्वयं अकबर आपके संगीत को

सुनने के लिए साधारण व्यक्ति के भेष में आपके पास आया था। अकबर ने उन्हें पुरस्कृत भी करना चाहा किन्तु आपने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। आप एक त्यागी और भजनानन्दी संत थे। संगीत कला के दृष्टिकोण से आपके पद बड़े ही सफल हैं। आपने सिद्धान्त और शृंगारपरक बहुत से पद लिखे हैं। 'हरिदास के ग्रन्थ' 'स्वामी हरिदास जी के पद' 'हरिदास जी की बानी' इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनकी रस-माधुरी निम्न पदों में द्रष्टव्य है—

कल्यान

हरि को ऐसोई सब खेल।
मृगतृस्ना जग व्यापि रह्यौ है कहूँ बिजौरो न बेल॥
धन-मद जोबन-मद और राजमद ज्यौं पंछिन में डेल।
कहि 'हरिदास' यहै जिय जानो तीरथ को सो मेल॥
—(ब्रजमाधुरी सार-हरिदास—७)

राधा-कृष्ण की एक-रूपता विषयक यह पद देखिए—

कान्हरा

प्यारी, जैसे तेरी आँखिन में हौं अपनपौ
देखत तैसे तुम देखति हौ किधौं नाहीं ?
हौं तोसौं कहौं प्यारे आँख मूँदि
रहौं लाल निकसि कहाँ जाहीं॥
मोकौं निकसिबे को ठौर बतावो,
साँचो कहौं बलि जाउँ, लागौं पाहीं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा
तुमहिं देख्यौ चाहत और सुख लागत नाहीं॥
—(ब्रजमाधुरी सार—हरिदास—११)

केदारा

झूलत डोल दुलहिनी दूलह।
बहुत अबीर कुमकुमा छिरकत खेल परस्पर भूलहु॥
बाजत ताल रबाब और बहु तरुनि समाज झूलहु।
(श्री हरिदास क)स्वामी स्यामा कुंजबिहारी को अंत नहिं कूलहु॥
—(ब्रजमाधुरी सार-हरिदास—१६)

मीराबाई (१५५५-१६२० वि०)—मीराबाई मेड़ता के राठौड़वंश के रत्नसिंह की पुत्री और राव दूदाजी की पौत्री थी। उनका विवाह इतिहास प्रसिद्ध वीर

राणा साँगा के पुत्र राजा भोजराज से हुआ था। मीरा की माता का देहान्त उनकी छोटी अवस्था में ही हो जाने के कारण राव दूदाजी ने उनको मेड़ता ही बुलवा लिया था। दूदा भी स्वयं वैष्णव थे। इससे उनकी वैष्णव भावना का अमिट प्रभाव उनके हृदय में बचपन से घर कर गया था। इसी अवस्था में बाबा के समीप पधारे एक वैष्णव साधु से उन्होंने कृष्ण की मूर्ति साग्रह प्राप्त की थी। यह मूर्ति आजीवन उनकी चिर-संगिनी और निराशाओं में भी एक आशा रही।

मीरा का वैवाहिक जीवन सुखी न रहा। दस वर्ष के बाद पति का देहान्त हो गया। अनन्तर श्वसुर कुल में उनकी भक्ति भावना साधु-संगति आदि पर भ्रान्तियाँ प्रसारित की गईं जिनके फलस्वरूप उनको कितनी ही यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। इन लौकिक विपदाओं के मध्य में भी कृष्ण भक्ति भावना का अंकुर उनसे चिर-पोषित रहा और वह इन सभी को अपने प्यारे की मधुर झाँकी देखती हुई सहन कर गईं। श्वसुर-कुल का परित्याग किया फिर वह छोड़ा तीर्थयात्रा को निकल पड़ीं वृन्दावन पहुँचीं अनन्तर द्वारिकाधाम के भी दर्शन किए। चित्तौड़ के राणा विक्रमादित्य ने उन्हें फिर बुलाया किन्तु वह न गईं और द्वारिका में ही उनका शरीरांत हो गया।

मीरा ने संत रैदास को अपना गुरु बनाया था। श्वसुर कुल के संघर्षों में ही उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को पत्र लिखा था जिसके उत्तर में गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका का यह पद लिख भेजा था।

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

यों मीरा के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है, फिर भी उपर्युक्त सर्वमान्य है किन्तु भक्ति-भावना और कृष्ण के प्रति उनकी अनन्यता में किसी की दो राएँ नहीं हैं। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनके सम्बन्ध में यह छप्पय लिखा है—

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।
× × ×
भक्ति निशान बजाय कै काहूँ ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी॥

मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की थी। वह कृष्ण की पति रूप में उपासना किया करती थीं। इस भावना में अभेदता के कारण मस्त उन्मुक्त और स्वच्छन्द हृदय से सभी कुछ कहता है। इसी से मीरा के पदों में अपूर्व स्वाभाविकता और प्रासादिकता है। उनके पदों में समाहित इन विशिष्टताओं की तुलना में हिन्दी का कोई कवि खड़ा नहीं हो सकता न तुलसी न सूर।

मीरा की सम्पूर्ण रचना गेय है। लौकिक सम्बन्धों से विहीन 'अपने प्रभु

गिरिधर नागर' के समक्ष उन्होंने विरहिणी हृदय से नृत्य करते हुए क्या नहीं गाया है ? इसी से उनके पद-साहित्य में वियोग, वीज और आत्मसमर्पण के सभी तत्त्व सरलता से मिल जाते हैं। ब्रजभाषा के कृष्ण भक्त कवियों के समान उन्होंने कृष्ण के लीला-गान नहीं किए, किन्तु अपने प्रिय में तन्मय और निमग्न होकर भावावेग में जो वाणी से निसृत हो गया वही उनका सर्वस्व है। इसके लिए उन्होंने छन्द और अलंकारों की कभी अपेक्षा ही नहीं की, प्रिय की मधुर भावनाओं में वे स्वयं प्रवाहित हो उठी हैं। भले ही छन्दशास्त्र के आधार पर उनके पदों में दोष हों, किन्तु गेयता और संगीतात्मक तत्त्व उनमें पूर्ण प्रतिष्ठित है।

मीरा के पद राजस्थानी, ब्रजभाषा एवं गुजराती में उपलब्ध हैं। कहीं-कहीं इन पदों में इन भाषाओं का अपूर्व सम्मिश्रण हो उठा है। यह सब मीरा के पदों की लोकप्रियता और गेय परम्परा में आबद्ध होने के कारण हुआ है। यों वह राजस्थान के बाहर ब्रज और गुजरात में रही भी हैं, इससे भी यह असम्भावित सा नहीं लगता। मीरा के विप्रलंभ की अनुभूति बड़ी मार्मिक है—

> हे बरस नहिं आज्यूं सुणि रै बैद अनारी।
> तू का बैद मर आपणी रे तुमें खबर मोरी नाहीं।
> मोरे दरद का तु मरम नहिं जाणें करक कलेजा रे माहीं।
> प्राण जोग का लोग नहिं मोहि नाम दरस की भारी।
> तुम दरसन बिन जिव यूं तरसै ज्यूं जल बिन पनहारी।
> कहा कहूँ कछु कहत न आवै सुधि क्यों आप मुरारी।
> मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे जनम जनम की मैं थारी।
>
> —(मीरां बृहद पद-संग्रह १६)

अन्य कन्यान्तर का सम्बन्ध होते हुए भी कृष्ण की उपेक्षा है इससे विरहिणी मीरा रहे तो कैसे रहे।

> पिय बिन रह्यौ न जाइ।
> तन मन मेरा पिया पर वारूं बार बार बलि जाइ।
> निस दिन जोऊँ बाट पिया की कबरे मिलोगे आइ।
> मीरां के प्रभु आस तुम्हारी लीजो कण्ठ लगाइ।
>
> (पद्मावती शबनम—मीरां बृहद पद-संग्रह ४१)

इस विरह-दशा में पपीहा को दिया हुआ मीरा का यह उपालम्भ भी विचारणीय है—

> रे पपइया प्यारे कब को बैर चितार्‌यो।
> म सूती छी अपने भवन में, प्रिय पिव करत पुकार्‌यो।
> दाझ्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ो करवत सार्‌यो।
> उठि बैठो वृक्ष की डाली, बोल बोल कंठ सार्‌यो

मीरां के प्रभु गिरिधर नागर हरि चरणां चित धारयौ ।

—(पद्मावती शबनम—मीरां बृहद पद-संग्रह ४२)

मीरा को पारिवारिक जीवन में संघर्षों से साक्षात्कार करना पड़ा किन्तु वह अपने विश्वास आस्था और दृढ़ता से सभी पर विजय प्राप्त कर गई ।

राणा जी म्हारे गिरधर प्रीतम प्यारे हो
राणा जी म्हारे गिरधर प्रीतम प्यारे ।
व्यापक होय रह्यो घट घट में है सब ही से न्यारे ।
सबको सरजन हारो अन्तर घट की सब ही जाने ।
आप तो भेज्यो विषरो प्याला है मीरां ने मारो ।
कर चरणामृत पी गई जो गिरिधर संकट टारो ।
जनम जनम रो पति परमेश्वर राणो जी कौन बिचारो ।।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर सांची संवरी धारो ।

—(पद्मावती शबनम—मीरां बृहद पद-संग्रह ११२)

विरह के अनन्तर मीरा ने मिलन (संयोग) के गीत भी गाए हैं—

सहेलियां साजन घर आयो हो ।
बहोत दिनां की जोवती विरहिण पिव पाया हो ।
रतन करूं न्यौछावरी ले आरती साजूं हो ।
पिया का दिया सनेसड़ा, ताहि बहोत निवाजूं हो ।
पांच सखी इकट्ठी भई मिलि मंगल गावें हो ।
पिय की रली बधावणां आनंद अंगि न मावै हो ।
हरि सागर सूं नेहरो नैणा बांध्यो सनेह हो ।
मीरां सखि के आंगणे दूधां बूठा मेह हो ।।

—(पद्मावती शबनम—मीरां बृहद पद-संग्रह २१६)

उपर्युक्त उद्धरण वस्तुतः मीरा की आत्माभिव्यक्ति के सक्षम प्रतीक हैं । उनके सम्पूर्ण पदों में प्रिय विषयक मधुर भावना पिरोई हुई है जो सभी को आकर्षित करने में समर्थ है । उनके गीतों ने भक्ति-तत्त्वों को प्रदान कर आध्यात्मिकता को तो आभारी किया ही है किन्तु हिन्दी भी उनसे चिर-ऋणी है । मीरा के मधुर पदों की अपूर्व निधि से वह वस्तुतः गौरवशालिनी हो उठी है ।

पद विकास पर विहंगम दृष्टि

इस अध्याय के द्वारा पद-परम्परा के विकास का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । भक्ति-काल में सभी सम्प्रदायों के भक्तों ने पद-शैली के माधुर्य पर मुग्ध होकर उसे निस्संकोच रूप से ग्रहण किया था । धार्मिक सिद्धान्तों और स्थापनाओं के सम्प्रेषण के सम्बन्ध में वे सहजयानी सिद्ध और निर्गुणियाँ सन्तों की सफलता देख ही चुके थे ।

इससे उसके ग्रहण में उन्होंने आगा-पीछा नहीं किया। इस सम्बन्ध में यदि कोई सम्प्रदाय उदासीन रहा तो सूफी प्रेमाश्रयी शाखा के कवि ही। मूलतः इसका एकमात्र कारण यह था कि प्रेमाख्यानों में अविच्छिन्न समग्र जीवन की कथा प्रस्तुत करने में वर्णनात्मक शैली ही स्फुट शैली से अधिक उपयोगी थी। स्फुट शैली से प्रेम-तत्त्व की रसात्मकता में बाधा पड़ती इससे सूफी सन्तों ने उसका परित्याग ही उचित समझा। सन्त रामानन्द और कृष्णाश्रय सम्प्रदायों में तो सम्यक् प्रयोग हुआ ही है।

सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रतिपादन और उपदेशों के लिए ही अभी तक पदों का प्रयोग किया जा रहा था, किन्तु कृष्णाश्रय सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने सर्वप्रथम कृष्ण-चरित के वर्णन के लिए पदों को स्वीकार किया। प्रेम-माधुरी की उपासना के कारण भक्त कवियों की दृष्टि मुख्यतः कृष्ण के बाल और युवा जीवन पर ही टिकती थी। कथा-सूत्र कम होने के कारण वे एक-एक घटना के लिए पदों में पुनरुक्ति भी कर जाते रहे हैं, किन्तु रसासिक्त के कारण यह पद्धति अखरती नहीं है। कृष्ण चरित में स्फुट-शैली सम्भव है जबकि सूफी-सन्तों के प्रेमाख्यानों में नहीं। इसका कारण यह है कि कृष्ण चरित की कथा भागवत से उद्भूत है और लोक-विश्रुत है जबकि प्रेमाख्यानों का इस प्रकार का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। उनकी कहानियाँ लोक-जीवन के प्रत्येक स्तर की हो सकती थीं इससे प्रेम-तत्त्व के माध्यम से सूफी दार्शनिकता स्पष्ट करने के लिए वर्णनात्मक शैली ही अधिक उपयोगी थी। राम चरित के लिए पद-शैली का प्रयोग सर्वप्रथम तुलसीदास द्वारा 'गीतावली' में किया गया।

पद-शैली के विकास का उत्कर्ष कृष्णाश्रय सम्प्रदायों में ही प्राप्त है। पुष्टि, राधावल्लभीय, गौड़ीय, हरिदासी आदि सभी सम्प्रदायों ने काव्य में मात्र पद-शैली का प्रयोग किया। इनमें कृष्ण और राधा की अर्चना-वन्दना के लिए संगीत की पूर्ण व्यवस्था आवश्यक समझी जाती रही है इससे उनमें गेय पदों का ही रचा जाना आवश्यक रहा है।

रस-तत्त्व

कबीर और उनके सम्प्रदाय के सन्त जीवन से विरक्त थे। इससे उनकी वाणियों में निर्वेद स्थायीभाव के कारण शान्त रस का ही प्राधान्य है। निष्कृति के लिए मानव-मात्र को जीवन की अस्थिरता, विषय के सुख-विलास की असारता, माया की प्रबलता का उल्लेख कर वे ब्रह्म-सायुज्य के लिए जीवन में सात्त्विकी वृत्तियों के समावेश की अभिप्रेरणा देते थे। इसके लिए शान्त रस के अतिरिक्त कोई अन्य रस उपयोगी न था। कबीर अपने काव्य में 'हरि जननी मैं बालिक तोरा' और 'हरि की बहुरिया' भी बने हैं। ऐसे स्थलों पर वात्सल्य और शृंगार रसों का आभास होता है, किन्तु पद की समाप्ति तक निर्वेद भाव का आ जाना अवश्यम्भावी रहा है। सिख गुरुओं की पदावली में भी अद्वैत ब्रह्म के लिए शान्त रस का ही प्रयोग है।

रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में भी शान्त रस ही प्रधान है। कृष्णाश्रय सम्प्रदायों के भक्त कवियों ने कृष्ण चरित्र के अतिरिक्त विषय के पद भी लिखे हैं। इन पदों में निर्वेद स्थायीभाव ही है। कृष्ण-काव्य में वात्सल्य और शृंगार की ही अपूर्व छटा विद्यमान रही है। वात्सल्य से शृंगार का 'संयोग पक्ष' जुड़ जाता है अनन्तर कृष्ण के प्रवास में चले जाने पर यशोदा नन्द गोप गोपियाँ सभी के लिए 'वियोग पक्ष' भी घटित हो जाता है। अवतारी कृष्ण के वात्सल्य तथा शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में इन भक्त कवियों की जो भाव-धारा प्रस्फुटित हुई है वह भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। माधुर्य भाव के ऐसे स्थलों के मध्य में यत्र-तत्र एकाध पदों में अन्य रसों का स्वरूप भी उपलब्ध है किन्तु उनमें कवि-हृदय की वृत्ति रमती नहीं है। प्राधान्य वात्सल्य और शृंगार का ही रहा है।

भाषा-तत्त्व

कबीर की भाषा-शैली में राजस्थानी भाषा के अधिक शब्द हैं। यत्र-तत्र भ्रमण करते रहने के कारण विविध भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उनकी पदावलियों में मिलता है। शेख फरीद तथा सिख गुरु पंजाब के थे इससे पंजाबी भाषा के शब्दों का उनकी वाणियों में प्राचुर्य है। शेष सन्त कवियों की भाषा व्रजभाषा की ओर उन्मुख है।

रामानन्द की पदावलियों में काशी के समीप की पूर्वी भाषा का प्रयोग हुआ है। कृष्णाश्रय सम्प्रदायों में मीरा के अतिरिक्त सभी भक्त कवियों ने व्रजभाषा को ही अपनाया है। कृष्ण का सम्बन्ध व्रज से रहा है। इससे कवियों की भावनाओं में व्रजभाषा स्वयं प्रतिष्ठित हो उठी है। मीरा मेड़ता के अतिरिक्त गुजरात और वृन्दा-वन में भी रहीं थीं इससे उनके पदों में राजस्थानी गुजराती और व्रजभाषा आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं।

पद-शैली संगीतात्मक तत्त्वों के कारण मधुर और कोमल है। इसी कारण उनमें मधुर भावनाओं के साथ मधुर भाषा का प्रयोग न्यायोचित समझा जाता है। हिन्दी भाषा के अन्तर्गत सभी भाषाओं में व्रजभाषा मधुरतम है, इससे हिन्दी की पद शैली में उसका ही शत प्रतिशत प्रयोग हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व के लिए अवकाश

मुसलमानों की आधीनता तथा धार्मिक भावना के प्रचार और प्रसार के कारण भारतीय संस्कृति धार्मिकता तथा जीवन के सभी क्षेत्रों पर ग्रहण सा लगता जाता था। यदि इस कमनीय संक्रान्ति-वेला पर दक्षिण के आचार्यों ने आवरण का मन-सम्भेद न किया होता तो निस्सन्देह देश को अघात लग जाता और हम तथा हमारी संस्कृति के अस्तित्व कभी के विलुप्त हो जाते। उन्हीं के इङ्गित पर कबीर

रामानन्द वल्लभ आदि देश की सद्गुरु-निष्ठा के स्थान पर अद्वैतीवाद लाने के लिए अग्रसर हुए। वे सफल भी हुए यह देश का सौभाग्य था किन्तु उनमें अभाव थे जिससे देश आश्वस्त न हो सका। जिसकी पूर्ति में तुलसी का व्यक्तित्व और कवित्व उपयोगी सिद्ध हुआ। फलतः देश समाधान और आश्वासन के साथ निष्कृति के पथ पर आरूढ़ हो सका।

कबीर ने अद्वैतवादी ब्रह्म का ही प्रतिपादन था। इससे उनका सम्प्रदाय लोक-जीवन में बसते गृहस्थों की अपेक्षा ज्ञानियों और विरक्तों को ही अधिक उपयोगी था। उनकी वाणियों और ब्रह्म में लोकादर्श का कहीं भी संकेत न होने के कारण उनसे जन-जीवन का रंजन न हो सका। आत्मपर्यक शाखा में यही सबसे बड़ा अभाव था जिससे उनका सम्प्रदाय सफल न हो सका। इसी प्रकार के अभाव कृष्णावत सम्प्रदायों में भी थे। माधुर्योपासना की स्वीकृति के कारण उनमें कृष्ण के समग्र जीवन की मान्यता न थी। उनके बाल और युवा जीवन के केवल मधुर आदर्श तो सामने आ सके किन्तु पूर्ण जीवन की कल्पना तिरोहित ही रही। कृष्ण के जीवन के इन अंशों के विकास के कारण गोलोक विहारी विष्णु के शक्ति-शील-सौंदर्य इन तीन तत्त्वों में केवल सौंदर्य का ही प्रस्फुटन हो सका। शक्ति और शील के अभाव में उनके द्वारा लोक-जीवन की पूर्णता और आदर्श सामने नहीं आ सके। भारत को अपनी धन्य विभूति से इन आदर्शों की पूर्ति करनी थी। ऐसी आवश्यकता के समय ही नाना पुराण निगमागम से ज्ञान भक्ति कर्म मर्यादा लोकादर्श जीवन की पूर्णता आदि तत्त्वों के साथ तुलसीदास ने वाल्मीकि के राम को समवस्त रूप से युक्त कर देश के समस्त प्रस्तुत कर दिया। शक्ति शील सौंदर्य से युक्त तुलसी के राम सभी के लिए सभी समय उपयोगी सिद्ध हुए। सच तो यह है कि तुलसी के व्यक्तित्व और कवित्व से देश को गौरव ही नहीं मिला किन्तु निष्कृति का शाश्वत सन्देश भी मिला।



५

तुलसी के गीति काव्य का विषय

रचना काल—'कृष्ण गीतावली' 'गीतावली' एवं 'विनयपत्रिका' गो० तुलसीदास के तीन पद-काव्य हैं। कुछ विद्वान इन तीनों को ही स्फुट काव्य मानते हैं किन्तु विनयपत्रिका अपने स्वरूप से उक्त तथ्य की अपवाद ठहरती है। इस काव्य में आदि से लेकर अन्त तक सभी पद विनय भावना से आप्लावित राम भक्ति की ओर उन्मुख हैं और राम भक्ति भावना उत्तरोत्तर विकास-प्राप्त होती हुई अन्तिम पद में विराम ले उठी है। इससे भक्ति भावना की अविच्छिन्न धारा उसे अस्फुट काव्य ही सिद्ध करती है।

'कृष्ण-गीतावली' और 'गीतावली'—ये दोनों रचनाएँ वेणीमाधवदास ने अपने 'गोसाईं चरित' में संवत् १६२८ की मानी हैं।[1] गोस्वामीजी ने उक्त सम्वत् से पूर्व इन दोनों काव्यों के पदों की रचना अवश्य स्फुट रूप में कर डाली होगी। तभी सं० १६२८ में उन्हें संगृहीत कर उनके आधार पर इन दोनों काव्यों का नाम-करण किया होगा।

वेणीमाधवदास के आधार पर 'विनयपत्रिका' का निर्माण-काल गोस्वामीजी की मिथिला-यात्रा से पूर्व का है। इस प्रकार इसका रचना-काल सं० १६३९ ठहरता है किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास को सं० १६६६ की विनयावली की एक प्रति प्राप्त हुई है। इससे अब यह विचारधारा मान्य हो रही है कि तुलसीदास की मिथिला-यात्रा से पूर्व सम्भव है कि विनयपत्रिका का कोई-न-कोई रूप प्रस्तुत हो गया हो किन्तु सं० १६६६ में १७५ पदों का यह काव्य सं० १६६९ से पूर्व २७९ पदों में तुलसी के द्वारा विनयावली से विनयपत्रिका का नाम प्राप्त कर गया है यह सत्य है। इस काव्य में काशी की महामारी (१६६९ वि०) का उल्लेख न होने के कारण यह प्रमाणित है कि विनयपत्रिका को अपना यह स्वरूप सं० १६६६ और सं० १६६९ के मध्य में मिला होगा।

तुलसी के इन पद-काव्यों के वर्गीकृत अध्ययन में प्रवेश करने से पूर्व इनके विषयों से परिचित हो लेना उचित है। इसी से प्रस्तुत अध्याय में उनके तीनों काव्यों का विषय-परिचय प्रदान किया जा रहा है।

---

१ जब सोरह सै बसु बीस चढ्यो पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ्यो।
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यो॥
—गोसाईं चरित

१ कृष्ण-गीतावली

यों गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त थे किन्तु राम के चरित्र के समान कृष्ण चरित्र को भी अपने काव्य का विषय बनाकर उन्होंने अपनी उदार-वृत्ति और हृदय की विशालता का परिचय दिया है। श्री गोवर्धननाथजी के दर्शन के लिए जाने पर तुलसीदास ने उन्हें अपना मस्तक नहीं नवाया। एक देवता के स्वरूप की उपेक्षा की घटना का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भले ही हो किन्तु तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य इसके समर्थन में किसी प्रकार का अन्तस्साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। जिसकी वाणी 'सिया राम मय सब जग जानी' का उद्घोष करती हो वह कभी अनुदार नहीं हो सकती यह चिर सत्य है।

कृष्ण भक्त कवियों के समान ही गोस्वामी तुलसीदास ने कृष्ण के निम्न चरित्रों को अपने स्फुट गीतों का आधार बनाया है—बाल-लीला गोपी उपालम्भ उलूखल बन्धन इन्द्रकोप और गोवर्धन धारण गोचारण अथवा छाक लीला यमुना-तट पर *वंशी-वादन कृष्ण-शोभा-वर्णन गोपी विरह (भ्रमरगीत)* एवं *भक्त (द्रोपदी) मर्यादा* रक्षण।

इस छोटे से काव्य में कवि की दृष्टि प्रमुख रूप से बाल-लीला और गोपी विरह पर टिक सकी है अन्य घटनाओं के वर्णन में कवि ने एक-एक दो-दो पद रच कर अपने कवि-कर्म की समाप्ति कर दी है। कृष्ण भक्त कवियों में प्रमुखतः सूर ने उपर्युक्त स्थलों में भाव निमग्न होकर बहुत कुछ कहा है। एक-एक घटना के वर्णन में सूर ने अपनी स्वच्छन्द भावना को उसकी स्वाभाविक स्थिति तक अग्रसर होने दिया है। इसी से कृष्ण-चरित्र सरलता से 'सूर-सागर' हो सका है। सूरदास के द्वारा प्रतिपादित 'कृष्ण चरित' के सम्बन्ध में उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि तुलसीदास में भावुकता का अभाव था। उनकी 'कृष्ण गीतावली' में भी कवि-सुलभ भावुकता का उपयोग है जिसका विवेचन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है।

'कृष्ण गीतावली' में जब-तब आस्तिक भावनाएँ समाहित हैं। इस काव्य में भी कृष्ण-चरित्र को देखकर देवगण पुष्प-वर्षा करते हैं।[1] द्रोपदी की मर्यादा रक्षण के उल्लेख में भी तुलसी का राम भक्त कवि जीवन्त है।[2]

---

१ तुलसी निरखि हरषत बरषत फूल।
भूरिभागी ब्रजबासी बिबुध सिद्ध सिहात। —(कृष्ण-गीतावली—२)

२ युग युग जग साके केसव के
समन कलेस कुसाज सुभाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति
कृष्ण कृपालु भगति पथ राजी। —(कृष्ण-गीतावली—६१)

५

तुलसी के गीति काव्य का विषय

रचना काल—'कृष्ण गीतावली' 'गीतावली' एवं 'विनयपत्रिका' गो० तुलसीदास के तीन पद-काव्य हैं। कुछ विद्वान इन तीनों को ही स्फुट काव्य मानते हैं किन्तु विनयपत्रिका अपने स्वरूप में उक्त तथ्य की अपवाद ठहरती है। इस काव्य में आदि से लेकर अन्त तक सभी पद विनय भावना से आप्लावित राम-भक्ति की ओर उन्मुख हैं और राम भक्ति-भावना उत्तरोत्तर विकास-प्राप्त होती हुई अन्तिम पद में विराम ले उठी है। इससे भक्ति भावना की अविच्छिन्न धारा उसे अस्फुट काव्य ही सिद्ध करती है।

'कृष्ण-गीतावली' और 'गीतावली'—ये दोनों रचनाएँ वेणीमाधवदास ने अपने 'गोसाईं चरित' में संवत् १६२८ की मानी हैं।[1] गोस्वामीजी ने उक्त सम्वत् से पूर्व इन दोनों काव्यों के पदों की रचना अवश्य स्फुट रूप में कर डाली होगी। तभी सं० १६२८ में उन्हें संग्रहीत कर उनके आधार पर इन दोनों काव्यों का नाम-करण किया होगा।

वेणीमाधवदास के आधार पर 'विनयपत्रिका' का निर्माण-काल गोस्वामीजी की मिथिला-यात्रा से पूर्व का है। इस प्रकार इसका रचना-काल सं० १६६६ ठहरता है किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास को सं० १६६६ की विनयावली की एक प्रति प्राप्त हुई है। इससे अब यह विचारधारा मान्य हो रही है कि तुलसीदास की मिथिला-यात्रा से पूर्व सम्भव है कि विनयपत्रिका का कोई-न-कोई रूप प्रस्तुत हो गया हो किन्तु सं० १६६६ में १७६ पदों का यह काव्य सं० १६६६ से पूर्व २७९ पदों में तुलसी के द्वारा विनयावली से विनयपत्रिका का नाम प्राप्त कर गया है यह सत्य है। इस काव्य में काशी की महामारी (१६६६ वि०) का उल्लेख न होने के कारण यह प्रमाणित है कि विनयपत्रिका को अपना यह स्वरूप सं० १६६६ और सं० १६६६ के मध्य में मिला होगा।

तुलसी के इन पद-काव्यों के वर्गीकृत अध्ययन में प्रवेश करने से पूर्व इनके विषयों से परिचित हो लेना उचित है। इसी से प्रस्तुत अध्याय में उनके तीनों काव्यों का विषय-परिचय प्रदान किया जा रहा है।

---

1. जब सोरह सै बसु बीस चढ़्यो पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ़्यो।
   तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो अरु कृष्ण गीतावलि रांचि सर्यो॥
   —गोसाईं चरित

१ कृष्ण-गीतावली

यों गोस्वामीजी राम के अनन्य भक्त थे किन्तु राम के चरित्र के समान कृष्ण चरित्र को भी अपने काव्य का विषय बनाकर उन्होंने अपनी उदार-वृत्ति और हृदय की विशालता का परिचय दिया है। श्री गोवर्धननाथजी के दर्शन के लिए बाण पर तुलसीदास ने उन्हें अपना मस्तक नहीं नवाया। एक देवता के स्वरूप की उपेक्षा की घटना का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भले ही हो किन्तु तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य इसके समर्थन में किसी प्रकार का अन्तस्साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। जिसकी वाणी 'सिया राम मय सब जग जानी' का उद्घोष करती हो वह कभी अनुदार नहीं हो सकती यह चिर सत्य है।

कृष्ण-भक्त कवियों के समान ही गोस्वामी तुलसीदास ने कृष्ण के निम्न चरित्रों को अपने स्फुट गीतों का आधार बनाया है—बाल-लीला गोपी उपालम्भ उलूखल बन्धन इन्द्रकोप और गोवर्धन धारण गोचारण अथवा छाक लीला यमुना-तट पर बंशी-वादन कृष्ण-शोभा-वर्णन गोपी विरह (भ्रमरगीत) एवं भक्त (द्रौपदी) मर्यादा रक्षण।

इस छोटे से काव्य में कवि की दृष्टि प्रमुख रूप से बाल लीला और गोपी विरह पर टिक सकी है, अन्य घटनाओं के वर्णन में कवि ने एक-एक दो-दो पद रच कर अपने कवि-कर्म की समाप्ति कर दी है। कृष्ण भक्त कवियों में प्रमुखतः सूर ने उपर्युक्त स्थलों में भाव-निमग्न होकर बहुत कुछ कहा है। एक-एक घटना के वर्णन में सूर ने अपनी स्वच्छन्द भावना को उसकी स्वाभाविक स्थिति तक अग्रसर होने दिया है। इसी से कृष्ण-चरित्र सरलता से 'सूर-सागर' हो सका है। सूरदास के द्वारा प्रतिपादित 'कृष्ण चरित' के सम्बन्ध में उक्त कथन का यह मन्तव्य नहीं है कि तुलसीदास में भावुकता का अभाव था। उनकी 'कृष्ण गीतावली' में भी कवि-सुलभ भावुकता का उपयोग है, जिसका विवेचन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है।

'कृष्ण गीतावली' में यत्र-तत्र आस्तिक भावनाएँ समाहित हैं। इस काव्य में भी कृष्ण-चरित्र को देखकर देवगण पुष्प-वर्षा करते हैं।[1] द्रौपदी की मर्यादा रक्षण के उल्लेख में भी तुलसी का राम भक्त कवि जीवन्त है।[2]

---

१ तुलसी निरखि हरषत बरषत फूल।
भूरिभागी ब्रजबासी बिबुध सिद्ध सिहात। —(कृष्ण-गीतावली—२)

२ जुग जुग जग साके केसव के
समन कलेस कुसाज सुभाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति
कृष्न कृपालु भगति पथ राजी। —(कृष्ण-गीतावली—६१)

५

तुलसी के गीति काव्य का विषय

रचना काल—'कृष्ण गीतावली' 'गीतावली' एवं 'विनयपत्रिका' गो० तुलसी दास के तीन पद-काव्य हैं। कुछ विद्वान इन तीनों को ही स्फुट काव्य मानते हैं किन्तु विनयपत्रिका अपने स्वरूप में उक्त तथ्य की अपवाद ठहरती है। इस काव्य में आदि से लेकर अन्त तक सभी पद विनय भावना से आप्लावित राम-भक्ति की ओर उन्मुख हैं और राम-भक्ति-भावना उत्तरोत्तर विकास-प्राप्त होती हुई अन्तिम पद में विराम ले उठी है। इससे भक्ति-भावना की अविच्छिन्न धारा उसे अस्फुट काव्य ही सिद्ध करती है।

'कृष्ण-गीतावली' और 'गीतावली'—ये दोनों रचनाएं वेणीमाधवदास ने अपने 'गोसाईं चरित' में संवत्‌ १६२८ की मानी है।[1] गोस्वामीजी ने उक्त सम्वत् से पूर्व इन दोनों काव्यों के पदों की रचना अवश्य स्फुट रूप में कर डाली होगी। तभी सं० १६२८ में उन्हें संग्रहीत कर उनके आधार पर इन दोनों काव्यों का नाम-करण किया होगा।

वेणीमाधवदास के आधार पर 'विनयपत्रिका' का निर्माण-काल गोस्वामीजी की मिथिला-यात्रा से पूर्व का है। इस प्रकार इसका रचना-काल सं० १६३९ ठहरता है किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास को सं० १६६६ की विनयावली की एक प्रति प्राप्त हुई है। इससे अब यह विचारधारा मान्य हो रही है कि तुलसीदास की मिथिला-यात्रा से पूर्व सम्भव है कि विनयपत्रिका का कोई-न-कोई रूप प्रस्तुत हो गया हो किन्तु सं० १६६६ में १७६ पदों का यह काव्य सं० १६६९ से पूर्व २७९ पदों में तुलसी के द्वारा विनयावली से विनयपत्रिका का नाम प्राप्त कर गया है यह सत्य है। इस काव्य में काशी की महामारी (१६६९ वि०) का उल्लेख न होने के कारण यह प्रमाणित है कि विनयपत्रिका को अपना यह स्वरूप सं० १६६६ और सं० १६६९ के मध्य में मिला होगा।

तुलसी के इन पद-काव्यों के वर्गीकृत अध्ययन में प्रवेश करने से पूर्व इनके विषयों से परिचित हो लेना उचित है। इसी से प्रस्तुत अध्याय में उनके तीनों काव्यों का विषय-परिचय प्रदान किया जा रहा है।

---

१ जब सोरह सै बसु बीस चढ्यो पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ्यो।
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो अरु कृष्ण गीतावलि रांचि सर्यो॥
—गोसाईं चरित

कृष्ण के इस चरित-गान में सगुण भावना का ही समावेश है। विष्णु के अवतारी स्वरूप कृष्ण में तुलसी की अपूर्व निष्ठा और भक्तिभावना विद्यमान है।

२ गीतावली

'गीतावली' रामचरित परक गेय काव्य है। यों सम्पूर्ण राम-कथा ही काव्य में पिरोई हुई है किन्तु इसमें कथा का वैसा सुगठित और सुमभित रूप नहीं है जैसा मानस में है। मूलतः उसको गीतात्मकता प्रधान करनी थी इससे कवि-सुलभ प्रतिभा और चातुरी होते हुए भी तुलसी अन्य स्वरूप से इसे सुशोभित न कर सके। कथा के अविच्छिन्न प्रवाह में राम के सौन्दर्य उनके कारण उत्पन्न करुण-स्थल और भक्ति भावना पर ही उनकी दृष्टि विशेष रूप से जमी है अन्य स्थलों को कवि ने या तो वर्णन के अयोग्य समझकर छोड़ ही दिया है अथवा संकेत भर दे दिया है।

गीत काव्यों के केवल मधुर और करुण स्थल ही कवि के आकर्षण के विषय रहा करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य केवल तुलसी के साथ ही सत्य नहीं है किन्तु प्रमाण के लिए सूरदास का सूरसागर अथवा किसी भी युग का कोई भी गीति-काव्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

गीतावली तुलसी का स्फुट गेय काव्य है। मानस के समान सात काण्डों के होते हुए भी उनके मध्य में कवि की एक सूत्रता और समर्थता नहीं है। इसीसे इसका सबसे बड़ा (बाल) काण्ड १०८ पद का है तो छोटा (किष्किन्धा) काण्ड केवल २ पद का है। आस्तिक कवि की रचना होते हुए भी काव्य के प्रारम्भ में किसी भी प्रकार की वन्दना नहीं है। उपर्युक्त के अतिरिक्त चरित्रों का पूर्ण विकसित न होना घटनाओं का असम्बद्ध और विशृङ्खल होना आदि ऐसे प्रमाण हैं जो गीतावली को स्फुट ही सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के होते हुए भी इस काव्य में तुलसी ने अपने अन्य काव्यों की अपेक्षा कुछ मौलिकताएँ समाविष्ट की है। विषय-परिचय के साथ ही उनको जानने और समझने में सुविधा होगी। इससे प्रत्येक काण्ड की सामग्री से अलग-अलग परिचित हो लेना ही उचित होगा।

बालकाण्ड

परम्परागत प्रबन्ध काव्यों की रूढ़ियों तथा राम-जन्म से पूर्व दीर्घ भूमिका का मानस के समान इसमें प्रयोग नहीं है किन्तु

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन-धाम राम नृप-भवन प्रकट भए आई।

से काव्य का प्रारम्भ है। इस काण्ड में राम का बाल चरित विश्वामित्र का आगमन अहल्योद्धार, विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर आगमन पुष्प-

वाटिका में सीता राम, रङ्ग भूमि में राम-लक्ष्मण, विवाह की तैयारी, विवाहोपरान्त सभी का अयोध्या आगमन आदि के वर्णन प्रस्तुत हैं। यों मानस की तुलना में कति पय घटनाएँ परित्यक्त हैं, किन्तु परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद का परित्याग आश्चर्य में डाल देता है। मानस की उक्त कौतूहलपूर्ण घटना कौशल्या को केवल इन दो पंक्तियों में समाहित है—

दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी॥
—(बालकाण्ड—१०९ ४)

इस काण्ड में राम तथा उनके अनुजों का बाल चरित्र-वर्णन तुलसी के अन्य काव्यों से सबसे अधिक वर्णित है। चरित्र-वर्णन अभिनयात्मक न होकर केवल वर्ण नात्मक है। राम के सौन्दर्य का बार-बार कथन है। वैसा ही वर्णन जनकपुर में पधारने के अनन्तर विवाह-काल तक प्रस्तुत किया गया है।

विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण माँगने पर राजा दशरथ की दशा और उनके चले जाने पर कौशल्या का विरह परक वात्सल्य दृष्टव्य है।

राजा दशरथ

एहे ठवि से नृपति सुनि मुनिबर के बचन।
कहि न सकत कछु राम प्रेम-बस पुलक गात भरे नीर नयन॥
—(बालकाण्ड—२१)

कौशल्या

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे?
भूख पियास सीत श्रम सकुचन क्यों कौसिकहि कहहिंगे?
—(बालकाण्ड—९९)

× × ×

ऋषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥
सिरिस-सुमन-सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी।
पठए बिनहिं सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी॥
—(वही—१००)

दोनों ही स्थल बड़े ही सजीव हैं।

अयोध्याकाण्ड

इस काण्ड में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, वन के लिए विदाई, राम वन

के मार्ग में चित्रकूट-वर्णन कौशल्या की विरह-वेदना दशरथ का देह-त्याग भरत का अयोध्या-आगमन भरत का चित्रकूट-प्रस्थान राम भरत-मिलाप राम विधुरा अयोध्या आदि के वर्णन कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं।

सच तो यह है कि मानस में इस काण्ड की प्रमुख कथा यहाँ शिथिल हो उठी है। महाकाव्य के अनुकूल कथा गढ़ने में तुलसी ने घटना और भाव-वैचित्र्य की जितनी व्यवस्था वहाँ की है वैसी यहाँ नहीं है। गीतावली के इस काण्ड के प्रारम्भिक पद में राम के राज्याभिषेक की चर्चा भर है द्वितीय पद में वह वन के लिए विदा हो रहे हैं।

राज्याभिषेक की तैयारियों के मध्य में मंथरा की कुमंत्रणा कोप भवन में कैकेयी से राजा दशरथ की भेंट परस्पर का वार्तालाप आदि सभी कुछ वर्णित न होकर कवि ने उसका संकेत भर कर दिया है—

सुनत नगर आनंद बधावन कैकेयी बिलखानी।
तुलसीदास देवमायावस कठिन कुटिलता ठानी।

—(अयोध्याकाण्ड—१)

राम की विदा-वेला पर राजा दशरथ परिजन पुरजन तथा पशु-पक्षियों के हृदय विदारक दृश्य का यहाँ वर्णन नहीं है। कौशल्या का मातृ-हृदय अवश्य वात्सल्य से उफन उठा है। दशरथ को केवल इतना ही कहने का अवकाश मिल सका है—

मोको बिधुबदन बिलोकन दीजै।
राम लषन मेरी यहै भेंट बलि जाउँ जहाँ मोहि मिलि लीजै॥

—(वही—१२)

सुमन्त के राम को भेजकर लौट आने पर उनका मानस पुन उद्वेलित होकर (पद ११ १७ २८ १६) अवश्य कुछ कह सका है और वहीं उनके जीवन की समाप्ति हो उठी है। राम के सम्बन्ध में कौशल्या की विरह-वेदना चरमोत्कर्ष पर पहुँच रही है (पद—२१ ५२ ५३ ५४ ५५, ८१ ८४ ८२ ८६, ८७)।

इस काण्ड में राम-सीता-लक्ष्मण के वन-पथ पर होने की स्थिति में ग्रामीण स्त्रियों ने उनको देखकर जो सहृदय भाव-धारा व्यक्त की है तथा अयोध्या लौटने पर भरत ने जिस 'भायप भगति' का परिचय दिया है वह सब इस काण्ड को सन्तुलित रख सका है। यों चित्रकूट में मानस के समान भरत मिलाप भी है किन्तु वह वैसा सजीव नहीं है। आचार्य शुक्ल के अनुसार मानस के इस काण्ड में जितनी विभिन्न परिस्थितियों का संघटन है, वह सब यहाँ नहीं है।

अरण्यकाण्ड

राम का वन-विहार, मारीच-वध सीता-हरण जटायु-वध राम की वियोग व्यथा जटायु से भेंट, शबरी से भेंट आदि घटनाओं का इस काण्ड में वर्णन है।

जयन्त-नेत्र भंग, अनुसूया का सीता को उपदेश, विराध-वध, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य से मिलन, लक्ष्मण-राम संवाद (धर्म-तत्त्व-निरूपण), खरदूषण का समर और संहार, सीता का अग्नि में निवास, रावण-मारीच-संवाद आदि मानस के स्थल इसमें नहीं हैं।

सीता-हरण में रावण का केवल संकेत-मात्र है। रावण के लिए 'काहु' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है—

बंधु बिलोकि कहत तुलसी प्रभु, भाई भली न कीन्ही।
मेरे जान जानकी काहु खल छल करि हरि लीन्ही॥ —(अयोध्याकाण्ड ६)

इस काण्ड की जटायु भेंट में राम की करुणा और शबरी भेंट में उनकी भक्त वत्सलता के मार्मिक चित्रण हैं—

राघौ गीध गोद करि लीन्हौं।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हो॥
सुनहु लखन! खगराजहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यौ॥
—(वही ११)

भक्ति भावना का शबरी का निम्न चित्र देखिए—

प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम-लखन मेरे आजु।
जानत जन जियकी मृदु चित राम गरीब निवाजु॥ —(वही १७)

किष्किन्धाकाण्ड

गीतावली का यह सबसे छोटा काण्ड है जिसमें केवल दो पद हैं। इसमें ऋष्यमूक पर्वत पर राम और 'सीता की खोज का पारेख' आदि का वर्णन है। किसी प्रमुख घटना का उल्लेख नहीं है। मानस की इस काण्ड की राम सुग्रीव भेंट, बालि वध, सुग्रीव का राजतिलक, राम का वर्षा और शरद वर्णन, राम का सुग्रीव पर रोष, सीता खोज में वानरसेना का प्रस्थान और जामवन्त का हनुमान को समुद्र लांघने और सीता खोज के लिए उत्साहित करना आदि घटनाओं का पूर्ण अभाव है।

सुन्दरकाण्ड

मानस के समान इस काण्ड में हनुमान का समुद्र लंघन, सुरसा और हनुमान, लंकिनी-वध, लंका में प्रवेश, विभीषण से मिलन, रावण-सीता-वार्तालाप, लंका-दहन आदि का वर्णन नहीं है।

इसमें हनुमान के अशोकवन में पहुँचने से कथा का सूत्रपात है। इसके अतिरिक्त हनुमान और रावण की भेंट, सीता से हनुमान की विदाई, हनुमान का राम के समीप पहुँचना, वानरसेना की लंकायात्रा, रावण की मंत्रणा, विभीषण-शरणागति, जानकी-त्रिजटा संवाद आदि स्थल समाविष्ट हैं।

इस काण्ड की कथा बड़ी ही सुकठित है किन्तु फिर भी रावण-सीता-वार्तालाप तथा लंका-दहन जैसी घटनाएँ छूट ही गई हैं। इनका गोस्वामी तुलसीदास ने केवल संकेत मात्र कर दिया है।

प्रबल्ति कनु कालो कुलिस की कोप-लिम्प बढ़ोइ।
समुझि सम भयो ईस-आयसु कलसभव जिय जोइ॥ —(पद २)

× × ×

मैं सुनी बात असैली जे कही निसिचर नीच।
क्यों न मारें काल बैठो काल-काकुलि बीच॥ —(पद ६)

इसी प्रकार हनुमान का सीता से विदा माँगने पर लंकादहन का परिचय होता है—

लंक-दाह उर आनि मानिबो सोचु राम सेवक को कहिबो।
तुलसी प्रभु सुजस गाइहैं, मिटि जैहै सबको सोचु-दव दहिबो॥

—(पद १४)

इस काण्ड में सीता-मुद्रिका और सीता-हनुमान के वार्तालाप राम से सीता की विरह-दशा का हनुमान का उल्लेख सीता-त्रिजटा-संवाद आदि बड़े ही करुण और मर्म-स्पर्शी हैं। विभीषण-शरणागति वर्णन में भक्ति भावना का सजीव प्रस्फुटन है।

यों हनुमान बड़े वीर धीर थे किन्तु सीता और मुद्रिका की स्थिति से उनका हृदय भी विकल उठा—

सुवन समीर को धीर धरीन बीर बड़ोह।
देखि गति सिय मुद्रिका को बाल ज्यों दियो रोइ॥ —(पद ५)

सीता की विरह-दशा के सम्बन्ध में हनुमान के निम्न वाक्य ही सबल प्रमाण हैं—

मातु! काहे को कहति अति बचन दीन?
तबकी तुही जानति अबकी हौं ही कहत
सबके जिय की जानत प्रभु प्रबीन। —(पद ८)

सीता की राम-दर्शन की अभिलाषा बड़ी मार्मिक है—

कबहुँ कपि! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन चकोर प्रीति बस राका ससि मुख दिखरावहिंगे॥—(पद १)

रावण से अपमानित होने पर विभीषण ने राम की शरण में जाने से पूर्व अपनी माता और भाई कुबेर से अनुमति ली है। वस्तुतः माता से अनुमति लेना काव्य का विशेष स्थल है—

जाय माय पाँय परि कथा सो सुनाई है।
समाधान करति विभीषण को बार बार
'कहा भयो तात! लात मारे बड़ो भाई है।
यहाँ ते विमल भये राम की सरन गए,

मनो मेरु सीस राजे निपट निकाई है। —(पद २१)

लकाकाण्ड

घटनाओं के संघटन में यह काण्ड बड़ा नहीं है। समुद्र में पुल बाँधना, रामेश्वर की स्थापना सेना सहित राम का लंका प्रवेश आदि का अभाव है। कुम्भकर्ण और मेघनाद के युद्धों का भी वर्णन नहीं है। यहाँ तक राम रावण के युद्ध को भी कवि उपेक्षित कर गया है।

इस काण्ड में रावण को मन्दोदरी प्रबोध अंगद का दूत-कर्म लक्ष्मण-मूर्छा विजयी राम अयोध्या में प्रतीक्षा अयोध्या में आनन्द राम राज्याभिषेक आदि का वर्णन है।

इन घटनाओं में लक्ष्मण-मूर्छा और अयोध्या में प्रतीक्षा के स्थल बड़े ही करुण हैं। प्रथम में राम का विलाप और द्वितीय में कौशल्या का पुत्र विरह सम्बन्धी आत्म निवेदन का अवकाश मिल गया है।

लक्ष्मण संजीवनी को खाकर (पद १५) उठते हैं और उसके आगे के पद में ही 'विजयी राम' का कवि चित्रण कर उठता है।

राजत राम काम-सत-सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज संग सोभित फेरत चाप विसिष बनरुह कर॥
—(पद १६)

कौसल्या का मातृत्व इस काण्ड में भी राम के लिए उद्वेलित हो उठा है—
बैठि सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग! फुरि बाता॥—(पद १९)

×　　　　×　　　　×

क्षेमकरी! बलि बोलि सुबानी।
कुसल छेम सिय राम-लखन कब ऐहैं। अंब! अवध रजधानी॥
—(पद २०)

उत्तरकाण्ड

मानस के उत्तरकाण्ड के समान ज्ञान भक्ति-भेद आदि का तात्विक विवेचन यहाँ नहीं है। तत्सम्बन्धी विवरण न होकर राम-स्वरूप की माधुरी हिंडोला वर्णन आदि को प्रमुखता मिल गई है। गीतावली का यह काण्ड सम्पूर्ण तुलसी काव्य में विशिष्टता रखता है।

इस काण्ड में राम राज्य रामरूप वर्णन रामहिंडोला अयोध्या की रमणीयता दीपमालिका वसन्त-विहार अयोध्या का आनन्द राम राज्य सीता-बनवास लव-कुश जन्म और रामचरित का उत्कर्ष है।

तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस काव्य में हिंडोला झूलते और फाग खेलते हैं। अयोध्या की नारियाँ भी अपने राजा के द्वारा वसन्तोत्सव मनाए जाने पर अबीर घोलकर कुंकुमों में भरती हैं और ऋतु के अनुसार गालियाँ देती हैं।

> बीना-बेनु-मधुर-धुनि सुनि किन्नर-गंधर्व।
> निज गुन गनत हरष अति मानहिं मन तजि गर्व॥
> कुंकुम सुरस अबीरनि भरहिं चतुर बर नारि।
> रितु सुभाय सुठि सोभित देहि विविध विधि गारि॥ —(गीत २१)

राम की माधुर्य परक वृत्तियों को देखकर आश्चर्य-सा लगता है और इसे कृष्ण चरित का प्रभाव कहा जाता है किन्तु कृष्ण की माधुर्योपासना के समानान्तर राम की माधुर्योपासना भी प्रवाहित थी। तुलसी उसी से प्रभावित हुए हैं। एतत्सम्बन्धी विवेचन अगले अध्याय के लिए सुरक्षित है।

गीतावली में आदि से अन्त तक मधुर और करुण स्वरों का ही समावेश है। फलस्वरूप तुलसी की शैली बड़ी ही कोमल और मधुर हो गई है। उनकी भक्ति भावना का तत्त्व यहाँ भी नहीं छूट सका है। श्री कृष्ण गीतावली के समान गीतावली के पदों के अन्त में अधिकांशतः राम के प्रति आस्थापूर्ण भावनाओं का समर्पण मिलेगा। राम-सम्बन्धी तुलसी की भावधारा इस काव्य में भी अक्षुण्ण है।

विनयपत्रिका

भक्ति-प्रसूत विनय के प्रतिपादन में विनयपत्रिका तुलसी के ही काव्यों में नहीं किन्तु हिन्दी के शेष साहित्य में भी अद्वितीय है। उनके सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य 'मानस' में जीवन की विविध परिस्थितियों के निदर्शन और विश्लेषण राम के विराट स्वरूप के उल्लेख वर्णाश्रम की समन्वयवादिता आदि के साथ कवि-हृदय की भक्ति भावना भी पग-पग पर विद्यमान है किन्तु राम-कथा के प्रवाह में वह दबती-उतराती सी प्रतीत होती है। सच तो यह है कि भक्ति भावना की ऐसी एकरूपता एकसूत्रता और तारतम्य हिन्दी काव्य में अन्यत्र कहीं है ही नहीं इसी से 'विनयपत्रिका' हिन्दी का गौरव और अभिमान है।

विनयपत्रिका के मुक्तक काव्य होने से कुछ विचारक इसे स्फुट पदों का संग्रह मात्र मानते हैं। काव्य में पदों के मध्य में यत्र-तत्र असम्बद्धता के कारण इस प्रकार का विचार स्वाभाविक-सा है किन्तु भक्त कवि के उद्देश्य के अनुकूल पदों में समाहित भावनाओं की ध्वनि पर मनन करने से यह धारणा निर्मूल है। पद-रचना भले ही स्फुट रही हो क्योंकि तुलसी एक विरक्त सन्त थे इससे उनका यह काव्य भी अन्यों के समान एक ही स्थान और एक ही समय पर नहीं लिखा गया किन्तु इस तथ्य के साथ यह सत्य है कि अपनी अनुभूत पूर्व-निर्धारित रूपरेखा में उन्होंने अपने सभी पदों को पिरो दिया है। इसी से यह अस्फुट काव्य है।

तुलसीदास ने अत्यन्त सुगम संकोच, शिष्टता और मर्यादा के साथ अपनी विनय की पत्रिका राजा राम के दरबार में पहुँचाई है। उनका विश्वास देखिए—

बहु मत मुनि बहु पंथ पुरानिन जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो।।
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम-बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो।

—(विनयपत्रिका १७३)

मोद मंगल मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
राम नाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु।।

—(विनयपत्रिका १५६)

राम! नाम को प्रताप जानियत नीके आप
मोको गति दूसरी विधि निरमई।
खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।।

—(विनयपत्रिका २६२)

मूलतः तुलसी के इस विश्वास और आस्था के कारण ही उनके सभी पद राम की ओर ही उन्मुख हैं। तुलसी गणेश, सूर्य, शिव, जानकी, हनुमान अथवा अन्य किसी की स्तुति क्यों न कर रहे हों, सभी से अपने हृदय के भावों का निवेदन कर अपनी बात श्रीराम के चरणों तक पहुँचा देने के लिए उनको अभिप्रेरित करते हैं—

मांगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।

—(गणेश स्तुति वही—१)

बेद पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम भगति वर माँगै

—(सूर्य स्तुति वही—२)

देहु काम-रिपु राम चरन रति तुलसी कहँ कृपानिधान

—(शिव स्तुति वही—३)

तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया है। तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया है।।

—(हनुमान स्तुति वही—३३)

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ।।
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ।
तरै तुलसिदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ।।

—(जानकी स्तुति वही—४१)

उपर्युक्त के अतिरिक्त उन्होंने देवी, गङ्गा, यमुना, काशी, चित्रकूट, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि सभी की अभीष्टा अनुसार स्तुति-गान किए हैं, किन्तु सभी में

कलिकाल से उत्पन्न अपने संताप और अपने उद्धार की बात राम तक पहुँचा देने के लिए अनुनय-विनय की है।

राजा राम से सीधी बात कहने की अपेक्षा इन सभी से विनय कर देना तुलसी ने इसलिए उचित समझा था कि यह सब राम के स्वभाव गुण और शील आदि को भली प्रकार समझते हैं।

राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ
जान्यो हर हनुमान लखन भरत।
जिन्हके हिये-सुथल राम-प्रेम-सुरतरु
लसत सरस सुख फूलत फरत।

—(वही—२५१)

विनयपत्रिका का यह स्तुति-खण्ड प्रथम ७ पदों में समाप्त हुआ है अनन्तर विनय-खण्ड प्रारम्भ होता है जो ग्रन्थ के अन्त तक प्रवहमान है। विनय-खण्ड में तुलसी ने अपने आराध्य राम को आलम्बन मानकर विनय की विभिन्न परिस्थितियों में यथोचित कहा है।

राम सो बड़ो है कौन कौन मोसो छोटो
राम सो खरो है कौन कौन मोसो खोटो।

काव्य में आदि से अन्त तक तुलसी की यही दृष्टि रही है। उन्होंने जी भर कर राम के ऐश्वर्य और बड़प्पन का गान किया है और उन्हीं के मध्य में अपनी लघुता और करनी की कल्पना की है। इस प्रकार तुलसी की राम भक्ति स्थल-स्थल पर सम्पोषित होती चली है।

कह्यो न परत बिनु कहे न रह्यो परत
बड़ो सुख कहत बड़े सों बलि दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी आपनी छोटाई छोटी
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता॥
दुहु ओर समुझि सकुचि सहमत मन
सनमुख होत सुनि स्वामी समीचीनता।
नाथ-गुनगाथ गाय हाथ जोरि माथ नाये
नीचऊ निवाजे प्रीति-रीति की प्रवीनता॥

—(वही—२६२)

इस लक्ष्य को तुलसी ने सर्वत्र दृष्टि में रखा है। इसी के आधार पर वह राम के समक्ष सत्याग्रह करने को कटिबद्ध हो उठे—

पन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं॥

—(वही—२६७)

इस सत्याग्रह की स्थिति में तुलसीदास अपनी बात कहने से रुकते नहीं हैं।

जैसो हौं तैसो राम रावरो जन जनि परिहरिए।
कृपासिन्धु, कोसलधनी ! सरनागत-पालक ढरनि आपनी ढरिए ॥
—(वही—२७१)

तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम ! बिनु रावरे लोकहु परलोकहु कोउ न कहूँ हितु मेरो ॥
—(वही—२७)

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहु दिसि पायो ॥
—(वही—२७६)

संसार के मायिक-सम्बन्धों को सोचकर राम के बड़प्पन की अनुभूति कर और लौकिक कष्टों से बाधित होकर तुलसी ने अपनी यह विनयपत्रिका लिख दी है और अब राम से उस पत्र बाँचने की प्रार्थना करते हैं—

'विनयपत्रिका' दीन की बापु ? आप ही बाँचो।
हिय हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो ॥
—(वही—२७७)

तुलसी को परिषद् विधान का पूर्ण ध्यान है। अपने हृदय की सच्ची बातों की 'सही' तो वह राम से चाहते हैं और उस सही समर्थन की साक्षी के लिए पंचों की राय लेने के लिए भी कहते हैं। राम से यह निवेदन कर वह पुनः पार्षदों को अपने अनुकूल ही रहने की प्रार्थना करते हैं। यों प्रारम्भ में वह सभी से प्रार्थना कर ही चुके थे किन्तु अवसर पर वे कहीं तुलसी को विस्मृत न कर जाएँ इससे उन्हें उनकी अनुनय विनय कर देने की फिर आवश्यकता प्रतीत हुई।

पवन सुवन ! रिपु-दवन ! भरतलाल ! लखन ! दीन की।
निज निज अवसर सुधि किए, बलि जाउँ दास आस पूजि है खास खीन की।
राज-द्वार भली सब कहैं साधु-समीचीन की।
सुकृत-सुजस साहिब-कृपा स्वारथ-परमारथ गति भए गति बिहीन की ॥
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल कृपालुहि परमिति पराधीन की ॥
—(वही—२७८)

राजा राम का दिव्य दरबार लगा हुआ था। सभी पार्षद उनकी सभा में प्रस्तुत थे। हनुमान और भरत की रुचि देखकर लक्ष्मण ने यह कहते हुए तुलसी की विनयपत्रिका राम के समक्ष प्रस्तुत कर दी—

'कलिकालहु नाथ ! नाम सों परतीति प्रीति एक किंकर की निबही है' सभा पार्षद गये हुए न हो लक्ष्मण की वाणी में वाणी मिलाकर कह उठे—'हाँ हाँ यह

बात सत्य है हम लोग भी उसकी रीति जानते है। राम ने मुस्कराकर कहा—'सत्य है सुधि मैं हूँ लही है। अवश्य ही जगज्जननी सीता ने भी उनसे कहा होगा तुलसी उनसे भी तो राम से कहने की प्रार्थना कर चुके थे। सभी के अनुकूल होने पर तुलसी की विनयपत्रिका पर राम की सही हो गई। 'विनयपत्रिका' की 'सही' तुलसी के आत्मसमर्पण पर राम की स्वीकृति है।

तुलसी ने राम मे अनन्य निष्ठ होकर सभी कुछ कहा है। इससे भक्ति भावना का कोई भी अङ्ग छूट नही सका है। आत्म निवदन के मध्य म ब्रह्म जीव प्रकृति और माया के सम्बन्ध म भी उन्होने यथासाध्य कहा है। स्वभावत जीव और प्रकृति ब्रह्म से सम्बद्ध होते हुए भी माया द्वारा प्रताड़ित और बाधित है। इस असम्बद्धता के उन्मूलन के लिए विशिष्टाद्वैती सिद्धान्तो के आधार पर भक्ति आवश्यक है। भक्ति में भक्त का आत्मसमर्पण कर देना ही उसकी निष्कृति का शिलान्यास है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैती सिद्धान्तो के समर्थन के मध्य से विनयपत्रिका में प्रपत्ति का उत्कृष्ट स्वरूप विद्यमान है।

६

तुलसी-पद-साहित्य के भाव और रस

१ श्री कृष्णगीतावली

राम के समान कृष्ण द्वारा भी लोक रंजन और लोक कल्याण हुआ है। इसी से तुलसी ने उनको भी अपनी आस्था और भक्ति का नैवेद्य चढ़ाया है, जिससे उनके अवतारी रूप का सम्यक प्रस्फुटन इस काव्य में हुआ है। रामानन्द की शिष्य-परम्परा और राम के एकमात्र आराध्य होते हुए उनके प्रति ऐसी भावना वस्तुतः उनके अन्तस्तल की उदारता और व्यापक सहृदयता ही सिद्ध करता है।

श्री कृष्णगीतावली उनकी स्फुट रचना है, फिर भी राम के समान कृष्ण चरित्र के व्यापक लोकादर्श हो, वह उस जीवन के समस्त प्रस्तुत करना चाहते थे, इसी से उनकी दृष्टि उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं पर टिकी है, जिनमें कृष्ण के बाल जीवन और विरह तथा भ्रमरगीत की परिस्थितियाँ ही प्रमुख हैं।

कृष्ण का बाल-जीवन—इस काव्य के प्रारम्भ में तुलसी ने कृष्णावतार की कोई भूमिका प्रस्तुत नहीं की है, जैसी सूर ने 'सूरसागर' में या स्वयं उन्होंने राम के सम्बन्ध में 'मानस' में की है। फलतः कृष्ण-जन्म की कठिनाइयों और वसुदेव-देवकी की चिन्ताओं के लिए इसमें कोई अवकाश ही नहीं है। इसी से जब से कृष्ण बोलने और तुतलाने लगे हैं तभी से कवि ने उन्हें अपने काव्य का आलम्बन बना लिया है।

यशोदा उन्हें गोद में लिए हुए आनन्द विभोर हैं। उनके इस आनन्दोल्लास को देखकर कृष्ण उनसे पूछ ही बैठे—'तू इतनी आनन्दित क्यों है? मुझे समझा दो।' वह उन जैसे पुत्र को प्राप्त कर दिव्यानन्द की अनुभूति करती हुई कृतार्थ थी। उसने कृष्ण को उत्तर दिया—"कहूँ कौन रसन मौन जाने कोइ काई।" इस अवसर पर तुलसी को भी कृष्ण के भगवान् रूप को व्यक्त करने का अवकाश मिल गया है और वह कह उठे हैं—

> तुलसी प्रभु प्रेम विवस मनुज रूप धारी।
> बालकेलि लीला रस ब्रज जन हितकारी॥
>
> —(श्री कृष्णगीतावली—१)

यहाँ से तुलसी ने बालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन की व्यवस्था की है। कृष्ण घुटनों फिरने लगे हैं। यशोदा की दी हुई रोटी वह बिलख-बिलख कर खाते हैं और उन दूसरे बच्चों को दिखा-दिखाकर चिढ़ाते हैं। वस्तुतः एक सजीव चित्र है—

'छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू
दै री मैया !' 'लै कन्हैया !' 'सो कब ?' 'अबहिं तात ।'
'सिगरियै हौं ही खैहौं बलदाऊ को न दैहौं ।
''सो क्यों ?' 'भटू तेरो कहा' कहि इत उत जात ॥

इस पद में वात्सल्य के उद्दीपन रूप में कृष्ण की बाल-सुलभ आतुरता और चतुरता सफलता से प्रस्फुटित हुई है। ऐसे अन्य चित्र इस काव्य में नहीं हैं। इसके लिए काव्य के स्फुट भाव के साथ स्वयं तुलसी की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी है।

इस स्थल पर इस तथ्य को व्यक्त करना अनुचित न होगा कि इस प्रकार के अभिनयात्मक अवसर राम के बाल-जीवन में तुलसी कहीं भी समाविष्ट नहीं कर सके हैं। 'रामचरितमानस' 'कवितावली' और 'गीतावली' में बाल-वर्णन आए अवश्य हैं किन्तु सूर के कृष्ण के बाल-वर्णन के समान उनमें सजीवता नहीं है। तुलसी के वे समग्र स्थल अभिनयात्मक के स्थान पर वर्णनात्मक ही हैं।

गोपी-उपालम्भ

श्री कृष्णगीतावली के तृतीय पद से गोपी-उपालम्भ प्रारम्भ है। कृष्ण अपने समवयस्क गोप-ग्वालों के साथ गोपियों के घर जाकर दूध-दही-मक्खन खाते हैं और चमराते हैं। गोपियाँ पीड़ित और बाधित होती हैं, फलतः उक्त प्रसंग का सूत्रपात हो उठा है।

गोपियों के इन उपालम्भों के मध्य में कृष्ण के जीवन का प्रारम्भिक भाग ही बीता है। कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य पर वे रीझ गई हैं फलस्वरूप उनके दर्शन के लिए वे बार-बार यशोदा के यहाँ आ पहुँचती हैं। वस्तुतः कृष्ण के जीवन का यह अंश शृंगार के 'सम्भोग पक्ष' का है। इनमें कृष्ण अवलम्बन गोपियाँ आश्रय तथा उपालम्भ की परिस्थितियाँ उद्दीपन हैं।

गोपियों के उपालम्भ और उनके उत्तर-प्रत्युत्तर में कृष्ण और यशोदा की जो उक्तियाँ हैं बड़ी ही प्रासादिक स्वाभाविक और मनोरम हैं। गोपी के उपालम्भ का एक चित्र देखिए—

तोहि स्याम की सपथ जसोदा ! आइ देखु गृह मेरे ।
जैसी हाल करी यहि ढोटा छोटे निपट अनेरे ॥
गोरस हानि सहौं न कहौं कछु यहि ब्रजबास बसेरे ।
दिन प्रति भाजन कौन बेसाहै ? घर निधि काहू केरे ॥
× × ×
बैठो सकुचि साधु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे ।
तुलसीदास प्रभु कहौं ते बातें जे कहि भजे सबेरे ॥

कृष्ण ने सब सुनकर अपनी प्रत्युत्पन्नमति से गोपी को यह उत्तर दिया कि

उसे यशोदा का समर्थन मिल गया और गोपी खिसिया कर रह गई।

इन्ह के लिए खेलिबो छाँड्यो तऊ न उबरन पावहिं।
भाजन फोरि बोरि कर गोरस देन उराहनो आवहिं॥
कबहुँक बाल रोवाइ पानि गहि मिस करि उठि उठि धावहिं।
करहिं आपु, सिर धरहिं आन के बचन बिरंचि हरावहिं॥
मेरी टेव बूझि हलधर सों संतत संग खेलावहिं।
जे अन्याउ करहिं काहू को ते सिसु मोहि न भावहिं॥

कृष्ण ने सारा दोष गोपी का सिद्ध किया। साथ ही अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उन्होंने बलराम की सबल साखी ही नहीं दी किन्तु अपनी बाल-नीति भी स्पष्ट कर दी। फिर गोपी का कौन विश्वास करे? यशोदा ने कृष्ण की बातें सुनकर उनका समर्थन किया—मेरा कन्हैया तो कभी दूसरे के घर जाता ही नहीं। बलराम के साथ ही आँगन में खेलता रहता है। मेरे यहाँ क्या दूध-दही-मक्खन की कमी है जो तेरे यहाँ खाने जावेगा।

गोपी लज्जित होकर रह गई। सच होती हुई भी झूठ सिद्ध हुई। उसके पराजय के शब्दों में भी कृष्ण की रूप माधुरी की झलक भरी है—

अब सब साँची कान्ह तिहारी।
जो हम तजे पाइ कै मोहन गृह आए दै गारी॥
कोटि जतन करि सपथ कहैं हम मानै कौन हमारी।
तुमहि बिलोकि आन को ऐसो क्यों कहिहै बर नारी॥

कृष्ण को भी अपनी लीला में कम आनन्द नहीं आता था। इसी से वह अपना बाल-सुलभ ऊधम न छोड़ सके—न छोड़ सके। गोपी उपालम्भ देने फिर आ धमकी। कृष्ण ने देखा कि यह अभी पीछे पड़ी है। इस बार गोपी को तो डाँट बताई ही है किन्तु यशोदा की सिधाई को भी उन्होंने अच्छी दृष्टि से नहीं देखा। पूरा गीत ही दृष्टव्य है—

अबहिं उराहनो दै गई बहुरौ फिरि आई।
सुनु ! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की
सकुच बेंचि सी खाई॥
या ब्रज में लरिका घने हौं ही अन्याई।
मुँह लाएँ मूँड़हि चढ़ी अंतहुँ अहिरिनि तू सूधी करि पाई॥
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई।
तुलसीदास ग्वालिनि ठगी आयो न उतरु
कछु कान्ह ठगौरी लाई॥

गोपियाँ पुनः पुनः उपालम्भ के लिए आती हैं। एक ओर तो अपने पक्ष को सबल करने के लिए यह कहती हैं—'कृष्ण ! लोग तभी तक तुम पर विश्वास करें।

हैं जब तक हम तुम्हारे गुण छिपाए हुए हैं किन्तु सच तो यह है कि वे कृष्ण के समक्ष स्वयं अपना हृदय हारे बैठी हैं। इसी से उपालम्भ के मध्य में भी यही उनकी अँगुली दिखाकर डाँटती हैं और कभी नेत्र के संकेत से मना करती हैं। कृष्ण ने उनके इस चातुर्य को देखकर सभी के समक्ष उसे स्पष्ट कर दिया—

गरजति कहा तरजिनिहु तरजति
बरजत सैन नैन के कोए।

उधर यशोदा से कहा—मैया यह स्वयं मुझसे झगड़ा करती है और अपना विवाद प्रस्तुत करने आगे आ पहुँचती है। तू तो सीधी है जो इसे मुँह लगाए है। यह बड़ी समझदार है किसी को यह गिनती थोड़े ही है।

यह तो मोहि खिझावति कोटि बिधि
झपटि खिझावन आइ अचानक।
याहि कहा मैया मुँह लावति
गनति कि एक लंगरि अपराधक॥

यशोदा ने गोपियों और कृष्ण के मध्य के मधुर उत्तर प्रत्युत्तर सभी सुने। वह उनके अलौकिक आनन्द की अनुभूति से स्वयं सिहर उठीं फिर वह उनके मध्य में कोई व्यवधान प्रस्तुत करतीं तो कैसे करतीं? अन्ततः वह माता भी थी इससे उसने एक मनोवैज्ञानिक युक्ति निकाली और उसका प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर भी हुआ।

अरे कान्ह इस 'लरिकाई' को तू छोड़ भी दे। कल तेरे ब्याह वाले आवेंगे। जब वे और तेरी दुलहिन सुनेगी कि तू चोरी करता है तो वे हँसेंगे। आ तेरे उबटन लगा दूँ तू नहा ले। आ तेरी चोटी गूँथ दूँ तब तू भला लगने लगेगा और तेरी बड़ाई होगी। माता का कहना प्रभाव कर गया। दुल्हा बन जाने पर भी जब उसे कोई देखने न आया तो माता से पूछ बैठे—मैया वे आए नहीं। 'वे कब आवेंगे'। 'कल जब तू सो जावेगा'। बात कुछ कृष्ण को भी जँची। तत्काल ही सोने का उपक्रम भी कर लिया। अनन्तर थोड़ी देर बाद ही सोकर उठ बैठे और कहा—'मैया अब तो सवेरा हो गया। आ मेरी अँगुलियाँ दे दे। विवाह की बात का कृष्ण पर प्रभाव देखकर यशोदा और ग्वालिन हँस दीं उस समय कृष्ण लज्जित होकर यशोदा के वक्षस्थल से चिपट गए।

मनोवैज्ञानिक सत्य के साथ अभिनेय तत्त्व के मिश्रित होने के कारण गीत बड़ा ही मधुर है।

छाँड़ो मेरे ललन! ललित लरिकाई।
ऐहैं सुत! देखुवार कालि तेरे
बबै ब्याह की बात चलाई॥
डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि

होतिहिं भइ मुलहिया सहाई।
खक्यो गहाइ मुहों कुदिया बलि
देखि भलो बर करिहि बड़ाई॥
मातु कह्यो करि कहत बोलि दै
भइ बड़ि बार कालि तौ न आई।
'अब तोतरो तात जौ 'हूँ' कहि
नयन मीचि रहे पौढ़ि कन्हाई॥
उठि कह्यो भोर भयो झँगुलो दै
मुदित महरि लखि आतुरताई॥
बिहँसी ग्वालि जानि तुलसी प्रभु
सकुचि लगे जननी उर धाई॥

गोपी-उपालम्भ के पदों के क्रम में ही 'उलूखल-बन्धन' 'इन्द्रकोप-गोवर्धन धारण' 'गोचारण' 'मुरली-माधुरी' और 'रूप माधुरी' के पद भी वर्णित हैं। इनमें 'उलूखल बन्धन' विषय गोपी-उपालम्भ का ही एक अंश कहा जा सकता है। गोवर्धन धारण' और 'गोचारण' में कृष्ण के जीवन का सामाजिक भाव तथा 'मुरली माधुरी' और 'रूप माधुरी' में कृष्ण के एकान्तिक प्रेम-माधुरी का स्वरूप विद्यमान है।

सम्पूर्ण सम्भोग शृंगार में तुलसीदास कृष्ण की चिरसंगिनी राधा की पूर्ण उपेक्षा कर गए हैं। स्वभावतः यह विचारणीय है कि ऐसा क्यों? कृष्ण-काव्य में राधा के सन्निवेश से पुष्टि सम्प्रदाय में माधुर्य के प्रतिपादन में बड़ा सहयोग मिला है। राधा कृष्ण का प्रारम्भिक परिचय क्रमशः गाढ़तर होता गया है और सूर में तो राधा के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है।

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना करि सो कहि न गई॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज-बिहार नित नई नई॥

—पद ४६१० (सभा-संस्करण)

पुष्टि सम्प्रदाय में राधा को आनन्द की आदि शक्ति कहा गया है। इसमें उनके स्वरूप को यदि अष्टछाप एवं अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने प्रमुखता दी हो, तो आश्चर्य ही क्या है। इस काव्य में तुलसी का राधा को सन्निवेश न करना वस्तुतः यह स्पष्ट प्रमाण है कि वह सूर या अन्य किसी कवि से प्रभावित न थे। कृष्ण के चरित्र में भी उनका स्वच्छन्द व्यक्तित्व ही उपर्युक्त हुआ है अन्यथा राधा के चरित्र का छूट जाना कठिन ही नहीं असम्भव होता। उपर्युक्त के सम्बन्ध में यह तर्क भी प्रस्तुत

किया जा सकता है कि तुलसी की यह स्फुट रचना रही है इससे राधा का समावेश न हो सका हो। यह तर्क सर्वदिश रूप से बड़ा सबल है क्योंकि कृष्ण-काव्य की प्रमुख घटनाओं को तुलसी ने सांकेतिक रूप से स्पर्श किया है। जब गोपी या गोपियों का सन्निवेश है तब राधा का व्यक्तित्व क्यों छूट जाना चाहिए? यह तथ्य स्पष्ट करता है कि तुलसी ने वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत कृष्ण-चरित की मान्यता नहीं की है। वस्तुतः कृष्ण के सम्बन्ध में वह भागवत की उन परम्पराओं से प्रभावित थे जिनमें राधा को कृष्ण का सामीप्य प्राप्त नहीं हो सका है।

इसी सम्भोग संसार में जहाँ कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न रूप से एक दूसरे की हो रही थीं जहाँ कृष्ण अपनी अलौकिक लीलाओं से सबके नयनाभिराम और आकर्षण के विषय थे। जहाँ का समाज कृष्ण के दिव्य बल से आश्वस्त हो इन्द्र जैसे देवता की उपेक्षा करने में भी आनन्द अनुभव कर रहा था ऐसे समय भी आए जब गोपियों के लिए कृष्ण के वियोग की घटना भी प्रस्तुत हो गई।

गोपी-विरह

यों तुलसीदास ने कृष्ण विषयक विरह को सूरदास या हरिऔध के समान लोक-व्यापी चित्रण नहीं किया है। भाव भूमि को वह जान-बूझकर अधिक विस्तार नहीं दे सके हैं। इसी से गोपी विरह में वैविध्य समाहित नहीं हो सका है।

गोपी-विरह का कवि ने सहृदयतापूर्ण चित्रण किया है। इसी के मध्य में उद्धव के कृष्ण के सन्देशवाहक होकर आने में उनको अपने अन्तरतम को कहने की भी घड़ियाँ मिली हैं। उनके कहने व उनके प्रेम और स्नेह की ही अभिव्यंजना हुई है। कृष्ण उद्धव और मैत्री के लिए नहीं हुई उनकी उक्तियाँ बड़ी ही मधुर और मर्म स्पर्शी बन पड़ी हैं। सूर की गोपियों के समान कृष्णगीतावली की गोपियाँ भी अनुभव जन्य प्रेमोद्गारों को व्यक्त करने में सफल हैं। नन्ददास की गोपियों के समान उद्धव की एक-एक बात काट देने का चातुर्य उनमें नहीं है। वे उद्धव के सिद्धान्त को भी मानने को प्रस्तुत हैं यदि प्रिय कृष्ण से उनका पुनः सम्मिलन हो जावे। इसी से तुलसी की गोपियों का विरह भी मानव भूमि पर सरलता से प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

कृष्ण की रूप-माधुरी अपूर्व और अलौकिक है इसी से वियोगावस्था में भी उसका आकर्षण गोपियों से छोड़ते नहीं बनता। उनकी उक्तियों में जो उन्होंने अपनी विवशता व्यक्त करने के लिए परस्पर गोपियों से कही हैं, इसका पूर्ण प्रस्फुटन है—

मन परिच्यात कुतर्क कोटि करि कुबल मरोरे मारि।
तुलसी जग दूजा न दूषित काहू कबर अनुहारि॥—(कृ॰गी॰—२७)

× × ×

सांवरिय प्रकृति नयननि आर्ये में

न टरति मोहन मूरति ।
नील नलिन स्याम सोभा अगनित काम
पावन हृदय जाहि फुरति ॥
अमिय सारदा सेष नहीं कहि
सकल अंग अंग मूरति ।
तुलसीदास बड़े भाग मन
लागेहू तें सब सुख पूरति ॥ —(कृष्णगीतावली—२८)

ऐसे सुन्दर कृष्ण जो बाल जीवन से ही उनके आनन्द और विनोद के चिर-सहचर रहे हों अपने वियोग से गोपियों को दु:खाब्धि में क्यों न डुबा देंगे ? इस कारण विरह में उनकी विरहोक्तियाँ पूर्ण अनुभूत हैं उनमें उद्दीपक भावनाओं का समावेश नहीं है।

कृष्ण के उदासीन भाव के लिए तो उनके मन में व्यथा है ही किन्तु नेत्रों और मन ने भी उनके साथ विश्वासघात किया है यह स्मरण कर वह मर्माहित हो उठी हैं—

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु
इन नयनन की परतीति गई ।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि
ह्वै न गए सखि स्याम मई ॥
अब काहे सोचत मोचत जल
समय गए नित सूल नई ।
तुलसिदास जड़ भए आपहि तें
जब पलकनि हठि दगा दई ॥ —(वही—२४)

मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित मन के प्रति कही गई उक्ति भी उनकी विरह-वेदना और विवशता को स्पष्ट करती है। मन की यह स्थिति है कि अपनी अभिरुचि की पूर्ति के लिए वह शरीर के सम्पूर्ण अंगों को अपने अनुकूल बना लेता है किन्तु इन्द्रियों द्वारा होने के कारण शरीर की पूर्ण उपेक्षा कर वह जहाँ जाना चाहता है स्वयं चला जाता है। मन के इस चातुर्य का उत्तम कवि ने बड़ी विदग्धता से किया है—

नहि कछु दोष स्याम को माई ।
जो गुन न पायो सजनी सुन
सो तो सब मन को चतुराई ॥
मिले हिय लागि सबहि ए बंचक
सब अंगनि अति प्रीति बढ़ाई ।
लियो जो सब सुख हरि अंग-संग को
कहूँ जाहि बिधि तहू मोह बनाई ॥

अब नँदलाल गवन सुनि मधुबन
तबहिं तजत नहिं बार लगाई।
रुचिर रूप-जल महँ सो मीन
मिलि न फिरन की बात चलाई।
एहि सरीर बसि सखि या सठ कहँ
कबहिं न जाई जो मिलि फिरि पाई।
तदपि कछू उपकार न कीन्हो
निज मिलन्यो तहिं मोहि मिलाई ॥ —(कृष्णगीतावली—२१)

सम्भोग शृंगार के उद्दीपन तत्त्व चन्द्र द्वारा विरहाधिक्य की अनुभूति भी गोपियों द्वारा की गई है। इस स्थिति में सूर्य उन्हें चन्द्र से अधिक प्रिय और कष्टहर है—

ससि तें सीतल मोकों लागै माई री! तरनि।
याके उयें बरति अधिक अंग दव
वाके उयें मिटति रजनि जनित जरनि ॥

चन्द्रमा से सूर्य के अधिक सुखद लगने का कारण केवल माधव वियोग पर ही सम्भव है—

सब विपरीत भए माधव बिनु
हित जो करत अनहित की करनि।
तुलसीदास स्यामसुन्दर बिरह की
दुसह दसा सो मो पै परति नहीं बरनि ॥

इसी विरह-दशा के मध्य में तुलसीदास ने भ्रमरगीत की भी योजना की है। कृष्ण-काव्य का यह अंश ज्ञान की तुलना में भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये आया है। तुलसी की गोपियाँ भी सूर की गोपियों के समान भोली-भाली हैं। अपना तर्क वह उद्धव पर लादती नहीं किन्तु अपने प्रेम के उत्सेध से ही वह उन्हें निरुत्तर कर देने में समर्थ हुई है। वह उद्धव से स्पष्ट कहती है—

जेहि उर बसत स्यामसुन्दर घन तेहि निर्गुन कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहावो जाहि दूसरो भावै ॥

गोपियों के हृदय में उद्धव की बातों के प्रति सम्मान है। इसी से वे उन्हें सभी कुछ कह जाने के लिये अभिप्रेरित करती हैं। व्रज में रहकर उन्होंने प्यारे की लीलाएँ देखी नहीं हैं, इसी से अजान बने वह सभी कुछ कहे जाते हैं। इसमें दोष उनका न होकर *अपना ही है क्योंकि प्यारे के साथ प्राण गए नहीं इससे उन्हें सभी कुछ सहन* करना होगा—

मधुकर! कहहु कहन जो पारौ।
बलि नाहिन अपराध रावरो सकुचि साच जनि मारौ ॥

नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बालविनोद निहारी ॥
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो तातें डेल सो डारी ॥
तुलसी जो न गए प्रीतम संग प्रान त्यागि तनु न्यारी ॥
तो सुनिबो देखिबो बहुत अब कहा करम सो हारी ॥

—(कृष्णगीतावली—३४)

इतना ही नहीं गोपियाँ ये भी कहती हैं कि यदि कृष्ण के विरह में आतुर और आकुल हम गोपियों का आप अपने ज्ञान के योग्य समझते हैं तो परमार्थ की चर्चा करते कमिय । प्रियतम के सखा की वाणी सुनने में उन्हें विरोध ही क्या हो सकता है ? वस्तुतः उनके आचरण में विनम्रता की पराकाष्ठा है ।

ऊधौ जू कह्यो तिहारोइ कीबो ।
मोकों जिय की आनि सयानपौ सबुझि सिखावन दीबो ॥
स्याम बियोगी ब्रज के लोगनि जोग जोग को दीबो ।
तो संकोच परिहरि पा लागों परमारथहि बखानो ॥— (वही—१२)

उद्धव जैसे बौद्धिक ज्ञानी अपनी सुनिश्चित विचार धारा के अनुसार अपनी बात कहते ही रहे होंगे और गोपियाँ भी बिना ननु नच के सुनती ही रही होंगी । इसी से तुम विनम्र हो गोपियाँ कह उठीं—

तुम कहि रहे हमहु पचि हारीं
लोचन हठी तजत हठ नाहीं ।
तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु
बारेक स्याम इहाँ फिर आहीं ॥

कृष्ण के सहचर्य के लिए उनके मन में तड़पन और व्यग्रता भरी हुई है । जिससे उनका अन्य किसी बात अथवा स्वरूप से समझौता हो ही नहीं पाता । उद्धव भी निराश हो रहे । उनका ज्ञान अभिन्न न हो सका । वह जिस ज्ञान गर्व और दर्प के साथ ब्रज में पधारे थे उससे अधिक निराशा और लज्जा के साथ लौट गए । सच तो यह है कि प्रेम-तत्त्व गोपियों की धमनियों में इस प्रकार प्रविष्ट था कि उसमें उनका परित्याग हो ही नहीं सकता था । इस अगाध प्रेम के कारण ही गोपियों ने उद्धव से अपनी चर्चाओं के मध्य में कुब्जा और कृष्ण के लिए भी बहुत कुछ कहा है । कृष्ण के प्रति वहाँ गोपी की उक्ति देखिए—

ब्रज को बिरहु अरु संग महर को
कुबरिहि बरत न नेकु लजात ।
समुझि सो प्रीति की रीति स्याम की
सोइ बावरि जो परेखो उर आनै ।

इसी प्रकार कुब्जा को भी उन्होंने अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है—

रातो भाँति कूबरी पीठ पर ये बातें बहुबीहीं ।

श्याम सो गाहक पाई सयानी। खोलि दिखाई है गोहीं ॥
नागर मनि सोभा सागर महँ जग जुवती हँसि मोहीं।
लियो रूप दै ज्ञान गाँठरी भलो ठग्यो ठगु ओहीं ॥

कहने को तो गोपियाँ कहलाती हैं किन्तु अन्ततः अपनी विवशता से परास्त हो रहने के कारण कृष्ण की रूप माधुरी भी अपनी लालसा पर पटाक्षेप नहीं कर पाती। इसी विवशता के मध्य मे एक गोपी का निम्न सुझाव है। क्यों न कान्ह और कुब्जा को मनाकर ब्रज में ले आया जाय। यशोदा और नन्द को सुख होगा और साथ में दूसरे चौथे दिन अपने को भी दर्शन हो जायेंगे। भले ही कुब्जा दासी और असुन्दर रही हो किन्तु कृष्ण की हो जाने के कारण तो सम्मान की अधिकारिणी है ही।

सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज आनियहि मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी ॥
बसे सुबास सुबास होहिं सब फिरि गोकुल रजधानी।
महरि महर जीवहिं सुख जीवन खुलहिं मोद मन बानी।
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिवर बानी ॥
देखिबो दरस दूसरेहुँ चौथेहुँ बड़ो लाभ लघु हानी।
पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी ॥
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नन्द सुवन सन मानी।

—(कृष्णगीतावली—४८)

इन पंक्तियों में भारतीय नारी की समन्वय भावना सन्निहित है।

कृष्णगीतावली की लघु सीमाओं के कारण तुलसी अपने भ्रमरगीत मे सूरदास के समान वैविध्य प्रवाह नहीं प्रस्तुत कर सके किन्तु काव्य के लक्ष्य की पूर्ति में वह पूर्ण सफल हुए हैं यह सर्वमान्य है। प्रेम-परक-भक्ति ज्ञान से उच्चतर है, यह कृष्ण-काव्य की भावना उन्होंने भी सिद्ध कर देने की पूर्ण चेष्टा की है।

तुलसी की आस्था और भक्ति

तुलसी की कृष्णगीतावली में उनकी आस्था और भक्ति स्वरूप विद्यमान है। ये उनके व्यक्तित्व मे इस प्रकार घुले-मिले हैं कि इनके बिना उनकी वाणी प्रस्फुटित ही नहीं हो पाती। इसी से उनकी रचनाओं में उनका कोई न कोई रूप अवश्य समाहित मिलेगा।

तुलसी के इस काव्य में भी स्थल-स्थल पर कृष्ण के भगवत रूप पर प्रकाश पड़ता है।

तुलसी प्रभु भव बिकस मनुज वपुधारी।
कामकेलि लीला [illegible] बिहारी ॥ —(वही—[illegible]

इन्ह ही के आए तें बधाए ब्रज नित नए
नादत बाढ़त सब सब सुख जियो है।
नंदलाल बाल जस संत सुर सरबस
गाइ सो अमिय रस तुलसिहुँ पियो है॥ —(वही—१९)

× × ×

तुलसी बालकेलि सुख निरखत
बरषत सुमन सहित सुरतिया। —(वही—१६)

× × ×

नखसिख सुभग सुभगता
कहि न सकत स्रुति सेष उमाबर।
तुलसिदास त्रैलोक्य बिमोहन
रूप कपट नर त्रिबिध सूल हर॥ —(वही—२१)

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य स्थल भी उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें तुलसी की आस्तिक भाव-धारा समुच्छ्वसित हो उठी है। इस काव्य के अन्त के दो पदों में जिनमें द्रौपदी की लज्जा-रक्षण-लीला का वर्णन किया गया है कवि की यह भावना समूर्त हो उठी है। कृष्ण के इस संरक्षण से द्रौपदी सनाथ हो उठी है और उसी के तादात्म्य में वह कह उठे हैं—

सुत सुख धन साज कैसव क
ममन कलेस, कुसाज नसाते।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति
कृष्ण कृपालु भगति पथ राचो॥ —(वही—६१)

यह अवश्य सत्य है कि इस काव्य में 'मानस' और विनयपत्रिका के समान भक्ति-तत्त्वों के निरूपण के स्थल नहीं हैं। किन्तु यह कहना कि तुलसी ने भक्ति भावना और प्रबंध का परित्याग कर कृष्ण-चरित का गान किया है या राम के अतिरिक्त अन्य में उनकी आस्था ही नहीं थी—यह एक तथ्य की तो उपेक्षा है ही साथ में एक महाकवि की सद्भावना के प्रति भी अन्याय है। इस काव्य को देखकर तुलसी के जीवन से सम्बन्धित उस घटना पर, जिसमें उनके अनुरोध पर कृष्ण को राम-रूप धारण करने को बाध्य होना पड़ा सहसा विश्वास नहीं होता। सच तो यह है कि सूर और तुलसी संकीर्ण दृष्टिकोण लेकर नहीं चले थे इसी से सूर ने राम-चरित और तुलसी ने कृष्ण-चरित लिखकर अपनी उदात्त भावनाओं का प्रस्फुटन किया है। वे हमारी संस्कृति के प्रतिनिधि थे इसी से उनकी वाणियाँ शताब्दियों के उपरान्त आज भी हमें जीवन के निर्माण और विकृति के लिए मूक सन्देश देती हैं। फलस्वरूप उनमें हम कृतार्थ और आश्वस्त हैं।

यह सत्य है कि कृष्ण जीवन की व्यापक भावनाएँ कृष्णगीतावली में सहज

कवि द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकी किन्तु उसके लघु रूप में 'मानस' और 'विनय पत्रिका' के महाकवि का हृदय आनन्द और उत्साह है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

३ गीतावली

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि गीतावली में समग्र राम-चरित ही एक प्रकार से गीतों में समाहित है। आदि से अन्त तक राम-कथा इसमें उपलब्ध है किन्तु इस सम्बन्ध में 'मानस' जैसा सम्बन्ध है वैसी 'गीतावली' नहीं। इसमें उसकी प्रमुख घटनाएँ भी उपेक्षित हो उठी हैं। इसका एकमात्र कारण इसका गेय काव्य होना है अन्य नहीं। इसी से करुण और मधुर घटनाओं का कवि द्वारा इसमें समावेश किया गया है, अप्रिय और कटु घटनाएँ छोड़ ही दी गई हैं। मानस महाकाव्य है इससे सभी प्रकार की घटनाओं और एक दीर्घ प्रस्तावना का उसमें स्वागत हो सकता था परन्तु गीतावली जैसा गेय काव्य उन सबको पचा नहीं सकता था इसी से वे सब यहाँ परित्यक्त हैं।

राम-कथा विषयक परिवर्तन और परिवर्द्धन होने पर भी इसका बालकाण्ड राम के बाल-जीवन और उत्तरकाण्ड उनके माधुर्यपूर्ण स्थलों से युक्त होने के कारण शेष राम-काव्यों में यह अपना वैशिष्ट्य रखती है। इसी से 'मानस' और 'कवितावली' के समक्ष भी गीतावली की अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है।

राम का बाल चरित—राम के बाल चरित्र वर्णन में गीतावली तुलसी के शेष काव्यों में सर्वोपरि है। यह स्थल प्रसंगतः 'रामचरित मानस' और 'कवितावली' में भी उपलब्ध हैं किन्तु उनमें वे बड़े सीमित हैं। यहाँ तुलसी का महाकवि उनके बाल-रूप पर मुग्ध हुआ पूर्ण मनीषा के साथ अपनी भावनाओं का चित्रण करता चला गया है जिससे उनके बाल-जीवन की विस्तृत और विविध झाँकियाँ स्वतः प्रतिष्ठित हो उठी हैं।

गीतावली के बालकाण्ड के प्रथम छियालीस गीतों में राम और उनके अनुजों के शिशु और बाल-जीवनों की विविध झाँकियाँ हैं। यों तो राम के साथ उनके अनुजों के वर्णन साथ-साथ प्रवहमान हैं किन्तु कवि की दृष्टि राम पर ही अधिक टिकी है जो काव्य के आलम्बन होने के नाते पूर्ण न्यायोचित है।

इस प्रसंग में बधाई, नामकरण दुलार तथा वात्सल्य परक कितने ही चित्र कवि द्वारा सहृदयता के साथ चित्रित किए गए हैं। किन्तु राम विष्णु के अवतार हैं दुष्ट-निकन्दन हैं, राजकुमार हैं—इन विचारों से प्रभावित होकर तुलसी ने उनके महामहिम व्यक्तित्व की एक सुनिश्चित रूपरेखा स्वीकृत कर ली और अन्य पुरुष में वह उनका चित्रण करते चले गए हैं। इससे वे चित्रण गम्भीर हो गए हैं। राम और उनके अनुजों ने अपने 'शिशु' और 'बाल' अवस्थाओं में 'मैं' को लेकर क्या कभी कुछ

कहाँ ही न होगा ? अपने परिवार में और बाहर क्या वे कभी रूठे न होंगे और नाना मनोविनोद का कौतुक न रचा होगा ? यह सत्य है कि वह नारायण थे, किन्तु वह नर रूप में अवतरित हुए थे। इससे उन्होंने ऐसे सब आचरण किए ही होंगे, किन्तु तुलसी ने उनको कहीं भी चित्रण का अवकाश नहीं दिया है। इसमें अभिनयपूर्ण स्थलों का इन विषयों में पूर्ण अभाव है और सूर के बाल-वर्णनों के समान इन वर्णनों में सजीवता नहीं आ सकी है।

गीतावली में 'मानस' के समान राम-जन्म की न तो लम्बी भूमिका ही है और न प्रबन्ध काव्यों की दीर्घ परम्पराओं का ही उल्लेख है। यह सब उसके स्फुट और पद काव्य होने के कारण सम्भव भी नहीं था। कवितावली में भी उपर्युक्त विवरणों का अभाव है। इससे दोनों काव्यों में राम के जन्म और शिशु रूप से ही रामकथा को आरम्भ किया गया है।

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप-सील-गुन धाम राम नृप-भवन प्रगट भए आई॥
अति पुनीत मधुमास लगन-ग्रह-बार-जोग समुदाई।
हरषवंत चर अचर भूमिसुर-तनरुह पुलक जनाई॥
बरषहिं बिबुध निकर कुसुमावलि नभ दुंदुभी बजाई।
कौसल्यादि मातु मन हरषित यह सुख बरनि न जाई॥
—(गीतावली बालकाण्ड—१)

कवितावली के प्रथम सवैया में भी राम का शिशु-रूप ही चित्रित है—

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि-सी रही जे न ठगे धिक-से॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे।
—(बालकाण्ड—१)

राम जन्म पर राज-परिवार तथा अयोध्या के नर-नारियों के आनन्द-मग्न होने, बाहर-भीतर सूतों, गुनियों और याचकों का सम्मान, राजा दशरथ की दान दक्षिणा, पुत्र-जन्म के संस्कार छठी आदि के वर्णन कवि ने प्रस्तुत किये हैं। उनके नामकरण संस्कार के अवसर पर भी नगर की अद्वितीय साज-सज्जा और आमोदपूर्ण सभी के उनमें भाग लेने के विवरण चित्रित किये गए हैं।

बाल-चरित के मधुर और भावुक वर्णन वस्तुतः 'कुमार' के अन्तर्गत उपलब्ध हैं। इनमें राम का बाल जीवन दो भागों में दृष्टव्य है। प्रथम में वह पारिवारिक वातावरण में परिसीमित है और द्वितीय में राम अपने अनुज और सखाओं सहित पारिवारिक सीमा को लाँघकर अयोध्या में विचरण और विविध क्रीड़ाएँ करते हैं। उनके शिशु जीवन के दिन जननी और जनक के आँगन में ही व्यतीत होते हैं। उस समय

उनके मानसों से आपत्य विषयक विविध प्रकार की भावनाएँ और कामनाएँ प्रस्फुटित होती हैं। शिशु के उदास और रुग्ण हो उठने पर माता का व्यग्र और चिन्तित हो उठना स्वाभाविक है।

सुभग सेज सोभित कौसिल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।
बार बार बिधुबदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये॥
कबहुँ पौढ़ि पयपान करावति कबहुँ राखति लाइ हिये।
बालकेलि गावति हलरावति पुलकति प्रेम पियूष पिये॥

पुत्र के सामीप्य से मातृ हृदय के वात्सल्य का उमड़ पड़ना जीवन का चिर सत्य है। फिर कौशल्या वह माता थी जिसने अपनी वृद्धावस्था में राम जैसे पुत्र को जो चराचर का सर्वस्व और देवताओं का आराध्य था प्राप्त किया था। कुछ समय पूर्व पुत्र-अभाव में जो चिर दुःखी थी आज वही सपूती होकर अपने सौभाग्य का अनुभव करती हुई चिर सुखी है। आज राम तथा अन्य पुत्रों को लेकर उसके मानस में विविध प्रकार की शुभाकांक्षाएँ प्रसूत हो रही हैं।

ह्वै हो लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लखन भावते भरत-रिपुदवन चारु चार्‍यो भैया॥
बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बने हौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं॥
छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुकु ठुमुकु कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ॥

—(गीतावली [बालकाण्ड—८)

वस्तुतः इस सुख-समुद्र में कौशल्या के निमग्न रहने पर भी वह अतृप्त ही है। सुमित्रा भी इसी प्रकार की भावनाएँ व्यक्त कर रही है—

पगनि कब चलिहौ चारो भैया?
प्रेम पुलकि उर लाइ सुवन सब कहति सुमित्रा मैया॥
सुन्दर तनु सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया।
दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया॥
किलकनि नटनि, चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहर तैया।
मनि खंभनि प्रतिबिंब झलक छबि छलकिहै भरि अँगनैया॥

—(वही—९)

वात्सल्य से पल्लवित राज-परिवार का एक चित्र और देखिए। इसमें दशरथ भी सम्मिलित हैं—

राम सिसु गोद महामोद भरे दसरथ
कौसिलाहू ललकि लषनलाल लये हैं।
भरत सुमित्रा लये कैकयी सत्रुसमन

तन प्रेम पुलक मगन मन भये हैं।

परिवार के इस आनन्द और उल्लास के मध्य में राम को दृष्टि लग जाने से, चिन्ता और शोक के क्षण भी घटित होते हैं। माता ने देव पितर और ग्रहों की पूजा की और मुख का तुलादान भी किया किन्तु सब निष्फल हुआ।

राजु अजरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावतहू रोवत राम मेरो सो सोच सबहीके।

अन्त में कुलगुरु के नृसिंह मन्त्र के प्रयोग से परिवार का सङ्कट ही नहीं टला राम सिसकने लगे और सभी भाई सुख की नींद सो गए। पुत्रों के हित और अहित की अनुभूति से सभी रानियाँ चिन्तित और उत्सुक हैं। कौशल्या को जब नगर में एक ज्योतिषी के आने का शुभ संवाद मिला वह अपने पुत्रों के भावी जीवन की गति विधि जानने के लिए आतुर हो उठीं। तुलसी के इस गीत में पारिवारिक जीवन का चित्र खरा उतरा है जिसमें मातृ-हृदय की विह्वलता उत्सुकता कौतूहल आनन्द आदि सभी कुछ है।

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतन्ह परिचौ पायो॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
सँग सिसुसिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥
पायँ पखारि, पूजि दियो आसन असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चार्यो सुत माथे हाथ दिवायो॥
नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल कर निरखत उर प्रमोद न अमायो॥
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।
राम भरत रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो॥
तुलसिदास रनिवास रहसबस भयो सबको मन भायो।
सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो॥—(बालकाण्ड—१७)

इन प्रसंगों के साथ ही कुछ रूपक गीत भी आए हैं। प्रथम एक गीत ही लीजिए जो रूपक प्रधान कौशल्या की भावुक भावनाओं का व्यञ्जन करता है—

सोहिये लालन पालने हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल बिनोद मोद-मंजुलमनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबेकहँ मति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं॥

—(बालकाण्ड—१८)

इन विविध आमोद प्रमोद और भावनाओं के मध्य म सभी राजपुत्र बड़े होने लगे हैं। अब वे घुटनों के बल दौड़ने भी लगे हैं। उनकी यह अवस्था भी परिजन और पुरजन के लिए सुखद है—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील जलद तनु स्याम राम सिसु जननि निरखि मुख निकट बुलाए॥
× × ×
अंग अंग पर मार निकर मिलि छबिसमूह लै लै जनु छाए।
तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए॥
— (बालकाण्ड—२९)

राम के इन सभी चरित्रों में उनके बाल-जीवन की झाँकियाँ उपलब्ध हैं।

कहीं-कहीं उनके नख-शिख के अलंकृत वर्णन भी प्रस्तुत हुए हैं। जिनमें रूपकों और उत्प्रेक्षाओं का इतना आधिक्य है कि मूल चित्र से दृष्टि का हट जाना स्वाभाविक है। 'रघुबर बाल-छबि' का एक अलंकृत स्थल द्रष्टव्य है—

रघुबर बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि-मनोज-सोभाहरनि।
बसी मानहु चरन-कमलनि अरुनता तजि तरनि।
रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुन करनि॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि।
जनु सुभग सिंगार सिसु तरु फर्‌यो है अद्भुत फरनि॥
भुजनि भुजग सरोज नयननि बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥
लसत कर प्रतिबिम्ब मनि-आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जनु जलज संपुट सुछबि भरि भरि धरति उर धरनि॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ घरनि।
बसत तुलसी हृदय प्रभु किलकनि ललित लरखरनि॥
— (बालकाण्ड—१७)

कवि को 'राम की बाल-छबि' को 'सकल सुख की सींव' और 'कोटि मनोज सोभा हरनि' कथन मात्र से ही सन्तोष नहीं हुआ। उस छबि को बल देने के लिए कवि ने एक-एक अंग के लिए कहीं उपमा कहीं उत्प्रेक्षा और कहीं यथाक्रम का आश्रय लिया है। ऐसे स्थलों पर राम के 'सौंदर्य' से अभिभूत होकर कवि अपनी अनुभूति का भान कर उठा है।

राम घुटुओं के बल से अब पैरों भी चलने लगे हैं। इस अवस्था में वह अपने अनुजों और सखाओं सहित घूमते हैं और क्रीड़ा भी करते हैं। राम के इस घूमने

फिरने में भी कवि ने स्थल-स्थल पर उनके मधुर स्वरूप और साज-सज्जा का वर्णन किया है। इस अवस्था का यह एक मधुर चित्र है—

छोटिऐ धनुहियाँ पनहियाँ पगनि छोटी
छोटिऐ कछौटी कटि छोटिऐ तरकसी।
लसत झँगूली झीनी दामिनी की छबि छीनी
सुन्दर बदन सिर पगिया जरकसी।
बय अनुहरत बिभूषन बिचित्र अंग
जोहैं जिय आवति सनेह की सरक सी।
मूरति की सूरति कही न परै तुलसी पै
जानै सोई जाके उर कसकै करक सी॥

—(बालकाण्ड ४४)

राम के चलने-फिरने और खेलने कूदने के समय हो जाने पर चौगान खेल की व्यवस्था भी कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। राम के जीवन के साथ इस विनोदी क्रीड़ा का सम्बन्ध करना वस्तुतः काल-दोष है किन्तु पद में राम की सहृदयता स्नेह बन्धुत्व भावना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

राम-लखन इक ओर भरत रिपुदवन लाल इक ओर भए।
सरजुतीर सम सुखद भूमि थल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि मन कसि कसि ठोंकि ठोंकि खए।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं खेलन लगे खेल रिझये॥

—(बालकाण्ड ४५)

इसके अतिरिक्त निम्न पद भी द्रष्टव्य है—

खेलि खेल सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि चुचुकारि तुरंगनि सादर जाइ जोहारे।
बंधु-सखा-सेवक सराहि सनमानि सनेह सँभारे।

—(बालकाण्ड ४६)

राम बड़े और मर्यादा प्रेमी हैं। इसमें बन्धुओं के अतिरिक्त सखाओं और सेवकों का वह सस्नेह सम्मान करते हैं। इससे उनके स्वभाव और आचरण की शालीनता और व्यापकता स्पष्ट होती है। यह मर्यादा-प्रेम उनमें सदैव अक्षुण्ण रहा है और अपने आदर्श से उन्होंने दूसरों को भी इस ओर अभिप्रेरित किया है।

यहाँ आकर राम की बाल-लीलायें विश्राम ले लेती हैं। अभी तक वात्सल्य के स्नेह-परक वातावरण में वह परिपुष्ट और पल्लवित हुए हैं किन्तु जीवन में उन्हें लोक-कल्याण और सार-रक्षण जैसे महत्तम कार्य भी करने थे जिनके लिए उनकी शेष लीलायें प्रस्तुत हैं। उनको विचार का विषय बनाने से पूर्व उनका तुलसी-काव्य में क्या स्थान है यह निरूपण करना भी उचित है।

मानस के अन्तर्गत प्रमुख बाल चरित को देखिए—

बाल चरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥

× × ×

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरइ जननी हठि धावा॥
धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

× × ×

बंधु सखा संग लेहिं बुलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी॥

× × ×

जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

मानस के इस बाल-चरित के मध्य में चूड़ा कर्म और यज्ञोपवीत के संस्कार भी कवि द्वारा सम्पन्न कराए गए हैं। इसी के अन्तर्गत राम ने अपने अखण्ड ब्रह्म का चरित भी कौशल्या को दिखलाया है जिसके फलस्वरूप उसको यह कहना पड़ा—

बार बार कौसल्या, बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापइ प्रभु मोहि माया तोरि॥

मानस के समान कवितावली के एतत्सम्बन्धी स्थल भी दृष्टव्य हैं—

कबहूँ ससि मांगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मन्दिर में बिहरैं॥

× × ×

पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुहीं सर पंकज-पानि लिए।
लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिए॥

× × ×

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर, निषंग कसें कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥

'रामचरित मानस और कवितावली' के बाल-वर्णन भी गीतावली के समान वर्णनात्मक हैं अभिनयात्मक नहीं। श्री कृष्णगीतावली में अभिनेय तत्त्व अवश्य हैं

किन्तु उनकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति के कारण वे व्यापक नहीं हो सके हैं। उनकी यह विषमता यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होती है। उपर्युक्त काव्यों के बाल-वर्णनों को जब हम तुलनात्मक रूप से विचार करते हैं तब गीतावली निम्न दो तथ्यों में विशिष्ट सिद्ध होती है—

(१) शेष तीनों काव्यों से गीतावली में राम का बाल-चरित अधिक विस्तृत और बहुसंख्यक है।

(२) राम के बाल-सौन्दर्य के जितने सजीव और मनोरम चित्रण इसमें हैं उतने शेष काव्यों में नहीं।

राम और कृष्ण के भगवान् रूप के लिए तुलसी की आस्तिक भावना स्थान स्थान पर अभिव्यक्त है। मर्यादा भक्ति के कारण उसमें कहीं भी अनिमेष तत्त्व प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। कृष्ण के सम्बन्ध में तो यह मर्यादा टूटी भी है किन्तु राम के महत्व से वह इतने अभिभूत हैं कि शिशु बने हुए अपने आराध्य का वर्णन करते चले जाते हैं। उन्हें इतना मालूम नहीं कि उनके वार्तालाप अथवा बालोचित आग्रह का संवादात्मक कथन ही कर देते। सूरदास कृष्ण के बाल चरित वर्णन में इस ओर कहीं अधिक सचेष्ट हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
× × ×
मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ तोहि जसुमति कब जायौ॥
× × ×
मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ॥
देखि तुही सींकें पर भाजन ऊँचै धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कब करि पायौ॥
मुख दधि पोंछि कहत नंदनन्दन दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा गहि सुत को कंठ लगायौ॥

इस प्रकार के सजीव स्थल तुलसी के किसी राम-काव्य में नहीं हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि राम के एक चक्रवर्ती सम्राट के राजकुमार होने और तुलसी की दास्य भावना के कारण वह ऐसे चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ ही रहे। ये तथ्य अवश्य तुलसी के पक्ष का समर्थन करते हैं किन्तु बालोचित प्रवृत्तियाँ वह चाहे राम हों चाहे कृष्ण हों चाहे अन्य का कोई बालक हो सभी में सामान्य रूप से विद्यमान मिलेंगी। फिर उन सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख न करना तुलसी काव्य का एक अभाव है उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

सूर के बाल-वर्णन में निम्न विशेष तत्त्व उपलब्ध होते हैं—(१) कृष्ण की बालोचित वेषभूषा और साज सज्जा (२) उनकी बालोचित क्रीड़ाएँ (३) उनकी बालोचित प्रवृत्तियों का उल्लेख (४) यशोदा के जननी हृदय की मधुर भावनाएँ। उपर्युक्त तत्त्वों को लेकर जब हम गीतावली में समाहित राम के बाल-चरित पर दृष्टि डालते हैं तो केवल राम की बालोचित साज-सज्जा ही पर्याप्त विस्तार से उपलब्ध है। उनकी बालोचित क्रीड़ाएँ और कौशल्या के मातृ हृदय की भावनाएँ उसमें हैं किन्तु अधिक नहीं। अब रहा—बालोचित प्रवृत्तियों के उल्लेख का अब काम यह वस्तुतः गीतावली में है ही नहीं। इन्हीं सब विशेषताओं से सम्बद्ध सूर का कृष्ण-बाल-चरित तुलसी के राम-बाल चरित से कहीं अधिक सजीव मधुर और स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में सूर की प्रतिभा अपने विषय पर खूब रमी है। यह कहना कि पुष्टि सम्प्रदाय में प्रतिपादित माधुर्य के लिए ही उनकी दृष्टि कृष्ण के बाल और युवा जीवन पर सुस्थिर हो जा टिकी है सूर की प्रतिभा और मस्ती के साथ अन्याय है। उनके समकालीन और अनन्तर भी तो अष्टछाप तथा अन्य कवियों के समक्ष कृष्ण के जीवन के यही पक्ष थे किन्तु क्या उन सभी का काव्य सूर-काव्य के समक्ष प्रतियोगिता में खड़ा हो सकता है। यह वस्तुतः सूर के कवि-हृदय की ही सफलता है इससे इस सम्बन्ध में यदि तुलसी पीछे भी पड़ गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। तुलसी का अपना क्षेत्र था अपने सिद्धान्त थे अपनी सीमाएँ और अपनी ही प्रवृत्तियाँ थीं इससे अपने आराध्य के शक्ति शील और सौन्दर्य की व्यंजना के लिए वह राम का मर्यादित बाल चरित ही राम-काव्यों में प्रस्तुत कर सके। फिर भी उपर्युक्त विवेचित तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी गीतावली का बालचरित अन्य काव्यों में समाहित बाल-चरितों से श्रेष्ठ और अधिक सफल है। इस सम्बन्ध में सहृदयों के दो अभिमत नहीं हो सकते।

उत्तरकाण्ड

गीतावली' के उत्तरकाण्ड में 'मानस' के इस काण्ड के समान गम्भीरता और कथा की परिणति नहीं है। मानस में जहाँ तुलसी ने कथा की समाप्ति के लिए अयोध्या में राम का स्मरण भरत का विरह राम-अयोध्यागमन राम का भाइयों और भरत से मिलाप वानरों और निषाद की विदाई पुष्पोत्पत्ति और अयोध्या का वर्णन राम राज्य आदि कथा के बाटों और राम-रूप के स्पष्टीकरण के लिए वेदों और शिव द्वारा राम-स्तुति राम-कथा से पार्वती का सन्तोष गरुड़ का मोह तथा काग भुशुण्ड का अभिशप्त जीवन आदि वर्णन और आचार की परिणति के लिए सन्तों और असन्तों के लक्षण गरुड़ के सात प्रश्न और कागभुशुण्ड द्वारा उनके उत्तर, स्थल-स्थल पर ज्ञान और भक्ति के तत्त्वों के विवरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं— वहाँ गीतावली में राम-राज्य राम-रूप हिंडोला अयोध्या की रमणीयता (वर्षा वर्णन,

दीपमालिका वसन्त-विहार) अयोध्या का आगमन सीता-वनवास लव-कुश-जन्म रामचरित का उल्लेख आदि मिलते हैं। दोनों काव्यों के एक ही काण्ड में चरित वर्णन आदि के सम्बन्ध में विषमताएँ वस्तुतः आश्चर्य में डाल देती हैं।

तुलसी के किसी राम काव्य में हिंडोला वर्षा-वर्णन दीपमालिका वसन्त विहार आदि के सरस और मधुर वर्णन नहीं हैं। इस सम्बन्ध में गीतावली अनूठी और अकेली है। उसके गेय काव्य होने के कारण मधुर स्थलों की योजना इसमें उपलब्ध है, जो उचित है किन्तु राम-चरित के मेल में न आने वाली परिस्थितियों का समावेश अचकचा देने वाला है। इसको देखकर इस काण्ड पर कृष्ण-काव्य का प्रभाव प्रतीत होने लगता है वस्तुतः यह उसका प्रभाव है नहीं। उत्तरकाण्ड की काव्य सामग्री देख लेने पर इस तथ्य पर विचार करना उचित होगा।

राम अवतारी थे। उनके व्यक्तित्व में शक्ति-शील-सौन्दर्य तीनों तत्त्वों का सम्यक समावेश है। उन्होंने यदि अपनी शक्ति से राक्षसों के अत्याचारों का उन्मूलन कर रावण जैसे महाबली राक्षस को मारा था तो अपने शील से अयोध्या के नर नारियों मनुजों रीछ, वानर तथा शरणागत विभीषण आदि को आश्वस्त किया था और सौन्दर्य का अमर प्रभाव सीता वन-पथ पर ग्रामीण वधुओं पूर्णतया तथा अयोध्या के नर-नारियों पर छोड़ा था। इन दोनों में 'सौन्दर्य' ऐसा तत्त्व है जो माधुर्य का पोषण करता है। यही है इसका अभिनिवेश गीतावली में विशेष रूप से उपलब्ध है। जिस प्रकार तुलसी ने गीतावली के बालकाण्ड में राम के बाल-रूप की भूरि भूरि प्रशंसा की है और समतामूलक अलंकारों द्वारा उनके अंगों और अवयवों का भी मर कर उल्लेख किया है उसी प्रकार उनकी वही प्रवृत्ति उत्तरकाण्ड में राजा राम के रूप वर्णन में रही है। एक से एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। राम स्नानोपरान्त सरयू तट पर खड़े हैं। एक स्त्री अपनी सहेली से उनका रूप-कथन करती है—

बिथरित सिरसह-वरूथ कुंचित बिच सुमन जूथ
मनियुत सिसु-फनि-अनीक ससि समीप आई।
जनु सभीत है अंकोर राख्यो जुग रुचिर मोर,
कुंडल-छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई ॥
ललित भृकुटि तिलक भाल चिबुक-अधर द्विज रसाल
हास चारुतर कपोल नासिका सुहाई।
मधुकर जुग पंकज बिच सुक बिलोकि नीरज पर
लरत मधुप अवलि मानो बीच कियो आई ॥
सुन्दर पटपीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि
तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई।
तरु तमाल अधबिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर
हेममाल अंतर धरि तामें न समाई ॥

सखि ! रघुनाथ रूप निहारु ।
सरद बिधु रबि सुवन मनसिज मान भंजनि हारु ॥
स्याम सुभग सरीर जन-मन-काम-पूर निहारु ।
चारुचंदन मनहु मरकत सिखर लसत निहारु ।
रुचिर उर उपबीत राजत पदिक गजमनि-हारु ।
मनहु सुरधनु नखतगन बिच तिमिर भंजनि हारु ॥
बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-बिनिंदनिहारु ।
बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोह निहारु ॥
सकल अंग अनूप नहिं कोउ सुकबि बर निहारु ।
दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनि हारु ॥

× × ×

देखो रघुपति-छबि अतुलित अति ।
जनु तिलोक सुषमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगनि प्रति ॥
पदुमराग रुचि मृदु पदतल धुज अंकुस-कुलिस-कमल यहि सूरति ।
रही आनि चहु बिधि भगतनि की जनु अनुराग भरी अंतरगति ॥

× × ×

बरनत रूप पार नहिं पावत निगम-सेष-सुक-संकर भारति ।
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति ॥

सौन्दर्य-चित्रण के अन्य बीसियों चित्र भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु सभी में समरसता है । एक पद में जिन अंगों का चित्रण किया जा चुका है । दूसरे पद में कुछ अन्य उपमान लेकर वैसा ही चित्रण प्रस्तुत किया गया है । इन सभी में उत्प्रेक्षा अलङ्कार की सुन्दर छटा प्रस्फुटित हो उठी है । इन सभी स्थलों पर राजा राम नायक हैं और स्त्रियाँ तथा दर्शक-वृन्द आश्रय हैं । उनका दिव्य सौन्दर्य उन्हें शृङ्गार के संयोग पक्ष के लिए उद्दीप्त करता है ।

राजा राम के सुशासन में अयोध्या की धन-धान्य और वैभव वैसे ही अमर लोक से होड़ करते थे । फिर वर्षा की सरस ऋतु ने हरीतिमा के साथ उसकी शोभा को द्विगुणित कर दिया था । ऐसे सजीले अवसर पर सामूहिक आनन्द और मनोरंजन के उपभोग के लिए भारतीय वातावरण में हिंडोला नारी-जीवन का अभिन्न साधन है । यों अयोध्या के प्रत्येक परिवार में हिंडोला है किन्तु कवि ने राम-हिंडोला का भी वर्णन किया है । इसका शोभन और अलंकार भी अद्वितीय है । बहुत सम्भव है कि राम-सीता भी इस हिंडोला पर झूलते हों किन्तु इस स्थल पर अयोध्या की नारियों के झूलने का ही दृश्य वर्णित है ।

सो समौ देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि ।
गुन रूप जोबन सींव सुंदरि चलीं झुंडनि झारि ॥

हिंडोल-साल बिलोकि सब अंचल पसार पसारि ।
लागी असीसन राम सीतहि सुख समाज निहारि ॥
झूलहिं झुलावहिं ओसरिन्ह गावैं सुहो गौडमलार ।
मंजीर-नूपुर-वलय-धुनि जनु काम-करतल-तार ॥
अति मुकत भमकत सुमनि बिथुरे बिकर बिललित हार ।
तम तड़ित उडुगन अरुन बिधु जनु करत व्योम बिहार ॥

राम-हिंडोला के समान पारवारिक हिंडोलों पर भी इसी प्रकार के मान-समारोह होते हैं । शरद् की दीपमालिका के अनन्तर 'वसन्त-विहार' की योजना रामराज्य में वर्णित है । वसन्तागमन पर अयोध्या के प्राकृतिक सौन्दर्य और नर-नारियों को वसन्त क्रीड़ा के लिए सम्मत देखकर राम ने उन्हें आदेश दे दिया—

खेलहु मुदित नारि-नर बिहँसि कहेउ रघुबीर ।
नगर नारि-नर हरषित सब चले खेलन फागु ॥

जब राजा राम का आदेश है फिर संकोच क्यों ? राम की इस कृपा और सहृदयता के कारण कवि ने राम रूप के पान की फिर व्यवस्था की है । यह उस स्वच्छन्द वातावरण में प्रसन्नता अवश्य है किन्तु तुलसी का कवित्व अपनी प्रवृत्ति से विवश है । फाग-क्रीड़ा में अयोध्या की नर-नारियाँ सम्मिलित होकर आनन्दित और प्रफुल्लित हैं—

खेलत फागु अवधपति अनुज सखा सब संग ।
बरषि सुमन सुर निरखहिं सोभा अमित अनंग ॥

नारियाँ तो उस वातावरण में इतनी स्वच्छन्द हैं कि ऋतु के अनुकूल गालियाँ भी दे रही हैं—

'रिपु सुभाउ सुठि कोमल देहिं बिबिध बिधि गारि ।

फाग क्रीड़ा की समाप्ति यहीं नहीं हुई है । इस परिस्थिति विशेष ने उस समारोह को सम्पन्न करने में राम और सीता को भी रङ्गस्थली में उतार दिया है । एक पक्ष में हैं राम उनके अनुज और सखा और दूसरे पक्ष में हैं सीता तथा अन्य युवतियाँ । दोनों दलबल एक दूसरे को धकाने में व्यस्त हैं । स्त्रियाँ जिस पुरुष को पकड़ पाती हैं उसके अंजन लगाती हैं तथा उससे अनुनय मनाकर और नाच नचाकर प्रार्थना करने पर ही उसे छोड़ती हैं । पुरुष-वर्ग में से बहुत से विदूषक का स्वाँग बनाए हुए गधों पर चढ़े हुए कूट-वचन बोलते हैं । उनमें लज्जा और संकोच रह ही नहीं गए हैं । दोनों पक्ष एक-दूसरे के लिए गालियों का प्रयोग कर रहे हैं । रामचन्द्र यह सब देख सुनकर आह्लादित हो रहे हैं—

खेलत बसन्त राजाधिराज । देखत नभ कौतुक सुर समाज ॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ । झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ ॥

बाजहिं मर्दल डफ ताल बेनु । छिरकैं सुगन्ध भरे मलय रेनु ॥
उत जुवति-जूथ जानकी संग । पहिरे पट-भूषन सरस रंग ॥
लिए छरी बेत सोधैं बिभाग । चाँचरि झूमक कहैं सरस राग ॥
नूपुर-किंकिनी धुनि अति सोहाइ । ललना-गन जब जेहि धरइँ धाइ ॥
लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ । छाड़हिं नचाइ हा हा कराइ ॥
चढ़े खरनि बिदूषक स्वाँग साजि । करैं कूटि निपट गइ लाज भाजि ॥
नर-नारि परस्पर गारि देत । सुनि राम हँसत भाइन समेत ॥

वसन्त-विहार के आनन्द को सभी स्वच्छन्दतापूर्वक किलोलें करते हुए मना रहे हैं इसमें गम्भीरता और मर्यादा के तत्त्व रह ही नहीं गए हैं। सच तो यह है कि जब राजा राम उनके साथ हैं फिर संकोच और लज्जा का भाव उन्हें क्यों बाधित करे ?

उत्तरकाण्ड के सौन्दर्य के चित्रणों और आनन्द-समारोहों में राम आलम्बन हैं अनन्तर कवि द्वारा सीता-वनवास के करुण दृश्य भी प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें सीता आलम्बन हैं। जब राम उपर्युक्त आनन्द-विलासों के मध्य में सम्मिलित होकर राम राज्य का आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे उसी समय रजक के वचनों से लोक-मत उन्होंने सीता के विरुद्ध देखा और उनके परित्याग में ही राज-धर्म-पालन का औचित्य समझा। भूमिजा अपनी शेष आयु के साथ उन्हें पिता की आयु का भी उपभोग करना था[1] इससे उस अवस्था में सीता का सहवास अनुचित था। फलस्वरूप उनके वनवास का दैवी विधान प्रस्तुत हो गया।

अपने अग्रज के संकेत पर लक्ष्मण सीता को लेकर वाल्मीकि मुनि के आश्रम में अवश्य पहुँचे किन्तु प्रस्तुत धर्म-संकट उन्हें व्याकुल और ग्लानि उन्हें दग्ध कर रही थी। सीता-त्याग का राम का आदेश उचित था अथवा अनुचित यह वस्तुत लक्ष्मण की विचार-सीमा के बाहर था किन्तु सर्वज्ञ वाल्मीकि जी को भी यह सब अच्छा न लगा। उन्हें यह सब देख और समझकर महान् खेद हुआ किन्तु इसे 'विधि की वामता' समझकर वह शान्त हो गये वस्तुत विवशता थी।

'राम लखनु बाम परिमिति नहिं कछुक कहाति।

मुनि वाल्मीकि की गम्भीर मुद्रा और देवर लक्ष्मण की अकुलाहट को देखकर सीता को अपना कर्त्तव्य-निर्धारण करने में विलम्ब नहीं लगा। वह समझ गई कि नियति उनके सुख और विलास से स्पर्धा कर रही है, फलस्वरूप प्रस्तुत परिस्थिति से समझौता करने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ा और विवशता में उन्होंने लक्ष्मण से

---

१ सहस द्वादस पचसत में कछुक है अब आउ ॥
भोग पुनि पितु-आयुको सोउ किय बनै बनाउ ।
परिहरे बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ ॥
—(गीतावली—उत्तरकाण्ड २६)

कहा—

तौ लौं बलि आपु ही कीबो बिनय समुझि सुधारि।
जौलौं हौं सिखि लेउँ बन रिषि रीति बसि दिन चारि॥

मर्यादा पुरुषोत्तम की पत्नी होकर भी वह मर्यादा का संरक्षण चाहती थी। भले ही पति और देवर के साथ उन्होंने वनवास किया हो किन्तु वयोवृद्ध ऋषियों और तपस्वियों के साथ रहने का अनुभव तो उनके पास न था। इसमें आज्ञाकारी लक्ष्मण से उनका वैसा कथन उचित ही था किन्तु लक्ष्मण उस असह्य परिस्थिति में नहीं ठहर सकते थे और न वह ठहरे ही। वाल्मीकि की उपस्थिति से आश्वस्त होने पर भी उनका मानस स्वतः क्रन्दन कर रहा था—

अजहुँ अवसर ऐसेहु धौं न जाके प्रान अभाइ।

इस कठिन परीक्षण में प्राण ही चले जाते तो क्या ही अच्छा होता एक ओर अग्रजा का अनन्य स्नेह और दूसरी ओर अग्रज का आदेश। इस किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में सब तो यह है लक्ष्मण का सबल व्यक्तित्व ही यह सब सैन ले गया। वह इसे पिता दशरथ से 'पुरुष वचन' कहने के पाप का दण्ड मानते हैं।

प्रेम निधि पितु को कहे मैं परुष वचन अघाइ।
पाप तेहि परिताप तुलसी उचित सहे सिराइ॥

परिस्थिति से परास्त लक्ष्मण ने सीता के चरण छुए और चल दिए। कहने के लिए तो बहुत था किन्तु वह अपने किस मुख से कहते।

हेतु हौं सिय हरन को तब अबहुँ भयो सहाय।
होत हठि मोहि दाहिनो दिन दैव दारुन दाय॥
तज्यो तन संग्राम जेहि लगि गीध जसी जटाय।
ताहि हौं पहुँचाइ कानन चल्यो अवध सुभाय॥

वन में बिना भोजन के जीवित रहा लेकिन मरने पर हनुमान द्वारा जीवित कर दिया गया—इस तरह मेरे शरीर को कलंक इसलिए प्राप्त हुआ जिससे सीता वनवास को दारुण दुख सम्पन्न कर मैं घुट-घुटकर मानसिक व्यथा सहन कर सकूँ। लक्ष्मण की मानसिक ग्लानि सम्मिलित रूप से इस स्थल पर बड़ी ही मार्मिक है—

असन बिन बन बरम बिन रन बच्यो कठिन कुघाय।
दुसह सांसति सहन को हनुमान ज्यायो जाय॥

इस कारुण दृश्य के अनन्तर रामचरित सम्बन्धी लव-कुश जन्म की एक घटना का कवि ने उल्लेख किया है। सीता ने अयोध्या के राज-सुख से वंचित होकर भी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में सभी सुख प्राप्त किए किन्तु राम-स्नेह का अभाव उनके मानस को दुःखी ही रहा।

लव-कुश जन्म की घटना यद्यपि राम-कथा की दृष्टि पर से आती है किन्तु मुनि वाल्मीकि और सीता दोनों के मानस में उल्लास अवश्य प्रस्तुत कर दिया। मुनि

पर सीता का दायित्व तो था ही किन्तु पुत्रों के जन्म ने वीतराग मुनि को गृहस्थ बना दिया। उन्होंने उनकी छठी और बारहवें दिन की रीति की नामकरण और अन्नप्राशन के समारोह की व्यवस्थाएँ कीं। इन सभी उत्सवों को उन्होंने समाज जोड़ जोड़कर किया और तपस्वियों को वस्त्र के वसन पहनाकर सन्तुष्ट किया।

तपोवन के इस आनन्द और सुख के मध्य में भी सीता का हृदय दुखित और व्यथित था। लव-कुश के वात्सल्य का दायित्व शत प्रतिशत उस पर था। उसने उसकी उपेक्षा नहीं कर दी। मातृ-हृदय रखकर वह वैसा कर भी कैसे सकती थी किन्तु राम के वियोग जनित अभावों को उसने रह रह कर सोचा था। एक वीतराग मुनि गृहस्थ की व्यवस्था और साज-सज्जा करे और गृहस्थ वीतरागी हो जाय। इस दैवी विधान ने सीता को शान्ति से नहीं बैठने दिया। राम राजा उसके लिए नहीं तो पुत्रों के लिये तो हुये। क्या राम को पुत्रों के जन्म का समाचार न मिला होगा? उस रात दैवात् शत्रुघ्न आश्रम में आ गए थे।

> तेहि निसा तहँ सत्रुसूदन रहे बिबिध सुख पाइ।
> माँगि मुनि सों बिदा गवने भोर सो सुख पाइ॥

सच तो यह है कि मुनि के आश्रम में आकर सीता पूर्ण वन-वासिनी ही रही। यों उनका समय लव-कुश के बाल-विनोद देखते कट जाता था किन्तु उनका चित्त-रूपी चितेरा प्रेम रूपी दीवाल पर नित्य ही प्रिय के चरितों को अंकित करता रहता था।

> निरखि बाल-बिनोद तुलसी जात बासर बीति।
> पिय चरित सिय चित चितेरो लिखत नित हित भीति॥

प्रियतम के विरह से यदि वह इस प्रकार दुखी थी तो पुत्रों के सुख से वह सुखी भी थी। सीता का मानस वस्तुतः दोनों सीमाओं का स्पर्श करता था।

> दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी सुखी सुत सुख पाइ।
> आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी ने सीता के मानस की स्थिति का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत कर दिया है। यदि वह प्रियतम-विरह से दग्ध हो दूध के समान उफनता था तो सुत-सुख उस विरहाग्नि को वैसे ही शान्त कर देता था जैसे जल उफनते हुए दूध को। वस्तुतः इस भावना में उनके वनवासी जीवन का इतिहास भरा है। लंका में विरही जीवन का भोग कर वह अयोध्या में राम के सामीप्य द्वारा थोड़ा ही क्षेम-क्षेम पाई थी कि दैव पुनः विपरीत हो उठा और शेष जीवन का वियोग लेकर वह वाल्मीकि-आश्रम में आ पहुँची। नियति ने उनकी सुख-शान्ति छीन ली। वह मानवी थी। फलतः राम-विरह से यदि उनका हृदय रुदन करता था तो पुत्रों के कारण सुख-सागर को लहराता देखकर वह सिहर भी उठती थी। सीता के इस स्वरूप में भारतीय नारी का सामान्य रूप छिपा हुआ है। यशोधरा की ऐसी ही

स्थिति में मैथिलीशरण गुप्त ने भी नारी-जीवन के सत्य का प्रस्फुटन किया है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

वस्तुतः सीता इस चरम परिस्थिति में सभी प्रकार विवश थी। गीतावली के उत्तरकाण्ड की उपर्युक्त विवेचित सामग्री में हिंडोला, वसन्त, फाग आदि के चित्रण मादकता में साथ देते हैं। सच तो यह है कि तुलसी के शेष राम-काव्य में इसकी कहीं प्रतिष्ठा ही नहीं है। इससे इनका चित्रण देखकर स्वाभावतः यह विचार हो उठता है कि यह कृष्ण-काव्य का प्रभाव है। इस नाते तुलसी की गीतावली पर विद्वानों ने सूर-काव्य की अभिव्यंजना का आधार माना है किन्तु इस निर्णय के देने में वह राम की माधुर्योपासना को विस्मृत ही करते रहे हैं। इसी से इस प्रकार की विवेचनाओं में एक पक्षीय तत्त्व तो मिल जाते हैं किन्तु तुलसी के व्यक्तित्व और उनकी विचार धाराओं के साथ न्याय भी हुआ है यह उन्हान नहीं सोचा है।

उपर्युक्त तथ्य इसलिए और अस्पष्ट रहा है कि तुलसी पुरुषोत्तम राम के मर्यादापूर्ण आदर्श चरित्र के ही भक्त रहे हैं। इसमें राम के चरित्र की रसिकता राम भक्ति का अंग न मानी जाकर कृष्ण के माधुर्य का प्रभाव मान ली गई और तुलसी का यह विशिष्ट पक्ष अन्धकार में ही रखा गया। इसके साथ सच तो यह भी है कि राम भक्ति की मधुर उपासना गुह्य रहने के कारण स्पष्ट तथ्य न समाज के सामने आ सके और न विद्वानों को इसमें तुलसी के साथ तद्विषयक न्याय औचित्य पूर्ण कहा जा सकेगा।

ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि कृष्ण भक्ति में मधुर उपासना के साथ राम भक्ति में इस प्रकार की उपासना और विचारधारा तुलसी से शताब्दियों पूर्व प्रमुखता पा चुकी थी। सम्भवतः उनकी अविच्छेद्य प्रगति से अभिप्रेरित होकर राम के रसिक स्वरूप का चित्रण उन्होंने अपनी गीतावली में किया। यह माना जा सकता है कि कृष्ण के रसिक जीवन का चित्रण उनके समक्ष था, इसमें उसके अनुकरण की अभिरुचि उनके मानस में भी जाग उठी हो और गीत-शैली में वैसा चित्रण करने का उन्होंने निश्चय किया हो। यह सूर या अन्य किसी कृष्ण भक्त-कवि का प्रभाव नहीं है यह भ्रम मात्र है।

कृष्ण भक्ति के समान रामभक्ति पर भी भागवत का प्रभाव पड़ा है। इसी के आधार पर राम के मर्यादापूर्ण चरित्र में भी रसिकता का सन्निवेश हो उठा है। उनमें चलकर इसी के समर्थन में 'शिवसंहिता', 'लोमश-संहिता' एवं 'श्री हनुमत्संहिता' की रचनाएँ हुईं। जिनसे रामभक्ति में रसिक परम्परा को समर्थन और बल मिला।

शिवसंहिता में भक्ति को काम पर आधारित सिद्ध किया है और शुद्ध भक्ति के लिए माधुर्य भाव की आवश्यकता वर्णित है। राम एक मात्र पुरुष हैं और अन्य सभी जीव स्त्री हैं। इसी से वह सभी से एक साथ रमण करते हैं। भगवान राम और

सीता दोनों रस के एक मूर्तिमान विग्रह हैं—लीला के लिए ही एक से दो हुए हैं। राम शब्द ही रस राजत्व का बोधक है। शृंगार रस का पर्यवसान श्रीराम में ही है। लोमश संहिता में चम्पकमाला सीता की प्रमुख अन्तरंग सखी वर्णित है। उन्हें रास-रस की आचार्या कहा गया है। इसमें भागवत के रास पंचाध्यायी के समान महारास का विवरण है। श्री हनुमत्संहिता में 'प्रेमामृत महोत्सव' का वर्णन है। इसमें राम का सीता और सखियों के साथ सरयू तट पर जाना कदंब में माध्वीक रस का पान अनन्तर वे 'माधवी कुंज' 'हरिचन्दन वन' और 'अशोक वन' में पधारते हैं। भगवान् राम हास्य लास्य और कटाक्ष से सीता को प्रसन्न करते हुए सभी को प्रसन्न करते हैं। अनन्तर वे सब एक कुंज मण्डप में पहुँचते हैं वहाँ कमलदल की भाँति वेदी पर राम और सीता बैठते हैं। सखियाँ विविध वाद्य यंत्रों को बजाती हैं।—इस रास में सीता ने अपने शरीर से १०८ सखियों की उत्पत्ति की और उनके साथ राम भी उतने ही रूप धारण कर लेते हैं।[१]

उपर्युक्त के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में अशोक वन में राम-सीता का विहार 'सत्योपाख्यान' में राम-सीता के वन-विहार जल-विहार के मधुर वर्णन हैं। उसी में होलिका में राम-सीता का प्रणय-विहार और अनन्तर सीता की 'मान लीला' है। आनन्द रामायण के विलासकाण्ड में राम-सीता की जल क्रीड़ा एवं वन विहार तथा 'महारामायण' में राम की रास क्रीड़ाओं का बड़ा ही मधुर वर्णन है।[२]

राम भक्ति-धारा की शृंगारी शाखा पर श्री हनुमत्संहिता और बृहद्कौसल खण्ड का विशेष प्रभाव है।[३] ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी से ही राम-सीता के पूर्वानुराग का चित्रण हो उठा है और उसी की परम्परा में महावीर चरित जानकी हरण प्रसन्नराघव तथा हनुमन्नाटक में राम-सीता के माधुर्य भाव और विलास का साँगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त आकलन और विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तरकाण्ड की विचित्र प्रतीत होने वाली इस सामग्री पर सूर की अन्य कृष्ण भक्त कवि का प्रभाव नहीं है किन्तु राम-भक्ति की माधुर्योपासना का ही आभार है जो क्रमिक रूप से संहिताओं और संस्कृत ग्रन्थों में विकसित हो रही थी। तुलसी अपने माधुर्य-पोषण के लिए उनसे अभिप्रेरित अवश्य हुए हैं किन्तु उन्होंने अपनी भाव-धारा का उस

१ श्री भुवनेश्वर मिश्र—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ १०७ से १११
२ वही पृष्ठ ११३-११४
३ वही पृष्ठ ११४
४ श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना'— पृष्ठ १११ (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना)

भरत घुक दुखी होके मादि दुखाम्भ में डूब गए । इन सब में कौशल्या का हृदय जिस मातृ भावना से रोया है वह तुलसी-काव्य में अद्वितीय है । राम के वियोग में सीता-रुदन भी करुण और मार्मिक है । कहने का आशय यही है कि इस विवेच्य प्रसंग में राम को लेकर पग-पग पर आनन्द और विषाद की घटनाएँ मात प्रतिघात घटित हुई हैं, जो काव्य की गेय शैली के कारण और भी मधुर और करुण हो गई हैं ।

राम के बड़े तथा शरीर से पुष्ट हो जाने पर उनका पारिवारिक जीवन से बाहर जाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था । उस स्थिति में ही संसार में मुख शांति की व्यवस्था असुरों का संहार और कर्तव्य तथा मर्यादा की स्थापना सम्भावित थी । फलतः उनको लेने के लिए विश्वामित्र अयोध्या में पधारे और राजा के समक्ष जब उन्होंने राम को ले जाने का प्रस्ताव रखा तब—

> रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बचन ।
> कहि न सकत कछु, राम-प्रेम बस पुलक गात भरे नीर नयन ।।

किन्तु दैवी विधान ही ऐसा था उन्हें राम-लक्ष्मण को देना ही पड़ा । आश्रम में पहुँचने पर विश्वामित्र ने अपनी तपस्या पुन: प्रारम्भ की । राम-लक्ष्मण की तत्परता से ताड़का वध हुआ तथा अन्य व्यवधान दूर हुए, फलस्वरूप महर्षि की साधना सफल हुई । यथासमय उन्होंने उनको धनुर्विद्या का विशेष ज्ञान दिया । वे वहाँ रहते हुए आश्रम-जीवन से परिचित और धनुर्विद्या में प्रतिष्ठित हुए ।

इस स्थिति में ही महर्षि को सीता-स्वयंवर का शुभवाद मिला । जब राम लक्ष्मण के साथ वह जनकपुरी जा रहे थे तब मार्ग में उनकी चरण रज से अहल्या की मुक्ति हुई जिससे राम का भगवान् रूप प्रमाणित हुआ । जनकपुरी में पहुँचने पर राम-लक्ष्मण सहित पधारे हुए विश्वामित्र का सभी प्रकार स्वागत हुआ और अनन्तर वहाँ के नर-नारियों को राम-लक्ष्मण अनुपम सौंदर्य को देखने का अवसर मिला । उनके अप्रतिम सौन्दर्य से नगर के नर-नारी ही केवल मुग्ध नहीं हैं किन्तु जनक जैसे विदेह राजर्षि भी परास्त हो उठे हैं ।

> जनक बिलोकि बार-बार रघुबर को ।
> मुनिपद सीस नाय आयसु असीस पाय ।
> एई बातें कहत गवन कियो घर को ।।
> नीद न परति राति प्रेम-पन एक भाँति
> सोचत संकोचत बिरंचि-हरि-हर को ।
> तुम्हते सुगम सब देव ! देखिबे को अब
> जस हंस किए कोपचत गुन पर को ।।

जनक जी का प्रण और शिवजी का कठोर धनुष नर-नारियों को राम-लक्ष्मण की किशोर अवस्था के कारण निराश अवश्य किए थे किन्तु राम के प्रति वे पूर्ण १ अवगत थे । इनका सौन्दर्य लोगों का प्रीति तथा आनन्द में निमग्न किए था ।

विराम शैली में एक स्त्री द्वारा राम का स्वरूप-कथन देखिए—

सखु सुमुखि चित लाइ चितौ री।
राजकुँवर मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि श्रम कियो है कितौ री।
नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ री।
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल कल-कलस रितौ री।
मेरे जान इन्हें बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ री।
तुलसी प्रभु भंजिहैं संभु धनु भूरिभाग सिय-मातु पितौ री॥

राम के सौन्दर्य से वे इतनी अभिभूत हैं कि वे निरन्तर उसको देखती ही रहना चाहती हैं और परस्पर यह विचार करती हैं कि क्यों न कोई राजा को समझा दे कि वह प्रण को छोड़कर सीता को राम के साथ परिणयसूत्र में बाँध दे।

प्रेम-बिबस माँगत महेस सों देखत ही रहिए नित ए री।
कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि कै ए नयन जाहु जित ए री।
कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री।
कुलिस-कठोर कहाँ संकर धनु मृदुमूरति किसोर कित ए री॥

× × ×

तुलसी भूपहि ऐसी कहि न बुझावै कोउ
पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तौल॥

इस चित्र का दूसरा पक्ष पुष्प-वाटिका में राम-सीता के सम्मिलन में पूर्ण होता है जहाँ एक दूसरे को देखकर वे परस्पर आकृष्ट हो उठे हैं। उपर्युक्त सभी स्थलों में राम अपने रूप और गुण के कारण आलम्बन हैं, व्यक्ति भेद के कारण जनक जी में वात्सल्य, नर-नारियों में शान्त और सीता में शृंगार रस का उद्रेक है।

राम-सीता के विवाह काल का वर्णन तुलसी ने बड़ी ही भावुकता के साथ प्रस्तुत किया है—

दूलह राम सीय दुलही री।
घन-दामिनि बर बरन हरन-मन सुन्दरता नख-सिख निबही री।
ब्याह-बिभूषन-बसन बिभूषित सखि अवली लखि ठगि सी रही री।
जीवन जनम लाहु लोचन फल इतनोइ लह्यो आजु सही री।
सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही री॥
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री।
रूप रासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही री॥

इस पद में 'दूलह राम' और 'दुलही सीता' के सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। नियों ने न कभी ऐसा सौन्दर्य देखा था और न वे कभी देख सकेंगी। 'जीवन जनम ह लोचन फल है इतनोइ लह्यो आजु सही री'। तुलसी ने अपनी भावना की

सार्थकता के लिए उपमा सांगरूपक उत्प्रेक्षा आदि की सजीव योजना प्रस्तुत कर दी है। उनका यही सौन्दर्य जब वे वनवास के लिए जाते हुए वन-पथ पर होते हैं ग्रामीण वधुओं की प्रशंसा का पात्र बनता है। व उनके मनोहर रूप पर मुग्ध हैं। तुलसी ने यह स्थल भी आलंकारिक शैली से प्रस्तुत किया है—

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ सुमुखि निरखि भरि नैन॥
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति कहुँ कोउ है न।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनिवेष बनाए है मन॥
किधौं सिंगार सुषमा सुप्रेम मिलि चले जग चित वित लैन।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्ह सुख दैन॥

इस गीत म उत्प्रेक्षा और सन्देह की अद्भुत छटा कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार अन्य पीतो म भी समतामूलक अलकारो के प्रयय से उनके सौन्दर्य और अनूपों को चित्रित किया गया है। वे वधुएं मन-मुग्ध सी रहती हुई उनके सौन्दर्य सुधा को 'नेत्र रूपी दोनों' से पान करती हैं।

तुलसी स्वामी स्वामिनि जोहे मोही हैं भामिनी
सोभा सुधा पिए करि अँखियां दोनी।

कवि द्वारा बड़ा ही कोमल रूपक प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं वन पथ पर उनके रूप की सर्वप्रियता भी प्रकट होती है। वे जहां भी गए नर-नारी उन्हीं के होकर रह गए—

जेहि जेहि मग सिय-राम-लखन गए,
तहँ तहँ नर-नारि बिनु छर छरिगे।
निरखि निकाई-अधिकाई बिथकित भए।
बच बिय नैन सर-सोभा सुधा भरिगे।
जोते बिनु बए बिनु निफन निराए बिनु
सुकृत-सुखेत सुख-सालि फूलि फरिगे।
मुनिहु मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ
सुगम सो राम लघु लोगनि को करिगे॥

वस्तुत अपनी लोक-संग्रही और लोक रंजनी दृष्टि से उन्होंने जग-जन को मुग्ध कर लिया। उनके जीवन का यही महत्तम स्वरूप था जिसके कारण उन्होंने वनवास का जीवन सहर्ष स्वीकृत किया था। नर-नारियाँ अब भी उनकी स्मृति और *चिन्ता में निमग्न हैं और एक नारी की तो यह दशा है कि वह अपने को ही विस्मृत* किए दे रही है—

सखि! जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई।
तब तें परे न कल कछू न सोहाई॥

सब सिख मोद-मोद निरखि सिहाई।
सुख-सम्पति भई सब अमरन न जाई॥
हेरनि तुलसी हिय लिए है बड़ाई।
पावन प्रेम बिबस भई हैं पराई।

वन-पथ पर भ्रमण हुए चित्रकूट में पहुँचने पर रामचन्द्र वहाँ कुछ काल के लिए बस गए, इससे वहाँ का सौंदर्य आशातीत अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ। राजपरिवार के ये वनवासी अपनी नवीन परिस्थितियों में अभ्यस्त होने का प्रयास करने लगे। उधर उनके संसर्ग से वहाँ की लताएँ वृक्ष पशु-पक्षी नदी और झरने अपने त्रिगुणित उत्साह से प्रदर्शित हो उठे। मुनि और तपस्वियों को भी उनके कारण स्वच्छन्द जीवन की नवीन अनुभूति हुई। चित्रकूट में राम-लक्ष्मण-सीता की एक झाँकी देखिए—

सोने मास लखन सलोने राम सोनो सिय
बाद चित्रकूट बैठ सुन्दर तरु हैं।
गोरे-साँवरे सरीर पीत नील नीरज से
प्रेम रूप सुषमा के मनसिज सार हैं॥
सोन जल-जिय निरुपम निरुपम सोन
बड़ उर-अंबर बिसाल भुजबर हैं।
लाल सोने लोचन जटनि के मुकुट सोने।
सोन बदननि बोते कोटि सुधाकर हैं॥
सोने सोन धनुष बिसिख कर कमलनि
सोन मुनिबर करि सोन सरधर हैं।
प्रिया प्रिय बंधु को दिखावत बिटप बलि
मंजु कंज सिलातल दल फूल धरे हैं॥

उनके दिव्य सौंदर्य के चित्रण प्रस्फुटित करने में वस्तुत अनुप्रास की छटा सजीव हो उठी है। ललित शब्दों का लालित्य मन को मुग्ध करने में पूर्ण समर्थ है।

राम और उनके अनुजों का राजा रानियों परिजन पुरजन आदि से एक दीर्घ काल से अनुराग पाया था। सभी ही उनके कारण आनन्दित और सुखी थे किन्तु उनका सुख और आनन्द स्थायी रूप से न रह सका। उनके बड़े होते ही विश्वामित्र की दृष्टि उन पर केन्द्रित हो उठी। राजा की अनिच्छा थी किन्तु उन्हें राम और लक्ष्मण देने ही पड़े। यद्यपि मैं यह सच है कि विश्वामित्र की साधना सफल हुई और लोकोपकार भी हुआ किन्तु अयोध्या की प्रजा और राज समाज के लिए उनका वियोग भी प्रस्तुत हो गया। उनके वियोग जनित दुःख के अनु जब राम और उनके अनुज विवाहित होकर जनकपुर से लौटे थे व अवश्य कुछ क्षणों के लिए पीछे हटे थे किन्तु उनका सुखोपयोग दिनों दिन रह सका। कैकयी का स्वार्थ उनकी प्रतिस्पर्धा में था इस, अनन्तर उनका दीर्घ प्रवास हुआ और वे रोते कलपते ही रह

सार्थकता के लिए उपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सजीव योजना प्रस्तुत कर दी है। उनका यही सौंदर्य जब वे वनवास के लिए जाते हुए वन-पथ पर होते हैं ग्रामीण वधुओं की प्रशंसा का पात्र बनता है। वे उनके मनोहर रूप पर मुग्ध हैं। तुलसी ने यह स्थल भी भावनात्मक शैली में प्रस्तुत किया है—

> मनोहरता के मानो ऐन।
> स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ सुमुखि निरखि भरि नैन॥
> बीच बधू बिधुबदनि बिराजति कहुँ कोउ है न।
> मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाए है मैन॥
> किधौं सिंगार सुषमा सुप्रेम मिलि चले जग चित-बित लैन।
> अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्ह सुख दैन॥

इस गीत में उत्प्रेक्षा और सन्देह की अद्भुत छटा कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार अन्य गीतों में भी समतामूलक अलंकारों के प्रयोग से उनके अंगों और अनुपों को चित्रित किया गया है। वे वधुएँ मंत्र मुग्ध सी रहती हुई उनके सौंदर्य सुधा को नेत्र रूपी पात्रों से पान करती हैं।

> तुलसी स्वामी स्वामिनि जोहे मोहीं हैं भामिनी
> सोभा सुधा पिए करि अँखियाँ दोनी।

कवि द्वारा बड़ा ही कोमल रूपक प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं वन पथ पर उनके रूप की सर्वप्रियता भी प्रकट होती है। वे जहाँ भी गए नर-नारी उन्हीं के होकर रह गए—

> जेहि जेहि मग सिय-राम-लखन गए,
> तहँ तहँ नर-नारि बिनु छर छरिगे।
> निरखि निकाई-अधिकाई बिथकित भए।
> बच बिय नन पर-सोभा सुधा भरिगे।
> जोते बिनु बए बिन निफन निराए बिन
> सुकृत-सुखेत सुख-सालि फलि फरिगे।
> मुनिहु मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ
> सुगम सो राम लघु लोगनि को करिगे॥

वस्तुतः अपनी लोक-संग्रही और लोक-रंजनी दृष्टि से उन्होंने जन-जन को मुग्ध कर लिया। उनके जीवन का यही महत्तम स्वरूप था जिसके कारण उन्होंने वनवास का जीवन सहर्ष स्वीकृत किया था। नर-नारियाँ अब भी उनकी स्मृति और चिन्ता में निमग्न हैं और एक नारी की तो यह दशा है कि वह अपने को ही विस्मृत किए दे रही है—

> सखि! जब तें सीता समेत देखे दोउ भाई।
> [illegible]

राम सिय भाव-शोभ निरखि सिहाई ।
मन-सुख नहिं मन आनन न आई ॥
हेरि-हेरनी हिय फिर हैं बारहीं ।
दारुन प्रम बिकल भई हौं परहीं ॥

वन-पथ एक लम्बा चित्रकूट में पहुँचने पर रामचन्द्र वहाँ कुछ काल के लिए बस गए, इसमें कवि का सौन्दर्य अन्तःपुरत प्रतिबुद्धि को प्राप्त हुआ । रामपरिवार के वनवासी उनकी सर्वत्र परिस्थितियों में सन्तुष्ट होने का प्रयास करने लगे । उधर उनके संयम से वहाँ की प्रकृति बस पशु-पक्षी आने और फल अपने निपुणित उत्साह से प्रदर्शित हो रहे । मुनि और तपस्वियों को भी उनके कारण स्वच्छन्द जीवन की नवीन अनुभूति हुई । चित्रकूट में राम-लक्ष्मण-सीता की एक झाँकी देखिए—

लाल लाल लखन, मनोज रूप सोनो सिय
चार चित्रकूट बैठ सुन्दर तर हैं ।
मोरे-मोरे मरीर पीन भीन गोरज से
प्रेम भरु सुखमा के सर्वनिज सार हैं ॥
सोम मन सिम सिमनम सिरधाम जोय
बढ़ु उर-अंचर, बिमान सुखकर हैं ।
लाल लाल लोचन उरनि के पुलुट सोहे ।
लाल बरनति भीन कोटि सुधाकर हैं ॥
लाल लाल मधुप विविध कर कमलनि
लाल सुमिकर करि सोम मरपर हैं ।
प्रिया प्रिय बंधु को दिखावत बिटप बलि
मंजु कुंज सिलासन दल फूल धरे हैं ॥

उनके स्निग्ध मोरिय के चित्रण प्रस्फुटित करने में वस्तुतः अनुराग की छटा प्रधान हो उठी है । ललित शब्दों का लालित्य मन को मुग्ध करने में पूर्ण सफल है ।

राम और उनके अनुजों का राजा दशरथ परिजन पुरजन आदि ने एक दीर्घ काल के उपरान्त पाया था । सभी हो उनके कारण आनन्दित और सुखी थे किन्तु उनका सुख और आनन्द स्थायी रूप में न रह सका । उनके बड़े होते ही विश्वामित्र की दृष्टि उन पर केन्द्रित हो उठी । राजा की अनिच्छा थी किन्तु उन्हें राम और लक्ष्मण देने ही पड़े । सरयाम में यह सब है कि विश्वामित्र की भावना सफल हुई और मारात्म्य भी हुआ किन्तु अयोध्या की प्रजा और राज समाज के लिए उनका वियोग भी प्रस्तुत हो गया । उनके वियोग जनित दुःख के पश्चात् जब राम और उनके अनुज विवाहित होकर जनकपुर से लौटे थे वे अवश्य कुछ समय के लिए सुखी हुए थे किन्तु उनका सुखोपभोग चिरस्थायी न रह सका । कैकयी का स्वार्थ उनके प्रतिस्पर्धी में आ खड़ा । फलस्वरूप उनका दीर्घ प्रवास हुआ और वे पुनः दुःखमय हो गए

गए ।

दशरथ जग में जिन्होंने रामपरक वात्सल्य के लिए अपनी प्राणाहुति ही दे दी। इस क्षेत्र में वह अकेले ही हैं। दूसरे उस कोटि तक नहीं पहुँच सके यह सच है किन्तु उस दुघटना ने उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया यह भी सच है। गीतावली उन सभी का उन्मन वातावरण समाहित किए है।

राम के विश्वामित्र के साथ जाते ही कौशल्या का मातृ-हृदय सिसक उठा—

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे ?
भूख पियास सीत स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहहिंगे ?
को भोर उबटि अन्हवाइ काढ़ि कलेऊ दैहै ?
को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन-सुख लैहै ?
नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु-परिजन-महतारी।
ते पठए ऋषि साथ निसाचर मारन मख रखवारी ॥

राम-लक्ष्मण के बालरूप होने के कारण भूख प्यास शीत और श्रम से बाधित होने के लिए कौशल्या का सशंकित होना स्वाभाविक है। राम और उनके अनुज राज पुत्र होने के साथ वृद्ध माता-पिता के पुत्र भी थे। इसलिए परिजन-पुरजन की उनके प्रति ममता होनी ही चाहिये। फिर कौशल्या का मातृ-हृदय ठहरा उसका आकुल-व्याकुल होना स्वाभाविक है। राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेजने में वह केवल राजा को ही दोषी नहीं ठहराती किन्तु कुल-गुरु सचिव आदि सभी का दोष सिद्ध करती है—

ऋषि नृप-सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुर सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी ॥
सिरिस-सुमन-सुकुमार कुंवर दोउ सूर सरोष सुरारी।
पठए बिनहिं सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी ॥

राम के वियोग की अनुभूति से कौशल्या के हृदय ने सदैव रुदन किया है। उनके वनवास के निर्णय पर उसका मातृ-हृदय नहीं माना है। यद्यपि वह रघुकुल की मर्यादा समझती थी और यह भी जानती थी कि राजा दशरथ और रानी कैकेयी से उनको अयोध्या-त्याग का आदेश मिल चुका है किन्तु फिर भी वह कह ही उठी—

सुनहु राम मेरे प्रान पियारे।
बारौं सत्यबचन श्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे।
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे।
हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारिबस सरबस हारे ॥

× × ×

जदपि नाथ तात ! मायाबस सुखनिधान सुत तुम्हहिं बिसारे।
तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति दीनबन्धु दयालु मेरे बारे ॥

यद्यपि इन पंक्तियों में वात्सल्य समाहित है किन्तु 'तात हौं बिहरत बारन तिहारें' आदि शब्दों से जननी की मर्यादा पर आघात पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि राम अवतारी थे और विष्णु के रूप में उनकी कोख से जन्मे थे। वह उनके स्वरूप को समझती थी। इसी से तुलसी-काव्य में ऐसे स्थल प्राप्य हैं।

उपर्युक्त वात्सल्य भावना की शृंखला में ही कौशल्या के निम्न पंक्तियाँ भी रखी जा सकती हैं—

रहि चलिये सुन्दर रघुनायक।
जो सुत तात-बचन-पालन रत जननिउ तात ! मानिब लायक ॥
× × ×
राम ! हौं कौन जतन घर रहिहौं ?
बार-बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं ॥

कौशल्या का मातृत्व उपर्युक्त के समान समय-समय पर प्रस्फुटित हुआ है। राम को लेकर उसकी वाणी की मार्मिकता वस्तुतः शेष तुलसी-काव्य की अपेक्षा गीतावली में सबसे अधिक मुखर है।

राजा और रानी से राम के लिए वनवास का आदेश हो जाने पर सीता और लक्ष्मण उनके साथ ही जाने में अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं। यह स्थल मानस में गीतावली की अपेक्षा विस्तार से चित्रित हुआ है किन्तु उनके वन-पथ पर प्रयाण करने के दृश्यों को तुलसीदास ने जिस भावुक और सजीव-शैली में अंकित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

राम-सीता-लक्ष्मण वन के मार्ग से चले जा रहे हैं। अत्यन्त श्रम होने के कारण सीता का थक जाना स्वाभाविक है। राम को भी उनकी परिस्थिति अवगत है। वस्तुतः दोनों पक्षों की सहृदयता मर्मस्पर्शी है—

कहौ सो बिपिन है धौं केतिक दूरि।
जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि ॥
प्राननाथ परदेस पयादेहि चले सुख सकल तजे तृन तूरि।
करौं बयारि, बिलंबिय बिटपतर, झारौं हौं चरन-सरोरुह-धूरि ॥
तुलसिदास प्रभु प्रियाबचन सुनि नीरज नयन नीर आए पूरि।
कानन कहाँ अबहिं सुनु सुन्दरि रघुपति फिरि चितए हित भूरि ॥

वन पथ पर अविश्रान्त रूप से चलने पर थकान की अनुभूति ने सीता को राम के भी थक जाने की प्रतीति दी है। अतः राम की सेवा करना उनका कर्तव्य था। यों ही अपनी थकान के अनुमान के लिए सीता ने ये वचन नहीं कहे हैं। इस स्थिति में सीता के चरित्र का उत्कर्ष हो जाता है। राम को सीता की कर्त्तव्य-निष्ठा और सहानुभूति का पूर्ण ज्ञान था। इसीसे 'अरी सुन्दरि ! अभी वन कहाँ ?' कहने से मात्र वह व्यथा में निमग्न हो गए हैं। यदि यह कहकर राम विषाद में लीन थे तो वह चितवन

सुमिरत बाल बिनोद राम के सुंदर मुनि मन हारो।
होत हृदय अति सूल समुझि पद-पंकज अजिर-बिहारो॥
को अब प्रात कलेऊ मांगत रुठि चलैगो माई।
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउ उर लाई॥
जीवौं तौ बिपति सहौं निसिबासर मरौं तौ मन पछितायो।
चलत बिपिन भरि नयन राम को बदन न देखन पायो॥

राम-सीता-लक्ष्मण की अनुपस्थिति पर भी स्मृति-रूप से सदैव कौसल्या के समक्ष प्रस्तुत रहते हैं। वह भ्रान्ति में पड़ी हुई यह नहीं सोच पाती है कि राम का *वन-गमन सत्य है अथवा असत्य है*। उसका भ्रम बड़ा मनोवैज्ञानिक है—

सुख न रही रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रही बिनु देखे।
करत न प्रान पयान सुनहु सखि! अरुझि परी यह लेखे॥

वियोग में इस प्रकार अहर्निश घुलते हुए भी वह उनके आगमन की आशा और संयोग के सुख की अनुभूति से सिहर उठती है।

जनक सुता कब सासु कहै मोहि रामलखन कहै मैया।
बाहु जोरि कब अजिर चलहिंगे स्याम-गौर दोउ भैया॥

चित्रकूट में राम भरत मिलाप की महत्त्वपूर्ण घटना का जैसा उल्लेख 'राम चरित मानस' में है वैसा गीतावली में नहीं है। मानव जीवन की परिस्थितियों के विविध रूप जैसे मानस में उपलब्ध हैं वैसे यहाँ नहीं हैं। गीत-काव्य होने के कारण *यद्यपि वैसा यहाँ सम्भव भी नहीं था किन्तु फिर भी राम भरत मिलाप की घटना* की मूल भावना यहाँ पूर्ण रूप से अक्षुण्ण है। राम के आचरण में यदि दृढ़ता और स्नेह है तो भरत में दीनता विनम्रता भक्ति विश्वास त्यागादि अमूल्य सभी कुछ है। राम भरत की भावनाओं का इस प्रकार समाधान करते हैं—

काहे को मानत हानि हिये हौ?
प्रीति-नीति-गुन-सील-धरम कहँ तुम अवलंब दिये हौ॥
तात! जात जानिबे न ए दिन करि प्रमान पितु बानी॥
ऐहौं बेगि धरहु धीरज उर कठिन कालगति जानी।
तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें॥

चित्रकूट की उपर्युक्त घटना के अनन्तर भरत के साथ राम को लौटाल लाने की दृढ़ भावना मानस में सहेजे हुए जो गए, वे वे चिरसंगिनी निराशा को ही अपने साथ में ला सके। मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादा-पालन की सीमा से टस से मस न हुए, जिससे अयोध्या का दुर्भाग्य सौभाग्य में परिणित न हो सका। कौसल्या उस दयनीय स्थिति में कैकेयी द्वारा माँगे हुए वरदानों की प्रतिक्रियाओं पर विचार करती है। राम-सीता लक्ष्मण को वनवास हुआ प्रियतम को स्वर्ग मिला भरत को विरहाग्नि में

जमना पड़ा। पुरजनों की अश्रुधारा कभी रुकती नहीं—अतः इन सबके पीछे कैकेयी का मातृत्व कहाँ परिलक्षित होता है। वह कैकयी के साथ अपने मातृ-हृदय पर भी विचार करती है और उद्विग्न तथा खिन्न होकर रह जाती है—

हाथ मीजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्याँ कहा जात बह्यो॥
पति सुरपुर सिय-राम-लखन बन मुनिव्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरि सुत क्यों कछु परत कह्यो॥

राम जननी होकर भी इस प्रकार जीवन धारण करने में कौशल्या को आत्म-ग्लानि की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वह अपने मुख पर 'राम' शब्द लाने में भी संकोच करती है। कौशल्या का यह चित्र मनोवैज्ञानिक तथ्य पर चित्रित है—

हौं तो समुझि रही अपनो सो।
राम-लखन सिय को सुख मोकहँ भयो सखी सपनो सो॥
जिनके बिरह-बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी।
मोहि कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महतारी॥
भरत-दसा सुनि सुमिरि भूप-गति देखि दीन पुरबासी।
तुलसी 'राम' कहति हौं सकुचति ह्वै है जग उपहासी॥

राम के वियोग से केवल उनका परिवार, परिजन पुरजन ही नहीं दुखी हैं किन्तु खग-मृग भी दुखी हैं। शुक-सारिका की परिस्थिति यदि करुण है तो राम के घोड़े भी अपने स्वामी के स्मरण में खिन्न हो रहे हैं—

आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि भरि पति को हित मातु हेतु सुत जैसे॥
बार बार हिहिनात हेरि उत जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें करुनामय सुत प्यारे॥
लोचन सजल सदा सोवत से खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि सोचत राम-सुरति उर आए॥
तुलसी प्रभु के बिरह-बधिक हठि राजहंस से जोरे।
ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम-लखन के घोरे॥

सभी के प्रयत्न और अनुरोध करने पर भी राम अयोध्या नहीं लौट सके हैं। उनको सबोध होने के नाते राम द्वारा समझा दिया गया है अथवा वे परिस्थिति विशेष की महत्ता को हृदयंगम कर शान्त होकर रह गये हैं। 'राम लखन के घोरे' अपनी अबोधता के कारण मानव के समान समझ कैसे रख सकते हैं किन्तु अपने स्वामी के राजकुमार के अभाव में वे सूख रहे हैं अपना भोजन त्याग कर वे मलिन सजल नेत्र

रहते हैं उनकी स्मृति से वे सदैव शोकाकुल हैं—इन्हीं इन परिस्थितियों के आधार पर कौशल्या का 'ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहि सिधावौ' कथन बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहि सिधावौ ।
जे पय प्याइ पोखि कर-पंकज बार बार चुचुकारे ।
क्यों जीवहि मेरे राम लाडिले ते अब निपट बिसारे ।।
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे ।
तदपि दिनहि दिन होत झाँवरे मनहु कमल हिम मारे ।।
सुनहु पथिक जो राम मिलहि बन कहियो मातु सँदेसो ।
तुलसी मोहि और सबहिन ते इन्ह को बड़ो अँदेसो ।।

उपर्युक्त के अनन्तर कौशल्या की विरह-वेदना संकाकाव्य में पुनः मुखर हो उठी है। अन्यों के समान वह भी राम प्रतीक्षा में निमग्न हैं। उसका 'सगुन मनाना' और 'खेमकरी से राम आगमन का अनुमान करना' आदि से उसके मातृ हृदय की करुण-भावना ही व्यक्त होती है —

सखी ! अब राम-लखन कित ह्वै हैं ।
चित्रकूट तज्यो तबतें न लही सुधि बधू समेत कुसल सुत द्वै हैं ।।
× × ×
जिन्हहि बिलोकि सोचिहैं लता द्रुम खग-मृग-मुनि लोचन जल च्वैहैं ।
तुलसिदास तिन्ह की जननी हौं, मो-सी निठुर चित और कहुँ ह्वैहैं ।।

जननी होकर भी जो जीवन के इतने दारुण आघात सहन करती चली और जीवन अक्षुण्ण रहे अवश्य उसे माता कहलाने का अधिकार नहीं इस भावना के कारण ही वह राम-वियोग में अपने मातृत्व को निरन्तर चुनौती देती चली है। फिर भी तथ्य तो यह है कि वह जीवित रही है। फलतः उसके अनुकूल ही वह आचरण कर रही है—

बठी सगुन मनावति माता ।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता ।।
दूध-भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम-लखन उर लैहौं ।।
× × ×
छेमकरी ! बलि बोलि सुबानी ।
कुसल छेम सिय राम-लखन कब ऐहैं अब अवध रजधानी ।।
ससि-मुखि कुंकुम-बरनि सुलोचनि गोचनि लोचनि बैन बखानी ।
देवि ! दया करि देहि दरस फल जोरि पानि बिनवहि सब रानी ।

इस प्रकार काग और क्षेमकरी की प्रतीक्षा करने में अपने विरह निमग्न जीवन का अंग मानकर कौशल्या सामान्य माता के स्तर पर उतर आई हैं। वस्तुतः कौशल्या के राम-विषयक विरह में उसका कहीं भी राजमाता का स्वरूप व्यक्त नहीं होता है। यही कारण है कि उसका चरित्र सर्वथा सुगम और स्वाभाविक है।

गीतावली के अरण्यकाण्ड और सुन्दरकाण्ड वस्तुतः काव्य माधुरी की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट हैं। उनकी घटनाओं के वर्णन में भी तुलसी की भावुकता का पूर्णयोग रहा है। मारीच वध के उपरान्त राम और लक्ष्मण जब अपनी कुटी की ओर प्रयाण करते हैं उन्हें प्रकृति बड़ी ही धूमिल और उदासीन प्रतीत होती है। वहाँ के पशु-पक्षी न कलरव करते हैं और न वृक्ष फल दे रहे हैं और न सीता ही दृष्टिगोचर हो रही है। इससे राम को वह सब अच्छे लक्षण प्रतीत नहीं होते—

औरै सो सब समाजु कुसल न देखौं आजु
गहबर हिय कहै कोसलपाल।

पंचवटी के समीप आकर और उसे अपनी कुटी समझ कर उनका हृदय धर्म मन की भावना से भर गया। सीता को न देख कर उनका मानस उनके विरह की अनुभूति से रुदन कर उठा—

आश्रम निरखि भूले द्रुम न फले न फूले,
अलि-खग-मृग मानो कबहुँ न हे।
मुनि न मुनिबधूटी उजरी परनकुटी
पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे॥
उठी न सलिल लिए प्रेम प्रमुदित हिं
प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लव-सालन हेरी प्रानबल्लभ न टेरी
बिरह बिथकि लखि लखन गहे॥
देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो तौ लौं है सोचु खरो सो
सिय-समाचार प्रभु जौलौं न लहे॥

सीता के विरह के कारण प्रसूत राम के वचनों को सुनकर देवताओं को भी पीड़ा हुई। आगे सीता की सुधि प्राप्त कर उन्हें चेतना की अनुभूति हुई। इसी समय रावण द्वारा आहत जटायु से उनकी भेंट हुई। उसकी उस स्थिति को देखकर राम की सहृदयता और सहानुभूति का वेग प्रवाहित हो उठा। महाकवि तुलसी ने यह प्रसंग बड़ी भावुकता से चित्रित किया है—

राखी गोद गीध करि लीन्हो।
नयन सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हो॥

सुनहु लखन ! खगपतिहिं मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो ।
सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो ॥
बहु बिधि राम कह्यौ तन राखन, परम धीर नहिं डोल्यो ।
रोकि प्रेम अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यो ॥
तुलसी प्रभु भूठ जीवन लगि समय न धोखो लैहौं ।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं ॥

राम ने उनसे जीवन रखने के लिए बहुत कुछ कहा। यह भी कहा कि वह जो चाहे माँग ले किन्तु जटायु ने अपने जीवन की निष्कृति के लिए राम भगवान् के समक्ष ही अपनी ऐहिक लीला समाप्त करना श्रेयस्कर समझा। जटायु दशरथ के मित्र होने के नाते स्वर्ग में पहुँचकर सीता-हरण का वृत्त उनसे अवश्य कहेंगे इससे उन्हें दुःख होगा। इसमें राम अपने पितृव्य जटायु को उनके प्रयाण-वेला से पूर्व संकोच के साथ अपना निम्न सन्देश कथन करते हैं—

मेरो सुनियो तात सँदेसो।
सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों ह्वै है अधिक अँदेसो।
रावरे पुन्य प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं।
कुल समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहैं॥

राम के इस सन्देश में प्रसन्नचित्त रूप से उनकी दूरदर्शिता और विश्वास सन्निहित है। दशरथ जैसे पिता जो उनके वियोग में रोते कलपते गए हैं अब वहाँ स्वर्ग में पीड़ित हों, वह उन्हें पसन्द नहीं था। यहाँ पितृ भावना का उत्कृष्ट स्वरूप उनकी वाणी से प्रस्फुटित हो उठा है।

सबरी की भक्ति भावना का अन्य काव्यों के समान इसमें भी उल्लेख है। तदनन्तर सुन्दरकाण्ड में सीता-खोज में प्रवृत्त हनुमान द्वारा अशोक वन में जाकर सीता के समक्ष राम-मुद्रिका डालने पर सीता और मुद्रिका में जिस संवाद की व्यवस्था तुलसीदास ने की है वह बड़ी ही मधुर और करुण है—

बोलि बलि मुँदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु।
अमिय-बचन सुनाइ मेटहि बिरह-ज्वाला-जालु॥
कहत हित अपमान मैं कियो होत हिय सोइ सालु।
रोष छमि सुधि करत कबहुँ ललित लछिमन लालु॥
परसपर पति देवरहि का होति चरचा चालु।
देवि ! कहु केहि हेत बोले बिपुल बानर भालु॥
सीतापति समरथ सुसाहिब सीलधाम कृपालु।
दास तुलसी प्रभुहि काहु न कह्यो मेरो हालु॥

सीता राम-लक्ष्मण की कुशलता जानने के लिए आतुर हैं। हित की कहने पर भी जिन लक्ष्मण का उनके द्वारा अपमान हुआ क्या वह कभी उसका स्मरण करते

है ? दोनों भाइयों में किस विषय को लेकर चर्चा चलती है ? इस प्रकार के प्रश्न उसकी व्याकुलता को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। मुद्रिका द्वारा भी सीता की जिज्ञासाओं का उत्तर दिया गया है जिससे उनके सम्बन्ध में राम द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का उन्हें पता चल जाता है। सीता और मुद्रिका का यह मूक विनिमय बड़ा ही करुण है। हनुमान जैसे वीर-धीर भी उसको सुनकर अपनी अश्रु धारा न रोक सके—

सुनत समीर को धीर सुसील धीर अधीर।
देखि मति सिय-मुद्रिका की बाम ज्यों दियो रोइ।

हनुमान ने वृक्ष से उतरकर सीता को प्रणाम कर अपना परिचय दिया। उनमें बल का साहस और राम-काम के लिए निष्ठा थी। इसी से वह निम्न वचन कह सके—

बिकरि करि रघुबीर-बल सभाउ जो हठि आउ।
तौ प्रायसु भगत ते जस बिसरिहैं सुरराज।।

उनकी वाणी में वीर रस का पूर्ण समावेश है। इस स्थल पर सीता ने हनुमान को रामदूत समझकर अपने जीवन की पूजा और अपराधों पर विहंगम दृष्टि डाली है—

तात ! तोहि सों कहत होति हिय गलानि।
मनको प्रथम पन समुझि चलत तनु
लखि नइ मति भइ मति मलानि।।
पियको बचन परिहर्यो जियत अरोसे
सब जानी जन बड़ो भाग जानि।।
प्रीतम-बिरह तौ सनेह सरबस सुत !
औसर को चूकिबो सरिस न हानि।।
दारुन-सुमन क तो दसा दुसह पर
मोहि लोभ मोत सब बिधि गलानि।।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को
मेरे ही हित सब बिसरी बानि।।

वस्तुतः सीता का प्रण था कि वह पति के बिना जीवन न रख सकेगी। आज उनसे वियुक्त होकर भी वह सप्राण हैं। राम ने वनवास के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उन्हें अयोध्या में रहने के लिए समझाया था किन्तु अपना प्रण पूर्ण करने की भावना से उन्होंने उनके आदेश और उपदेश का उल्लंघन किया। वस्तुतः पति-वियोग नारी जीवन के लिए उसका सबसे मुकुट के समान है। सीता प्रश्न को उपयुक्त परिस्थितियों में भी जीवित देखकर यह समझती है कि उनके द्वारा सभी विलास ही हुआ है। फिर भी राम के भगवान् रूप पर उन्हें विश्वास होता है कि उनके द्वारा

उनकी निष्कृति होगी और अवश्य होगी—

कबहुँ कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे ।
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे ।
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे ।
निज वियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ॥

वस्तुतः सीता की यह स्थिति बड़ी करुण है। उनकी विप्रलंभ शीर्ष पर उपस्थित हो उठा है। हनुमान को प्राप्त कर वह आश्वस्त हो उठी थी किन्तु सीता शोध के उपरान्त उनका जाना आवश्यक था। जाने के लिए उनके प्रस्तुत होने पर सीता के धैर्य का बाँध टूट गया—शरीर शिथिल हो उठा और नेत्रों में अश्रु छलछला आए। यों कहने को बहुत था किन्तु राम के चित्त की स्थिति को सोचकर वह दुख के घूँट पीकर रह गई। हनुमान जैसा वीर भी उस स्थिति को देखकर बिलबिला कर रह गया—

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो ।
पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयननि छायो ॥
कहन चह्यो संदेस नहिं कह्यो पिय के जिय की जानि हृदय-दुसह दुख दुरायो ।
देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो ॥

हनुमान ने सीता के समीप पहुँचकर सीता की वियोग-स्थिति का यथातथ्य चित्रण उनको सुनाया—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु राम करुनानिधि ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न ॥
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन कोन ।
'हा' धुनि खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु तेहि मग पग न धर्यो तिहुँ पौन ॥
तुलसिदास प्रभु ! दसा सीय की मुख करि कहत होत अति गौन ।
दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम आरत-आरति-दौन ॥

पद में उहात्मक भावनाओं का सहयोग लिया गया है जो सीता के विरह विषय का द्योतन करती हैं। अतिशयोक्ति के कारण पद में भले ही स्वाभाविकता तिरोहित हो उठी हो किन्तु पद का तृतीय और चतुर्थ पंक्तियों में भरी हुई स्वाभाविकता ने हनुमान के सन्देश और सीता की वियोग-स्थिति को अवश्य गरिमा प्रदान कर दी है। 'लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरन्तर लोचनन-कोन' में 'उदाहरण' और 'हा ध्वनि-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन'

में रूपक की छटा सजीव हो उठी है।

सुन्दरकाण्ड में विभीषण शरणागति का चित्रण भी गोस्वामी तुलसीदास द्वारा बड़ी सहृदयता और भावुकता से चित्रित किया गया है। रावण से अपमानित होकर विभीषण गीतावली में सीधा राम की शरण में नहीं पहुँचा है। वह पहले पर्वत पर अपने अग्रज कुबेर के अभिमत और शिव जी के इङ्गित और आशीर्वाद से अभिप्रेरित होकर राम की शरण में गया है। तुलसी के अन्य रामचरित काव्यों की अपेक्षा यह स्थल यहाँ विशिष्ट है।

गीतावली का लङ्काकाण्ड रामचरित मानस की अपेक्षा कहीं सूक्ष्म है। इसमें राम रावण के युद्ध का संकेत मात्र ही है। लक्ष्मण के शक्ति लगने से उनके मूर्छित हो जाने पर राम का शोक अबाध रूप में प्रस्फुटित हो उठा है। वस्तुतः लक्ष्मण का व्यक्तित्व ही ऐसा निस्पृह और निश्छल रहा है कि वह भाई के आदर्श के लिए कहीं भी रखा जा सकता है। उन्होंने अपने अग्रज की सेवा में कुछ उठा नहीं रखा। आज वह अपने कर्त्तव्य की सार्थकता के लिए अपने प्राणों को भी होमने के लिए प्रस्तुत हो गए हैं। वस्तुतः यह तथ्य राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम को भी विचलित करने में समर्थ है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥

सम्पूर्ण पद में 'करुण रस' छलछला रहा है। लक्ष्मण के वियोग के कारण 'शोक' स्थायीभाव को विभीषण की शरणागति परिस्थिति की विवशता उद्दीपन प्रदान करती है।

राम के गाढ़े समय में यदि किसी ने उनको आश्रय दिया तो उसका श्रेय हनुमान को है। आत्मबल की अभिप्रेरणा से उनका प्रमुख वीररस जाग्रत हो उठा है—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुंड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं सबहि को पापु बहावौं॥

तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेक बिलंब न लावौं ।
दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं ॥

वीररस का स्थायीभाव उत्साह सम्पूर्ण पद मे समाहित है। हनुमान आलम्बन विभाव म है।

अनन्तर लंकाकाण्ड मे रामचरित का परम्परागत स्वरूप ही विद्यमान मिलेगा। हाँ राम के अयोध्या आगमन की प्रतीक्षा मे कौशल्या की उत्सुकता और आकुलता अवश्य उल्लेखनीय है। वस्तुत उनकी वाणी मातृत्व और वात्सल्य से आप्लावित हो उठा है जो बड़ा ही मार्मिक है।

३ विनयपत्रिका

तुलसीदास का आत्म चरित—तुलसीदास का लौकिक जीवन जितना साधारण था उसके विपरीत उनके जीवन का उद्देश्य राम भक्ति और उनकी लीलाओ का गान उतना ही असाधारण और महान था जिसकी पूर्ति के लिए उन्होने विविध काव्य रचकर अपने कवि-कर्म को सार्थक किया। इस महदुद्देश्य के समक्ष शेष सभी नगण्य और हेय था इससे उनके जीवन-सम्बन्धी वृत्त भी उसमें प्रतिष्ठित न हो सके। यत्र-तत्र सांकेतिक रूप मे जो प्रस्फुटित भी हैं वह वस्तुत कहने की भावना से व्यक्त न होकर आराध्य के प्रति पूज्य दृष्टि निष्ठा और विनय के प्रसग में सघटित हो उठे है उन्ही को तुलसी के जीवन का अन्त-साक्ष्य कह सकते है। इस रूप में विनयपत्रिका में भी कवि के सम्बन्ध मे कुछ स्थल उपलब्ध है जिन पर यहाँ विचार करना पूर्ण समीचीन है।

वेणीमाधवदास और रघुबरदास ने तुलसीदास को सरयूपारी द्विवेदी ब्राह्मण माना है, उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था।[1] विनय पत्रिका मे माता-पिता के नाम का अवश्य संकेत नही है किन्तु 'सुकुल' में जन्म लेने का उल्लेख अवश्य उल्लेख्य किया है—

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि-मुरारि को।

—(विनयपत्रिका—१३५)

उपर्युक्त पंक्तियों में ब्राह्मण वश मे उनके जन्म लेने का प्रत्यक्ष प्रमाण समाहित है। यह वंश ही ऐसा है जिसमें अर्थ धर्म काम और मोक्ष चार फलों का विशेष ध्यान रखा गया है और शिव तथा कृष्ण के परम पद को प्राप्त किया जाता रहा है। कवितावली में भी उन्होने 'जायो कुल मगन' कहा है। जिससे उपयुक्त तथ्य प्रमाणित

---

१ श्री श्यामसुन्दरदास—गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ ९८
—(एकेडमी १९३१)

हो जाता है।

राम नाम के प्रताप और भक्ति के कारण सृष्टि-विधान के सम्बन्ध में तुलसी ने जननी जनक द्वारा त्यागने और ब्रह्मा द्वारा विधिवत् बनाने की बात भी प्रथम सम्बन्ध में कह डाली है। विधि देव दुर्विपाक के सम्बन्ध में उन्होंने जीवन के दारुण सर्पों को काट डाला है। राम नाम के कारण अभी ही वह जीवन में अलमस्त हो उठे हैं किन्तु विगत जीवन की कसक तो उनके मानस में प्रस्तुत थी ही। इसी से इस तथ्य का उद्घाटन एक विश्वास के साथ प्रस्तुत किया है—

जननी-जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ से कोउ-कोउ कहत रामहिं को, सो प्रसंग केहि केरे।
फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक-परलोकहिं सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम को एक गाँठि कइ फेरे॥

—(विनयपत्रिका २२७)

माता-पिता द्वारा त्याग जाने और बाल्य जीवन की करुण स्थितियों का दिग्दर्शन कवितावली[1] में भी चित्रित किया गया है। यह तथ्य वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं-चरित' से भी समर्थित है।

दैन्य सम्बन्धी भावना के सम्बन्ध में विनयपत्रिका में तुलसी को बार-बार कहने का अवकाश मिला है। वस्तुतः यह तथ्य ही ऐसा था जिसके बल पर वह अपने राम को अभिभूत करने में प्रवृत्त हैं। विनयपत्रिका के एकाध स्थल और देखिए—

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनी दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम कियो न संभाषन काहूँ॥
तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिताहूँ।
काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुइ सब छाहूँ॥

—(वही २७५)

---

1 मातु-पिता जग जाय तज्यो बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई॥
× × ×
बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को॥
× × ×
जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाए टूक सबके बिदित बात दुनी सो॥ —(कवितावली)

स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो ।
—(विनयपत्रिका १७२)

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो ?
राम रावरे बिन भये जन जनमि जनमि जग दुख दसहु दिसि पायो ॥
आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो ।
हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार बार परी न छार, मुँह बायो ॥
—(वही—२७६)

यद्यपि ये सब भावनाएँ राम की भक्ति की ओर ही उन्मुख हैं तथापि प्रसंगत: वह अपने जीवन की ओर भी दृष्टिपात करते चले हैं इसीसे उनके कुछ महत्वपूर्ण स्थल प्रकाश में आ गए हैं ।

राम का गुलाम होने के कारण लोगों ने तुलसीदास का 'रामबोला' नाम रख दिया है । लोग उन्हें नीच कहते हैं किन्तु उन्हें इसमें जरा भी लज्जा और संकोच का अनुभव नहीं होता है । वह अपने रामपरक ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते हैं और सच्चे मनोराज्य की अनुभूति करते हैं । वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार उनका एक नाम 'रामबोला' भी था । इसी तथ्य की सफल अभिव्यक्ति इस स्थल पर हो उठी है—

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं ।
रोटी-लूगा नीके राखै आगेहू की बेद भाखै
भलो ह्वैहै तेरो ताते आनँद लहत हौं ।
लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं ।
तुलसी अकाज-काज राम ही के रीझे-खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥
—(वही—७६)

उपर्युक्त भावना और भक्त-जीवन के सच्चे मनोराज्य की यह अभिव्यक्ति ही कवितावली में भी हुई है ।[1]

तुलसी ने भक्ति के वशीभूत हो सदैव राम-कृपा की याचना की है । यथा

---

१ धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारि न सोऊ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु कोऊ ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥
—(कवितावली)

वस्था के कारण उनकी इस सम्बन्ध की चिन्ता द्विगुणित हो उठी है। विनयपत्रिका की निम्न पंक्ति इसी तथ्य का सफल प्रस्फुटन करती है—

तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।

—(विनयपत्रिका २७१)

विनयपत्रिका में उपयुक्त कतिपय स्थलों से तुलसी के जीवन पर भक्तिकिञ्चित प्रकाश पड़ जाता है समग्र जीवन पर नहीं। वस्तुतः विनयपत्रिका में क्या अन्य काव्यों में भी उन्होंने अपनी जीवन-गाथा को प्रस्तुत करने का कभी उद्देश्य नहीं बनाया यदि बनाया होता तो काव्य व्यापक रूप से उठता किन्तु तुलसी-जीवन की रूप-रेखा तो स्पष्ट हो जाती। सच तो यह है कि तुलसी एक संकीर्ण हृदय लेकर नहीं जन्मे थे। इसी से वह अपने जीवन की कोई बात अधिकारपूर्वक कहते प्रतीत नहीं होते। उनकी यह भावना विनयपत्रिका में भी मार्य है। इसी से माता-पिता के त्याग राम बोला बाल्य-जीवन का नाम दैन्य दुःख आदि उनके जीवन की कुछ परिस्थितियाँ ही प्रकाश में आ सका है अन्यों के प्रकाश में आने का न अवकाश ही था और न औचित्य ही।

तुलसी की भक्ति

तुलसी के राम संसार में जड़-चेतन के एकमात्र स्वामी और पोषक हैं। इसीसे निष्ठा प्रसुप्त रखे हुए वह उनके प्रति पग-पग पर अपनी भक्ति भावना का नैवेद्य चढ़ा सके हैं जिसके सम्यक् प्रमाण भी उनके सभी काव्यों में उपलब्ध हैं किन्तु उसका जैसा सटीक और व्यापक रूप विनयपत्रिका में प्रस्फुटित है वैसा अवशिष्ट काव्यों में नहीं।

नारद भक्ति-सूत्र में गुणमहात्म्य रूप पूजा स्मरण दास्य सख्य कान्ता वात्सल्य आत्मनिवेदन तन्मयता परमविरह आदि ग्यारह रागानुगी भक्तियों का उल्लेख है। इन सभी में प्रभु के प्रति अनन्य भाव रखा जा सकता है किन्तु इनकी परिणति जिस सरलता और निष्कपटता से दास्यभक्ति में हो सकती है वैसी अन्यों में नहीं। भक्त भगवान रूप अपने आराध्य से अपने जीवन संसार, पाप पुण्य सत्कर्म दुष्कर्म आदि सभी के सम्बन्ध में कहने का सुख अनुभव करता है और उनकी कृपा तथा सहानुभूति को प्राप्त करने की सतत अभिलाषा रखता है। सच तो यह है कि इस भक्ति में मन के पाप मिटने-मिटाने की कठिनाई नहीं होती और साध्य सरलता से पूर्ण हो जाता है। इस वैशिष्टय के कारण ही रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इस भक्ति का प्रतिपादन किया था जिसके परम्परागत रूप को प्राप्त कर तुलसी ने अपने भक्त-जीवन को सार्थक किया।

'यों 'मानस' जैसे महाकाव्य में सैद्धान्तिक रूप से भक्ति का प्रतिपादन है और स्थल-स्थल पर कौशल्या भरत निषाद हनुमान शबरी आदि के जीवन में भी

उसकी परिणति हुई है किन्तु रामचरित की कथा के बीच में डूबती-उतराती प्रतीत होती है। इसके विपरीत विनयपत्रिका में प्रथम पद से लेकर अन्तिम पद तक उसका अविच्छिन्न स्रोत आप्लावित है और विनय के माध्यम से भक्ति की जितनी भी स्थितियाँ और वृत्तियाँ हो सकती हैं भक्त कवि तुलसी ने उन सभी को इसमें समेटने की पूर्ण चेष्टा की है।

तुलसी के राम अंधी होने के कारण व्यापक और पूज्य हैं। उनकी इन विभिन्न विभूतियों के कारण ही उन्होंने उनका भक्त होना स्वीकार किया है और चाहते हैं कि वह उनकी गणना भी अपने भक्तों के मध्य में कर लें—

सकल बिस्व-बंदित सकल-सुर सेवित
आगम-निगम कहें रावरेई गुन ग्राम।
इह जानि तुलसी तिहारो जन भयो
न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम॥

—(विनयपत्रिका ७७)

आराध्य की यह प्रतिष्ठा ही विनयपत्रिका के प्रत्येक पद में पिरोई हुई मिलती है। इस भावना के बल पर वह अज्ञानित प्रेम तो उनके श्री चरणों में अर्पित कर ही सके हैं किन्तु उनके आलम्बन स्वरूप उनके महत्व और अपने दैन्य को प्रकट करने का अवकाश भी उन्हें मिल गया है। फलतः इन दोनों स्वरूपों के विविध अनुभावों को ही हम विनयपत्रिका में पग-पग पर देखते हैं। तुलसी को अपने आराध्य में विश्वास और निष्ठा है—

राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मोसों कौन खोटो॥

—(विनयपत्रिका ७२)

× × ×

'तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी! तू पाप-पुंज हारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू हौं जीव तू है ठाकुर हौं चेरो।
तात-मात गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै॥

—(विनयपत्रिका ७६)

तुलसी का भक्त-हृदय इस स्थान पर अपने आराध्य के श्री चरण पकड़कर एक विश्वास के साथ बैठ गया है। लौकिक विचारों और पापपूर्ण वातावरण ने पग-पग

पर उनके मानस के साथ खेल खिलौनी जैसी । ममता ने उन्हें कहीं का न रखा । अपने ही कहे जाने वालों ने विश्वासघात किया दैवी शक्तियाँ भी उनके कल्याण के लिए तत्पर न हुई—इस प्रकार की चतुर्दिक निराशाओं में तुलसी जीवन-निर्माण की अपनी बाजी हार गये । इन निराश्रय और निरवलम्ब परिस्थितियों में ही उन्हें अपनी आत्मा के अन्तराल में आशा की ज्योति मिली, अपनी विवशता की दुहाई दी, साथ ही प्रभु और अपने मध्य के विविध नाते बनाकर 'सरन-मरन' के लिए अटूट प्रार्थना कर आत्मसमर्पण कर दिया ।

भक्ति के क्षेत्र में अपने आराध्य के समक्ष आत्मसमर्पण बड़ी बात होती है । सच तो यह है कि आत्म निष्कृति के लिये इससे श्रेष्ठ अन्य साधन ही नहीं है । अहंकार और मायिक स्वरूप स्वयमेव तिरोहित हो जाते हैं । अन्यथा भक्त तथा भक्ति जप योग तीर्थ आदि नियम हो बाह्य साधन स्वीकृत कर भी मन का द्वैत नहीं मिटता है । इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों के मध्य में ऐसी चौड़ी खाई बनी रहती है जिसका पाट सकना भक्त के लिए असंभव है ।

तुलसी ने अपने राम के समक्ष आत्मसमर्पण कर एक निष्ठा ग्रहण कर ली । फलतः वह सदैव के लिये आश्वस्त हो गये । उनका राम साधारण नहीं असाधारण है—

'जानकी जीवन जग-जीवन जगत हित
जगदीस रघुनाथ राजीवलोचन राम ।
सरद-बिधु-बदन सुख सील श्रीसदन
सहज सुन्दर तनु सोभा अगनित काम ॥

—(विनयपत्रिका ७७)

× × ×

सुनि सीता-पति-सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।
कहत राम बिधु-बदन रिसौहैं सपनहुँ लख्यो न काउ ॥

—(विनयपत्रिका १००)

× × ×

लोक-बेद हूँ बिदित बात सुनि-समुझि,
मोह-मोहित बिकल मति थिति न लहति ।
छोटे बड़े खोटे-खरे मोटेऊ दूबरे
राम ! रावरे निबाहे सबही की निबहति ॥
सतरंज को सो राज काठ को सबै समाज
महाराज बाजी रची प्रथम न हति ।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ,

बहु बेश बहु मुख लालसा कहति ॥
—(विनयपत्रिका २४६)

राम के ऐसे ही असाधारण और महत्तम स्वरूप को तुलसी ने अपनी भक्ति का आलम्बन माना है। वह शक्तिशील और सौन्दर्य से युक्त है। ये तत्त्व प्राथमिक रूप में विद्यमान होने के कारण वह अलौकिक और दिव्य हैं। उनके ऐसे अप्रतिम होने के कारण ही उनकी महत्ताओं का गान करने में तुलसी ने गौरव और आश्रय स्वरूप अपने अभावों पापों लौकिक विकारों आदि का उल्लेख कर सुख और सन्तोष की अनुभूति की है।

प्रभु के महत्त्व के समक्ष तुलसी अपने जीवन की ओर देखते हैं। उन्हें अपने दैन्य अभाव और लघुत्व आदि को दिखाने का साहस होता है। प्रभु के शक्ति शील और सौंदर्य की आभा में उन्हें अपने पाप महापाप और अपना जीवन महापापी अनुभव होता है। प्रभु के इस महत्त्व के प्रकाश में उन्हें पश्चात्ताप की प्रेरणा मिलती है। और वे एक-एक कर अपने पाप की गठरी खोलने लगते हैं—

'जानत हूँ निज पाप जलधि जिय जल सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर-अवगुन सुमेरु करि गुन गिरिसम रजते निदरौं॥
परगुन सुनत दाह पर दूषन सुनत हरख बहुतेरो।
आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो॥
—(विनयपत्रिका १४१)

त्रिगुणात्मक विश्व में इस प्रकार के विकार अन्यों में भी होना स्वाभाविक है। सम्भव है प्रभु इन्हें साधारण समझकर उनकी उपेक्षा कर दें। 'अतः' वह प्रभु को 'पतित पावन' समझकर अपने महापातकी स्वरूप को व्यक्त कर उठते हैं—

(१) माधव जू मो सम मन्द न कोऊ।
जद्यपि मीन-पतंग हीन मति मोहि नहिं पूजै ओऊ॥
× × ×
मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै।
—(विनयपत्रिका ९२)

(२) माधव मो समान जग नाहीं।
सब विधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं॥
—(विनयपत्रिका ११४)

× × ×

(३) जनम गयो बादिहिं बर बीति।
परमारथ पाले न परयो कछु अनुदिन अधिक अनीति
—(विनयपत्रिका २३४)

(४) ऐसेहि जनम समूह सिराने ।
प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥
—(विनयपत्रिका २३५)

(५) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिये सुनहु करुनामय मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो ॥
—(वही—२४५)

इस प्रकार के अन्य स्थलों को भी तुलसी के जीवन के साथ संगति बिठाकर यदि हम विचार करें तो वस्तुतः उनके साथ अन्याय और अविचार होगा । उनका भक्त हृदय अभी कुछ कह डालने के लिये आतुर है । जो सर्वव्यापक है क्या वह अन्तस्तल की जान न लेगा । इसी से संसार या जीवन का जो भी पाप हृदय में है उसके उन्मोचन में भी तुलसी को सुख की अनुभूति होती है । तुलसी की इस वृत्ति से प्रायश्चित तो हो ही रहा है किन्तु वह अपने कथन की उस सीमा पर पहुँचना चाहते हैं जहाँ वह अपने प्रभु से यह कहने का साहस कर सकें—

तुलसिदास प्रभु ! कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।

तुलसी की इस करुण दशा में तो प्रभु कृपा प्राप्त कर लेना कठिन न होगा । विश्वस्त होते हुए भी उनका मन व्यग्र हो उठता है । फिर प्रभु को उनके प्रभुत्व और महत्व का स्मरण दिलाते हैं—

मैं हरि पतित पावन सुने ।
मैं पतित तुम पतित पावन दोउ बानक बने ॥ —(वही—१६०)

इस भावना के साथ ही 'साहिब कछु औगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना' कहते हुए तुलसी साहसिक हो उठे हैं—

तौ कौं प्रभु जो न कहूँ कोउ होतो ।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन रहि जाँई ऐसो घरि को तो ।
—(वही—१६१)

जो न दूसरो कोउ होइ ।
तो हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावों रोइ ॥
× × ×
आपने कहु सौं लिय मोहि को ने पतितहि पियास ।
दास तुलसी धीरे विधि बनी करुन परिहरि बास ॥
—(विनयपत्रिका २१७)

कहे बिनु रह्यो न परत, कहे राम ! रस न रहत,
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो-खरो ।
काल की करम की दुसौंहति सहत ।
× × ×

मेरी तौ थोरी है सुधरैगी बिगरियौ बलि
राम ! रावरी सौं रही रावरी चहत ॥
—(विनयपत्रिका २२६)

तुलसी की यह स्पष्ट वादिता प्रभु के प्रति उनकी अनन्यता के कारण है। प्रभु के सामीप्य के बल पर उन्होंने अपने कहने के अधिकार का उपयोग किया है। ऐसी भावनाएँ यदि तुलसी के अहंकार और धृष्टता के अन्तर्गत मान ली जायँ तो यह भी उनके हृदय के साथ अन्याय होगा। पापों और विकारों के कारण सम्भव है उनके प्रभु उनसे घृणा करने लगे हों। इससे 'आपसे सौंपिये' कितनी मीठी चुटकी है। तुलसी अपना सुधार और कल्याण अपने माध्यम से न चाहकर प्रभु के माध्यम से चाहते हैं। अन्ततः उनकी बिगड़ी तो सुधरेगी ही किन्तु उनकी यह सब चाहना प्रभु के प्रभुत्व को सुरक्षित रखने के लिए है।

इस भक्ति भावना के बल पर तुलसी जीवन की उस निष्काम स्थिति पर पहुँच जाते हैं, जहाँ लौकिकता का पूर्ण ह्रास हो जाता है—

रहै परम पद परम बड़ाई।
नख सिख रुचिर बिन्दुमाधव छबि निरखहिं नयन अघाई।
× × ×
जहाँ न लगति संपति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
× × ×
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सौं होहिं सिमिटि इक ठाई ॥
—(विनयपत्रिका १ १)

तुलसी अपने राम से सुमति सद्बुद्धि धन-सम्पत्ति ऋद्धि सिद्धि और बड़ाई प्रदान करने की विनय नहीं करते उनकी उनसे इतनी ही प्रार्थना है कि उनके चरण कमलों में उनका अनन्य और निष्काम प्रेम बढ़ता रहे। इसके अतिरिक्त सांसारिक प्रेम विश्वास और सम्बन्ध को भी वह केवल राम में ही केन्द्रस्थ देखना चाहते हैं। वस्तुतः ऐसी निष्ठा और मनोकामना ही भक्त-जीवन का सर्वस्व है।

'विनयपत्रिका' में समाहित तुलसी की विनय-भावना क्रमिक रूप से राम के चरणों की ओर उन्मुख हुई है। अपनी अनन्य निष्ठा और विश्वास रखे हुए राम के समक्ष उन्होंने अपनी दीनता मानमर्षता भयदर्शना विचारणा भर्त्सना आश्वासन मनोराज्य आदि विनय की सातों भूमिकाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें उनके प्रति उनकी श्रद्धा पूर्णरूप से अभिव्यंजित है। भक्ति का यही रूप होता है जो तुलसी के द्वारा विनयपत्रिका में प्रस्फुटित हो उठा है।

दर्शन-तत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास रामानन्द की शिष्य-परम्परा के कवि थे, अतः विशिष्टाद्वैतदर्शन की प्राण-प्रतिष्ठा ही उनके काव्यों में हुई है। प्रसंगतः [illegible] अद्वैत और द्वैत के तत्त्व उनके काव्यों में भले ही उपलब्ध हों, किन्तु उनकी परिणति उक्त दर्शन में ही हुई है। फलस्वरूप उसी का पोषण और परिवर्धन उनके समग्र साहित्य में समाहित है।

विनयपत्रिका तुलसी का विनय काव्य है, जिसमें उनके सम्प्रदाय की भक्ति भावना, जो दास्यासक्ति पर आधारित है, साकार हो उठी है। इसके फलस्वरूप ही राम के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा और पूज्य भावनाओं का प्रस्फुटन भी हुआ है। भक्ति के अतिरिक्त जीव, माया आदि के सम्बन्ध में भी उनकी भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, किन्तु उन्होंने ब्रह्म (राम) की सर्वोपरिता को ही प्रतिपादित किया है। राम की यह सर्वोपरिता विशिष्टाद्वैत का प्रमुख तत्त्व है, इस नाते उनको राम के प्रति अपनी अनन्यता और आस्था स्थिर रखने में सुविधा हुई और इस क्रम में ही वह अपनी लघुता का सम्यक् विवरण प्रस्तुत कर सके हैं।

उपर्युक्त भावनाओं का विनयपत्रिका में कहाँ तक पोषण है, इसके लिए उनके विवेचन में प्रवेश करना आवश्यक है। इसके फलस्वरूप उनके दार्शनिक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

ब्रह्म

विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुसार विश्व में चित् (जीव, चेतन, आत्मा आदि), अचित् (जड़, प्रकृति, माया आदि) और ब्रह्म (ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, भगवान्, श्रीराम आदि) तीन नित्यात्मक तत्त्व हैं। चित् और अचित् व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य पदार्थ व्यापक में सन्निविष्ट रहता है, अतः चित् और अचित् दोनों की ही ब्रह्म में स्थिति है। अपने अपृथक्त्व के कारण ये दोनों तत्त्व विशेषण हैं और अपने अभेद स्वरूप के कारण ब्रह्म विशेष्य है। इन विशेषणों और अंगी होने के अद्वैत तत्त्व के कारण ही इस सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत नाम पड़ा।

ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसीलिए वह अपने को जगत् रूप में प्रकट कर विविध प्रकार की लीलाएँ किया करता है। अवतारवाद की इस भावना की विनयपत्रिका में पूर्ण प्रतिष्ठा है। तुलसी विनयपत्रिका—५२ पद में ब्रह्म के अवतारों के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा और राम में भगवान् स्वरूप की मान्यता अभिव्यक्त करते हैं—

कौसलाधीश जगदीश जगदेकहित अमितगुण विपुल विस्तार लीला।
गायन्ति तव चरित सुपवित्र श्रुति शेष-शुक-शंभु सनकादि मुनि मननशीला।

—(विनयपत्रिका ५२)

राम के माहात्म्य और ब्रह्मत्व का पूर्ण स्वरूप विनयपत्रिका की प्रारम्भिक स्तुतियों में विद्यमान है जिनमें गणेश सूर्य शिव देवी गंगा यमुना काशी हनुमान लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न सीता आदि की स्तुतियों में वह राम भक्ति और कृपा की अनन्य कामना करते हैं। इन सभी में राम की सर्वोपरिता स्वयंसिद्ध है। उसके इस ब्रह्मत्व से तुलसी स्वयं प्रभावित हैं इसी से उनके समर्थ और सर्वज्ञ रूप से अपने लिए कृपा की कामना करते हैं—

देव ! दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील-निधान सुजान-सिरोमनि सरनागत प्रिय प्रनत-पालु ।
को समरथ सरबग्य सकल प्रभु सिव-सनेह-मानस मरालु ।
को साहिब किये मीत प्रीतिबस खग निसिचर कपि भील भालु ।।
नाथ हाथ माया-प्रपंच सब जीव-दोष-गुन-करम-कालु ।
तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजिए निहालु ।।

—(विनयपत्रिका १५४)

ब्रह्म स्वामी और काल तथा माया उसके दास हैं इस तथ्य का प्रतिपादन ही 'नाथ हाथ माया-प्रपंच सब जीव-दोष-गुन-करम-कालु' से होता है। 'माया' और 'जीव' का यों अपना अस्तित्व भी है किन्तु ब्रह्म के समक्ष वे पंगु हैं और पूर्णरूप से उसी के आधीन हैं। इसमें अद्वैत का भाव तो है किन्तु आचार्य शंकर के समान यह 'ज्ञान' तत्त्व से आश्रित नहीं है इसमें कर्म और भक्ति के लिए पूर्ण अवकाश है। यह भावना ही निम्न पंक्तियों में तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत की गई है—

सिद्ध साधक साध्य वाच्य वाचक रूप मंत्र जापक जाप्य सृष्टि-स्रष्ट
परम कारन कंजनाभ जलदाभतनु सगुन निर्गुन सकल दृश्य द्रष्टा ।।

—(वही—५३)

ब्रह्म के उपर्युक्त गुणों के कारण ही माया और जीवात्मा उसी के आश्रय हैं। माया के प्राबल्य के कारण जीवात्मा को अज्ञानान्धकार घेर लेता है और मोह की फाँस जो उसके अन्तस्तल में पड़ जाती है उसे संसार में अत्यधिक भटकाती है। अन्त में हरि और गुरु की करुणा से ही उसकी निष्कृति होती है—

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटै ।
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक संसार-घोर निधि पार न पावै कोई ।।

—(वही—११५)

मोह-शृंखला से जीव को मुक्त करने का श्रेय यदि किसी को है तो ब्रह्म को ही है—

सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरे ।

तुलसिदास प्रभु मोह-सृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ।

—(विनयपत्रिका ११४)

जीव को बन्धन में डालने के सम्बन्ध में माया के विविध प्रकार के चित्र विनय पत्रिका में तुलसी द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं किन्तु उपर्युक्त के समान जीव-निष्कृति के साधन भी कवि द्वारा वर्णित किए गए हैं। इन सबके मूल में हरि-कृपा ही प्रमुख है—

कृपा डोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम-मृदु-चारो ।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥
हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि-केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥

— (विनयपत्रिका १ २)

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि जीव को 'मोह रजु' में बाँधने का श्रेय जिसको है उसी को श्रेय उसके मुक्त करने का भी है। इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता स्वयं सिद्ध है।

ब्रह्म की सृष्टि के सम्बन्ध में सम्प्रदायों के मध्य में विचारान्तर है। अद्वैतवादी शंकराचार्य के अनुयायी उसे असत्य द्वैत और विशिष्टाद्वैतवादी उसे सत्य तथा द्वैताद्वैतवादी भी निम्बार्काचार्य के अनुयायी उसे सत्यासत्य दोनों मानते हैं। यह तीनों सिद्धान्त क्रमशः ज्ञान कर्म और योग के हैं तुलसी साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और विचारों को भ्रममात्र मानकर वास्तविक तत्व को जानने और पहचानने के लिए केवल ब्रह्म की एक मात्र शरण में जाना ही पर्याप्त समझते हैं—

केसव कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय इहि तनु हेरे ।
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

—(वही—१११)

इस प्रकार तुलसी मतमतान्तरों से भी वहीं भागे जाना चाहते हैं यहाँ उनका प्यार्थी भाव भी दिखाई पड़ा है। सच तो यह है कि भक्त के लिए ब्रह्म की सत्ता ही पर्याप्त है उसी की यहाँ पर पूर्ण अभिव्यक्ति है।

जीव ईश्वर-अंश होने के कारण अविनाशी चेतन निर्मल और सुख की राशि

होता है किन्तु माया के आधीन हो जाने पर वही 'कीर' और 'मरकट' के समान बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार चेतन (जीव) और जड़ (माया) में गाँठ पड़ जाती है। यद्यपि यह गाँठ असत्य है किन्तु उसका खुल सकना कठिन है। माया के बन्धन से ही जीव संसारी बन गया। न उसकी गाँठ छूट पाती है और न वह सुखी हो पाता है। इस गाँठ के खुलने और माया के बन्धन से मुक्त होने का यदि कोई साधन है तो भगवान् की अनन्य निष्ठा और भक्ति। जीव माया के वशीभूत होकर विविध प्रकार से चालित और पीड़ित रहता है ब्रह्म जब चाहता है तब माया तिरोहित हो जाती है। उस समय जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति पर पहुँच जाता है अनन्तर उसे मुक्ति का पथ सुलभ हो जाता है।

कवि की ये विशिष्टाद्वैती परिस्थितियाँ ही विनयपत्रिका की पृष्ठ-भूमि में स्थित हैं। तुलसी ने माया के कारण जीव की परवशता सांसारिकता और अनन्तर इस बन्धन से मुक्त होने के लिए ब्रह्म की कृपा-कामना की अभिव्यक्तियाँ पग-पग पर प्रस्तुत की हैं—

नाचत ही निसि दिवस मर्यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन न स्वाँग कर्यो॥
कहि मुनतें सब होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसर्यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्यो॥

—(विनयपत्रिका ९१)

जीव की वस्तु-स्थिति का स्वाभाविक वर्णन इन पंक्तियों में है। जीव की संज्ञा प्राप्त करने के उपरान्त उसने आवागमन के चक्र में पड़कर विविध प्रकार के स्वाँग किये हैं। अब वह सतोगुणी भावनाओं से पूर्ण रिक्त है ऐसी स्थिति में वह भगवान् के द्वार पर किसी प्रकार पड़ा रहना चाहता है। ऊपर की भावना निम्न

---

१ ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परियाई। जदपि मृषा छूटति कठिनाई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

—(मानस—उत्तरकाण्ड)

पंक्तियों में भी विराजें हुई है—

> जिव जबतें हरितें बिलगान्यो । तब तें देह गेह निज जान्यो ।
> मायावस स्वरूप बिसरायो । तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो ॥
>
> —(विनयपत्रिका १३६)

जीव की स्थिति ब्रह्म और माया दोनों के आधीन है। ब्रह्म से विमुख होकर वह आवागमन के आधीन हो जाता है और भौतिक आकर्षण उसे अनेकानेक विविध प्रकार से नचाते हैं। यह बन्धन अविद्या के स्वरूप में माया ही है, जिससे जीव मोक्ष नहीं हो पाता है—

> पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत ।
>
> —(वही—१ १)
>
> परायीन देव दीन हौं स्वाधीन गुसाईं ।
> बोलनिहारे सों करै बलि बिनय कि झाईं ॥
> आपु देखि मोहि देखिये जन मानिय साँचो ।
> बड़ी ओट राम नाम की जेहि लई सो बाँचो ॥
>
> —(वही—१४१)

प्रत्येक स्थिति में जीव की निष्कृति ब्रह्म के ही आधीन है अन्यथा उसका भ्रम अधिकाधिक बढ़ता जाता है[1] और वह मायाजनिता में निमग्न होता जाता है। इन परिस्थितियों से मुक्त होने का यदि कोई साधन है तो भगवान की भक्ति और सन्तों की संगति ही है—

> तुलसीदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै ।
> रघुपति-भगति संत-संगति बिनु को भव त्रास नसावै ॥
>
> —(वही—१२१)

यह विशिष्टाद्वैती भावना है। भक्ति के साधन से ही भटका हुआ जीव माया से मुक्त होकर ब्रह्म के साथ अद्वैत हो जाता है। इसमें ब्रह्म के लिए समस्त भाव और निष्ठा सभी मुख्य हैं।

माया

माया ब्रह्म के आधीन वह तत्त्व है जो जीव को निरन्तर भ्रमित किए रहती है। उसका उन्मूलन तभी सम्भव है जब ब्रह्म की जीव पर कृपा होती है। उस समय उसका विवेक जागृत हो जाता है और अविद्या का नाश हो जाता है। तुलसी ने सांसारिक अविवेक और माया-मोह से पीड़ित तथा बाधित होकर ही विनय की पत्रिका श्रीराम के चरणों में अर्पित की है, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि राम-कृपा से

---

1 विनयपत्रिका पद ११६, १२० एवं १२१

ही जीव माया के बन्धन से उन्मुक्त हो सकता है—

तुलसी ने विनयपत्रिका में माया के प्रभाव को स्थल-स्थल पर वर्णित कर राम के समस्त कल्याण-कामना के लिए अवकाश प्राप्त कर लिया है। कहीं-कहीं जीव को समझाने के लिए वह उसके भ्रम और कष्टों का भी वर्णन करते हैं किन्तु उनके साथ वह राम-निष्ठा के महत्वभाव का उल्लेख करना कहीं भी नहीं भूला है—

जागु जागु, जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड्यो मृग-बारि खायो जेवरी को साँप रे॥
कहैं बेद-बुध तू तो बूझि मनमाहिं रे।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥

जीव का मृग-तृष्णा में डूबना और 'रस्सी के सर्प द्वारा डसा जाना'—ये दोनों भ्रमात्मक माया के ही लक्षण हैं इनसे मुक्ति केवल जीव के जागरण पर ही सम्भावित है।

माया के प्रभाव से शरीर के अंग-प्रत्यंग सभी मलीन हो जाते हैं—पर-स्त्रियों के देखने से नेत्र, विषयों के भोग से मन, मुख रूप स्व-स्वरूप के त्याग से, जीभ पर-निंदा से, कान दूसरों के दोष-कथन से, वचन मलीन हो गए हैं और राम-चरणों को भूल जाने से मल पीछे लगा फिरता है यह सब माया का प्रभाव है और जन्म-जन्मान्तर जीव के पीछे लगा हुआ है—उसके छूटने का यदि कोई अचूक साधन है तो वह है राम-चरण के प्रति अनुराग रूपी जल।

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
× × ×
तुलसिदास ब्रत-दान ग्यान-तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

—(विनयपत्रिका ८२)

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण इन्द्रियों ने जीव को जैसा भटकाया है वह भटका है इससे मन को कहीं भी विश्राम नहीं मिला है।[1] माया के प्रभाव से मन ऐसा मूर्ख हो गया है कि वह राम भक्ति-सुरसरिता के स्थान पर ओस-कण की आशा करता है और कुचाल चलता हुआ पछताए दुःख सहन करता है।[2]

माया के प्रभाव से देव, मनुज, मुनि, नाग आदि सभी प्रभावित हैं इससे

१ विनयपत्रिका पद ८८
२ विनयपत्रिका पद ९०

तुलसी उनके प्राप्य की कामना न करके ब्रह्म स्वरूप राम के आश्रय की ही अभिलाषा करते हैं—

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे॥
—(विनयपत्रिका १०१)

देव दनुज आदि की परवशता और असमर्थता के कारण ही तुलसी के मानस में राम के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा घर कर चुकी है। फलतः अपनी भक्ति भावना को अपना वह उन चरणों में आश्वस्त होकर बढ़ाते चले हैं। उन्हें विश्वास है कि राम-कृपा से जीव अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त कर सुख की अक्षय निधि का भोग कर सकता। विशिष्टाद्वैती में माया ब्रह्म के वैसे ही अधीन है जैसे जीव माया के। इससे माया के उन्मूलन के लिए ब्रह्म को प्रसन्न करना जीव का परम कर्तव्य हो जाता है। इसी से वह राम भक्ति की ओर उन्मुख है और माया के प्रभावों के कथन के साथ राम-कृपा की महत्ता को नहीं भूले हैं। इस तथ्य के कारण ही उनका भक्त-हृदय बड़ा सबल हो गया है।

भक्ति

संसार के मायिक बन्धनों से मुक्त होने और ईश्वरीय सामीप्य के लिए यदि विश्व में कोई सरल साधन है तो भक्ति है। यद्यपि ज्ञान से भी 'कैवल्य पद' सुलभ होता है किन्तु उसमें पतन का अधिक अवकाश है। उसकी अपेक्षा भक्ति अधिक सरल और सुग्राह्य है। भक्ति में भक्त 'कैवल्य पद' कामना नहीं करता किन्तु वह बलात् उसके समीप आता है। इसके अतिरिक्त उसका विवेक सर्वदा जागृत रहता है। मोह, लोभ और अविद्या आदि उसे जीवन की किसी स्थिति में बाधित नहीं कर पाती है।[1] भक्ति की इस महत्ता को तुलसी का भावुक हृदय भली प्रकार समझा

---

१ ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

× ×

राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह-दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
—(रामचरितमानस—उत्तरकाण्ड)

था। इसी से विनयपत्रिका में राम की कृपा के लिए वह विविध प्रकार से अनुनय विनय करते हैं। इसकी महत्ता समझकर तुलसी राम-नाम के अतिरिक्त अन्यत्र प्रवृत्त होना नहीं चाहते। निम्न पंक्तियों में तुलसी के भक्त-हृदय का सच्चा मनोराज्य है—

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।
राम कृपा भव-निसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं॥
पायउँ नाम चारु चिंतामनि उर कर तें न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

—(विनयपत्रिका १०५)

इस अनन्यता के फलस्वरूप ही वह राम-कथा के अतिरिक्त अपने कानों से दूसरी बात सुनना, जिह्वा से दूसरी चर्चा करना, नेत्रों से अन्य को देखना और दूसरे के समक्ष अपने मस्तक को झुकाना नहीं चाहते हैं—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥
उपजति और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥
नातो-नेह नाथ सों करि सब नातो-नेह बहैहौं।

—(वही—१०४)

तुलसी राम के चरणों में अविचल अनुराग के अतिरिक्त 'सुगति', 'सुमति', 'संपति', 'ऋद्धि', 'सिद्धि', बड़ाई आदि किसी की कामना नहीं करते और सांसारिक धर्मों को केवल राम में ही केन्द्रित कर देना चाहते हैं—

कहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाई॥

—(वही—१०३)

राम भक्ति साधु-संगति के ही आश्रित है।[1] जब राम भक्त पर द्रवित हो जाते हैं तब साधु-संग [illegible] लगने लगती है, सुख-दुःख समान प्रतीत होने लगते हैं [illegible] आदि सरलता से पलायन कर जाते हैं।

है। सो [illegible] न काहू पाई॥
राम [illegible] मम मिहमा॥
—उत्तरकाण्ड)

रघुपति भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोकभय हारी।
बिनु सतसंग भगति न होई। ते तब मिलै द्रवै जब सोई॥

उपर्युक्त कतिपय स्थलों की भावना से यह स्पष्ट है कि तुलसी का मानस भक्ति के गौरव को भली प्रकार समझ चुका था। यद्यपि भक्ति के लिए किसी मर्यादा की आवश्यकता नहीं है, किन्तु तुलसी की विनयपत्रिका में भावना की पूर्ण मर्यादा प्रतिष्ठित है। अपने संपूर्ण आचरण से वह राम की भक्ति के समीप पहुँचना चाहते हैं। इसी से क्रमिक रूप से उनकी भक्ति बढ़ती गई है और अन्त में राम के द्वारा विनयपत्रिका के 'सही' होने पर उनकी भक्ति की मान्यता सिद्ध हो गई है।

तुलसीदास विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय के अनुयायी अवश्य थे, किन्तु उनका दर्शन कहीं भी तार्किक नहीं है। वह दार्शनिक की अपेक्षा महाकवि और महाकवि की अपेक्षा भक्त अधिक हैं। इसी से दास्यासक्ति की भक्ति में उनकी भावनाएँ सिद्ध हैं।

रस-तत्त्व—रस-निष्पत्ति का मूलाधार आलम्बन के प्रति हमारी स्थायी भावना है। उसके प्रति जिस हृदय में प्रेम, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, विस्मय और निर्वेद आदि अंकुरित होते हैं वह आश्रय कहलाता है। स्थायीभाव को उद्दीप्त करने वाले विभावों को उद्दीपन कहा जाता है। उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बनगत और (२) बाह्य। आलम्बन को लक्ष्य कर आश्रय की जो चेष्टाएँ, वाणी आदि प्रस्फुटित होती हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये अनुभाव सात्त्विक और कायिक होते हैं। संचारी या व्यभिचारी भाव रस-परिपाक में सहायक होते हैं। ये घटित और विनष्ट होते रहते हैं। स्थायीभावों के आधार पर प्रायः हमारे काव्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त नौ रसों की मान्यता है। रस की कोटि में आजकल वात्सल्य और भक्ति इन दो रसों की और गणना की जाती है। भक्ति में आराध्य के प्रति रति होने के कारण वह शृंगार और शान्त में समा जाती है, किन्तु कालान्तर में शृंगार का भाव दाम्पत्य रति में लिया जाने लगा। इससे उसकी अलग व्यवस्था ही समीचीन जँचती है।

राम, कृष्ण या किसी आराध्य के प्रति पाँच प्रकार की रति (भक्ति) होती है—(१) शान्ति (२) प्रीति (३) प्रेम (४) अनुकम्पा (५) कान्ता आदि। इन्हें क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव (शृंगार) के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु के उपर्युक्त विभाग की अपेक्षा 'नारद भक्ति-सूत्र' में भक्ति रति की और भी विशद व्याख्या है। उसमें इस रति के ग्यारह भेद किए गए हैं—

(१) गुणमाहात्म्यासक्ति (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति (४) स्मरणा

सक्ति (५) दास्यासक्ति (६) सख्यासक्ति (७) कान्तासक्ति (८) वात्सल्यासक्ति (९) आत्मनिवेदनासक्ति (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परम विरहासक्ति।

उपर्युक्त आसक्तियों पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो गुणमाहा समय (सम) हास्य सख्य कान्त और वात्सल्य ही प्रमुख सिद्ध होती हैं शेष रूप पूजा स्मरण आत्मनिवेदन तन्मयता और परम विरह आदि वे आसक्तियाँ हैं जो प्रत्येक भक्त में अपने आराध्य के लिए होती ही हैं।

तुलसी-गीति-काव्य में रस निरूपण के लिए अभीष्ट होने से पूर्व इस तथ्य से अवगत हो लेना चाहिए कि तुलसी और सूर महाकवि की अपेक्षा भक्त पहले हैं। यह तत्त्व उनमें बड़ा सबल है। प्रत्येक काव्य में यह तत्त्व प्रमुख रूपेण प्रतिपादित किया गया है। यदि सूर की भक्ति का भ्रमरगीत में उत्कर्ष है तो तुलसी की विनयपत्रिका में तुलसी की भक्ति का उत्कर्ष। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में ऐसे निमग्न हुए हैं कि आज भी वे भावुक भक्तों और सहृदय साहित्यिकों को मुग्ध किए हैं। तुलसी के गीति-काव्यों के विवेचन में यह कहा जा चुका है कि विनयपत्रिका में ही भक्ति-तत्त्व नहीं है किन्तु श्री कृष्णगीतावली और गीतावली में भी यह पूर्णरूप से विद्यमान है।

शृङ्गार रस—तुलसी ने अपने गीति-काव्यों में कृष्ण और राम को नायक चुना है। दोनों चरित-नायक विष्णु के अवतार हैं। तुलसी मर्यादावादी कवि थे। इससे भी उनके प्रति उनकी पूज्य भावना रही है। इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य है कि भक्ति काल तक हिन्दी-काव्य में आचार्य भरत की प्रतिपादित रस-पद्धति का प्रयोग हुआ है जिससे शृंगार प्रस्फुटित न हो सका जैसा मम्मट और विश्वनाथ की पद्धति के अनुगमन में रीतिकाल के कविता की रचनाओं में हुआ। इससे कृष्ण और राम के सम्बन्ध में तुलसी का शृंगार विदग्धता की सीमा तक नहीं पहुँचा है।

शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्ष हैं। प्रथम नायक की उपस्थिति और साक्षात्कार में और द्वितीय उसके प्रवास-गमन पर अनुपस्थिति में प्रतिष्ठित होता है। कृष्ण के जीवन की एक स्थिति (१२ वर्ष) तक पूर्ण संयोग है जिसमें कृष्ण गोकुल में रहकर राधा और गोपियों के माधुर्य के विषय रहे हैं। दोनों पक्षों ने एक दूसरे को अपनी प्रेम-माधुरी से छकाने का प्रयत्न किया है। अनन्तर कृष्ण के मथुरा और फिर वहाँ से द्वारिका चले जाने पर गोपियों के पक्ष में सोलहों आना वियोग आ उपस्थित हुआ है। राम के जीवन में शृंगार को दोनों पक्षों की ऐसी क्रम-बद्धता नहीं है। राम के बाल-जीवन की सहचारियों का जो अपने स्वच्छन्द प्रेम से उनको रिझाती यदि तुलसी ने व्यवस्था की होती तब सम्भव था कि वियोग पक्ष में उनकी विरह-विदग्ध वाणी प्रस्फुटित होती किन्तु मर्यादा-पोषण में वह ऐसा नहीं कर सके। इससे राम चरित हैं में संयोग-वियोग के यत्र-तत्र स्थल ही उपलब्ध होते।

संयोग

श्री कृष्णगीतावली—कृष्ण जब शिशु थे तभी अपने अलौकिक स्वरूप के

कारण आकर्षण के विषय थे, किन्तु जब माता की गोद छोड़कर वह इधर-उधर भ्रमण करने लगे तब तो नित्य ही गोपियाँ उनके सम्बन्ध में उपालम्भ लाने लगीं। इन उपालम्भों के उत्तर में कृष्ण की बचन विदग्धता के साथ गोपियों का उनके प्रति प्रेम भी अभिवृद्धि पर है—

सो कहँ छूटहुँ बोल बनावहिं ।
मैया तुम्हहिं बानि पर घर की। नाना जुगुति बनावहिं ॥
इन्ह के लिए खेलिबो छाँड्यो। तऊ न उबरन पावहिं ॥
भाजन फोरि बोरि कर गोरस। देन उरहनो आवहिं ॥
कबहुँक बाल रोवाइ पानि गहि मिस करि उठि उठि धावहिं ।
करहिं आपु सिर धरहिं आन के बचन बिरंचि हरावहिं ॥

× × ×

अबहु उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई ।
सुनु मैया ! तेरी सौं करौं, याको टेव लरन की ।
सकुच बेंच सी खाई ॥

×

जौ लौं हौं कान्ह रहौं गुन गोए,
तौ लौं तुमहिं पत्यात लोग सब ।
सुनि सभीत साँचु सो रोए
गरजति कहा तरजनिहु तरजति ।
बरजत सैन नैन के कोए
तुलसी मुदित मातु सुत गति लखि ।
बिथकी है ग्वालिनि मन मन मोए ॥

इन सब परिस्थितियों में गोपियों के आकर्षण बिन्दु कृष्ण थे। कृष्ण स्वभावतः रूपसी थे किन्तु सब दोष उन्हीं का नहीं था। गोपियों का हृदय मनमोहन कृष्ण के समक्ष परास्त था, इसी से वे घर पर बैठी नहीं रह सकती थीं। घर पर आकर उपालम्भ भी देती हैं और अपने मन के संकेत से उनके विरुद्ध मुख से माता से शिकायत भी करती हैं। प्रेम से परास्त व विवश थीं। इनमें कृष्ण आलम्बन और गोपियाँ आश्रय हैं। रति स्थायीभाव के कारण अन्तिम गीत में गोपियों का अपना तर्जनी अँगुली से डाँटना और नैना के संकेत से मना करना आदि अनुभाव हैं और उनका चकित होना संचारीभाव है। सूरसागर के समान यों कृष्णगीतावली में यद्यपि विविध परिस्थितियों का प्रस्तुतीकरण नहीं हो सका है। फिर भी गोपियों के उपालम्भ, अनुराग-बन्धन, यमुना तट पर बंशी-वादन आदि में गोपियों के रति के संयोग पक्ष का स्पष्टीकरण हो जाता है।

वियोग

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोप गोपियों आदि सभी के लिए वियोग की स्थिति घटित हो गई थी। वह ब्रज के रहे जीवन में उल्लास और अनुराग था अब उनके बिना विरह विदग्ध हो वह रुदन करती अपने जीवन को कोसती है। सरसता के विनाश के कारण जीवन में नीरसता का साम्राज्य उपस्थित हो गया था—

जब ते ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब ते बिरह रबि उदित एकरस सखि! बिछुरन बृष पाई॥
घटत न तेज चलत नाहिन रथ रह्यो उर नभ पर छाई।
इन्द्रिय रूप रासि सोचहिं सुठि सुधि सब की बिसराई॥
भयो सोक भय कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।
चित चकोर मन मोर कुमुद मुद सकल बिकल अधिकाई॥
तनु तड़ाग बल बारि सूखन लाग्यो परि कुरूपता काई।
प्रान मीन दिन दीन दूबरे दसा दुसह अब आई॥
तुलसीदास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भादौं बिनु जिय की जरनि न जाई॥

तुलसीदास ने विरह का वृष राशि के सूर्य के साथ साथ रूपक प्रस्तुत कर गोपियों की दुःख दशा का वर्णन प्रस्तुत किया है। विरह रूपी प्रचण्ड सूर्य स्थिर होकर हृदय रूपी आकाश पर छा रहा है। शोक रूपी चकवा भय रूपी कमल तथा भ्रम रूपी भ्रमर आदि अधिक सुखी हैं और चित्त रूपी चकोर मन रूपी मयूर और मोह रूपी कुमुद अत्यन्त व्याकुल हैं। शरीर रूपी सरोवर का बल रूपी जल सूखने लगा है उस पर कुरूपता रूपी काई पड़ गई प्राण रूपी मछलियाँ दुर्बल हो गईं। मन के मनोरथ रूपी हिरण भी ताप से मर रहे हैं। इस दयनीय स्थिति में वे बलराम और घनश्याम रूपी सावन भाद्रपद की कामना करती हैं क्योंकि उनके बिना हृदय की जलन शान्त न होगी।

सम्पूर्ण पद में वियोग की स्थितियाँ दृष्टव्य हैं। बलराम और कृष्ण आलम्बन हैं और गोपियाँ आश्रय। इन्द्रियों का सबकी सुधि भुलाकर उनका स्मरण न करना शोक भय और भ्रम की अभिवृद्धि होना चित्त मन और मोह का व्याकुल होना शरीर के बल का सूखना प्राण का दुर्बल होना मनोरथों का तड़पना आदि अनुभाव हैं। इस प्रकार वियोग शृंगार सभी प्रकार पुष्ट है।

अपनी इस विरह-दशा में उन्होंने नेत्रों और मन के लिए भी मधुर उक्तियाँ कही हैं जो मार्मिक हैं—

बिछुरत श्री ब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई।
उड़ि न गए हरि संग सहज तजि ह्वै न गए सखि स्याम मई॥

× × ×

नहिं कछु दोष स्याम को माई
जो दुख मैं पायो सजनी सब ।
सो तो सबै मन की चतुराई
निज हित लागि तबहिं ए बंचक ।
सब भाँतिन अति प्रीति बढ़ाई
अब कहत जात सबन सुनि मधुबन
तजहिं तजन नहिं बार लगाई ।

वियोग के शृंगार में सम्भवतः ही तुलसीदास ने भी भ्रमरगीत की योजना की है। उद्धव के द्वारा ज्ञानयोग के ही सन्देश रखने से ये उपालम्भ भी कृष्णगीतावली में भ्रमरगीत प्रारम्भ हुए हैं। उद्धव के ज्ञानात्मक सन्देश से खिन्न गोपियाँ कुछ इसलिए नहीं नाराज हुई हैं कि यदि उन्होंने कृष्ण के साथ उनके संयोग काल के आनन्द विलास देखे होते तो उन्हें दोष देना ठीक भी था। उद्धव अपना पाण्डित्य के सौभाग्य का क्या मान? इसमें वह जो कहता है वह सब व्यर्थ ही उचित है—

मधुकर ! कहहु कहन जो पारौ ।
नाहिन अपराध रावरो सकुचि साध जनि मारौ ॥
नहिं तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल बिनोद निहारौ ।
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो ताते डेल सो डारौ ॥
तुलसी जो न गए प्रीतम सँग प्रान त्यागि तनु न्यारो ।
तो सहिबो देखिबो घनेरो अब कहा करम सों हारौ ॥

गोपियाँ अपने उपालम्भ में कृष्ण को भी नहीं छोड़ती हैं। उनका व्यंग्य भी बड़ी मार्मिक है। एक स्थल का व्यंग्य देखिए—

सखी कही आनो तुमहु पहिचान
हरि निर्गुन निर्लेप निरंजन ।
निपट निठुर निज काज सयान ॥
ब्रज को बिरह, अरु संग महर को
कुबरिहिं बरत न नेकु लजान ॥
समुझि सो प्रीति की रीति स्याम की
सोई बावरि जो परेखो उर आन ॥

वह निर्गुण निर्लेप निर्दय स्वार्थी सभी है। एक ओर तो ब्रजवासियों का विरह और यशोदा के वात्सल्य की उपेक्षा और दूसरी ओर कुब्जा का वरण करने की धृष्टता। उनके प्रेम का यही स्पष्ट प्रमाण है। इस कथन में वियोग की मधुर व्यंजना ही हुई है। सम्पूर्ण भ्रमरगीत में आलम्बन कृष्ण हैं और गोपियाँ आश्रय हैं। स्थल-स्थल पर विरह-दशा में विशिष्ट हो जाने से यदि किसी ने आश्रय लिया है तो सेवकों में ही। इसमें स्थल-स्थल उनके सम्बन्ध में मधुर व्यंजना प्रस्फुटित की गई है—

पावक बिरह समीर स्वास
तनु तूल मिले तुम जारनिहारे।
तिन्हहि निदरि अपने हित कारन
राखत नयन निपुन रखवारे॥

संयोग और वियोग दोनों अवसरों के स्थलों पर दृष्टिपात करने से हम उनमें अविच्छेद्य तारतम्य पाते हैं। संयोग में जितने हास, परिहास विनोद आनन्द आदि की अनुभूतियों से गोपियाँ प्रसन्न और आह्लादित हैं। वियोग में दुःख, रदन स्मृति आदि उनको उतना ही मर्माहत किए हैं। यह अवश्य सत्य है कि इन दोनों अवसरों पर जो भाव-धारा सूर की प्रस्फुटित हुई है उस उच्च कोटि में तो तुलसी की भाव धारा नहीं आती है किन्तु परिस्थितियों के दिग्दर्शन कराने में वह पूर्ण सफल हुए हैं यह सत्य है।

गीतावली

संयोग (शृंगार)—शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त राम अपनी लीलाएँ करते हुए जहाँ भी पहुँचे हैं नर-नारी और पशु-पक्षी सभी ही उनके दिव्य सौन्दर्य पर मुग्ध हुए हैं। बालकाण्ड म सीता-स्वयंवर और विवाह के अवसरों पर सीता के अतिरिक्त जनकपुर की नारियाँ अयोध्याकाण्ड में उनके वन-पथ में होने पर ग्रामीण वधुएँ, उत्तर काण्ड में राम के नख शिख के सौन्दर्य पर अयोध्या के नर-नारी तथा अरण्यकाण्ड में राम के पंचवटी में आवास पर पशुपक्षी सभी ही उनको देखकर मुग्ध और आनन्दित हैं।

माधुर्य भाव के प्राधान्य होने पर भी गीतावली के इन उपयुक्त स्थलों का शृंगार मर्यादापरक ही रहा है। श्री कृष्ण के सौन्दर्य पर मतवाली होकर गोपियाँ जिस प्रकार लोक-जीवन संकोच और पारिवारिक मर्यादा को तिलांजलि देकर अपना आचरण प्रदर्शित करती हैं वैसा आचरण राम के उपर्युक्त स्थलों की नारियाँ नहीं करती हैं। राम स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम है उसी प्रकार ये नारियाँ भी मर्यादा में निमग्न हैं। फलस्वरूप तुलसी का उपर्युक्त स्थलों का शृंगार भी शिष्ट और वरिष्ट है—

छुकि चारवती चकि भाय भरि परिकै।
सजल सुलोचन सिथिल तनु पुलकित॥
आवै न बचन मन रहो प्रेम भरिकै।
अंतरजामिनि भवभामिनि स्वामिनी सों हों॥
कही चाहौं बात, मंत रो हौं लरिकै।
मूरति कृपाल मंजु माल दे बोलत भई॥
पूजो मन कामना भावतो बर बरिकै।
राम काम तब पाई बलि ज्यों बीछी मनाइ॥
गीम-कोरिक कोटि-गोटि पीति-पूति परिकै।

सखीमी कहीमी सब लोचो कही सबा सिय ॥
गहे पाँय द्वै जनाय आप हाथ जोरिकै।
मुदित असीस सुनि सीस नाइ पुनि पुनि ॥
बिदा भई देवी सों जननि उर डरिकै।
हरषी सहेली भयो भावतो गावती गीत
गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै ॥

उपर्युक्त पद में सीता की अपनी मन भावनी इच्छा के कह सकने के पूर्व ही राम को वर-रूप में प्राप्त करने की शुभाशीष गौरी प्रदान कर देती है इसमें वह उनके दोनों चरणों को ग्रहण कर लेती है। इससे व्यक्त है कि वह राम के सौन्दर्य पर रीझ चुकी थी। सीता के समान राम भी उनके अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध थे यह 'गवनी भवन तुलसीस हियो हरिकै' से व्यक्त है। सम्पूर्ण पद में स्थायीभाव 'रति' का प्रभाव विद्यमान है। राम और सीता एक दूसरे के लिए आलम्बन और आश्रय दोनों हैं।

राम के सौन्दर्य की मुग्धता के चित्रण ही पद गीतावली में विद्यमान हैं। जनकपुरी की एक सखी का कथन देखिए—

नेकु सुमुखि चित लाइ चितौ री
राजकुँवर-मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि श्रम कियो है कितो री।
नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितो री
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन कमल कल-कलस रितो री।
मेरे जान इन्हें बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतो री
तुलसी प्रभु भंजिहै संभु धनु भूरिभाग सिय मातु-पितो री ॥

उपर्युक्त में राम आलम्बन हैं। निम्न पद में राम और सीता दोनों आलम्बन हैं और सखियाँ आश्रय हैं—

सुनहु राम सीय सुमही री
घन दामिनि बर बरन हरन मन सुन्दरता नख सिख निबही, री।
ओपत उभय-साहु-लोचन-फल है इतनोइ लह्यो आजु लहो री
अस्पह त्रिभुवन-भवन बिभूषन सरित सबनीं सरित कवि सो रही री।
सुषमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है द,है, री
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहुँ मही री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री ॥
रूप रासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही री ॥

राम सीता के सौन्दर्य की अनुभूति में सात्विक अनुभाव विद्यमान है।

राम-सीता-लक्ष्मण के वन-गमन पर ग्रामीण वधुएँ उन्हें देखकर उनकी रूप माधुरी पर मुग्ध हैं—

मनोहरता के मानो ऐन ।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ सुमुखि निरखि भरि नैन ।।
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति उपमा कहुँ कोउ है न ।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनि-बेष बनाए हैं मैन ।।
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित बित लैन ।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन ।।
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावन ग्राम बधुन्ह के बैन ।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँबे किए प्रेम कनौड़े कैन ।।

तुलसी ने अपने आराध्य के प्रभुत्व को अन्तिम पंक्ति में वर्णित किया है वह वस्तुतः अपने भक्ति भावना के कारण विवश हो उठे हैं किन्तु मूल में ग्रामीण वधुएँ ही उन पर मोहित हैं जिसके प्रभाव से रूपक उत्प्रेक्षा और सन्देह अलंकारों के माध्यम से उनके रूप का पान करने में वे प्रवृत्त हैं ।

उत्तरकाण्ड में भी संयोग शृंगार के इसी प्रकार के अपूर्व स्थल हैं जिनमें राम के व्यक्तित्व का वैभव शक्ति और शील के गुणों से युक्त विशेष मनमोहक हो उठा है—

आजु रघुबीर-छबि जात नहिं कछु कही ।
सुभग सिंहासनासीन सीतारमन भुवन अभिराम बहु काम सोभा सही ।
× × ×
देखो राघव-बदन बिराजत चारु ।
जात न बरनि बिलोकत ही सुख, मुख किधौं छबि बर नारि सिंगारु ।।

इन सब पदों में राम के नख-शिख-सौंदर्य का सम्यक उल्लेख हो उठा है । उपर्युक्त स्थलों में हमने देखा है कि राम का रूप या उनके साथ लक्ष्मण और सीता का लावण्य मानव जाति को ही मुग्ध करने वाला रहा है किन्तु राम चराचर के स्वामी लोक-रक्षक और लोक रंजक हैं । उनके प्रति पशु-पक्षियों में भी 'रति' भाव रहा है । राम के वन-गमन में मोर कोकिल चकोर तथा पशु-पक्षी भी उन पर मोहित हैं । उपर्युक्त के समान इस पद में भी राम ही आलम्बन और पशु-पक्षी आश्रय हैं । पक्षियों का उनके सौंदर्य को देखकर बोल उठना ही अनुभाव है—

देखे राम-पथिक नाचत मुदित मोर ।
मानत मनहु सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टंकोर ।।
कँपै कलाप बर बरहि फिरावत, गावत कल कोकिल किसोर ।
जहँ जहँ प्रभु बिचरत तहँ तहँ सुख दण्डकबन कौतुक न थोर ।।

उपर्युक्त सभी स्थलों में राम के दर्शन-मात्र से ही संयोग शृंगार की व्यवस्था है । आलम्बन और आश्रय दोनों के संयोग के अनन्तर यदि उद्दीपन विभाव से 'रति' उद्दीप्त हुई होती तो व्यभिचारी भाव भी उत्पन्न और तिरोहित होते । राम और

सीता के जीवन में ही ऐसे अवसर न थे जो पति-पत्नी का माधुर्य भाव अधिक गहरा हो जाता फिर अन्य स्थलों पर वैसे होने की कैसे आशा की जा सकती है ? इस स्थिति के मूल में तुलसी की मर्यादा की भावना ही काम कर रही है।

विशेष वियोग शृंगार का पुष्ट स्वरूप सुन्दरकाण्ड में सीता के चरित्र में विद्यमान है। रावण के द्वारा हर लाए जाने पर जब अशोक-वन में वह रखी जाती है तब राम के वियोग में वह शोकाकुल है। राम के संकेत पर हनुमान के सीता के समीप पहुँचने पर वह आश्वस्त अवश्य हो उठती है किन्तु उनके वियोग के दुख का बाँध भी टूट उठता है—

तात तोहिं सों कहत होति हिय गलानि।
मन को प्रथम पन समुझि आपुन तनु, लखि यह गति भइ अति गलानि॥
पिय को बचन परिहर्‌यो जिय के भरोसे संग चली बन बड़ो लाभ जानि।
प्रीतम-बिरह तौ सनेह सरबस सुत औसर को चूकिबो सरिस न हानि॥
आरज सुवन के तौ दया दुवनहु पर मोहि सोच मोतें सब बिधि नसानि।
आपनी भलाई भलो कियो नाथ सबही को मेरे ही हित सब बिसरि बानि॥

इस पद में सीता की 'रति' आलम्बन राम के प्रति है। 'मन को प्रथम पन' (पति के बिना जीवित न रहूँगी) और राम के वचनों का उल्लंघन उद्दीपन विभाव है। अपने आचरण और नवीन परिस्थितियों से भी उनका जीवन असुरक्षित है। इसे छोड़कर उनका वियोग अतिवृद्धि पर है। उनका विरह जनित कष्ट पत विशिष्ट होता इसकी करुण जिज्ञासा वह हनुमान के समक्ष प्रस्तुत करती हुई अपने मानस के स्वरूप का उल्लेख करती है—

कहु कपि! कब रघुनाथ कृपा करि हरिहैं निज वियोग-संभव दुख।

× × ×

बिरह-अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछु सक।
अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहि तक॥
सुठि हि त्रास उपजावति सुनहु सुत! राखति प्रान बिचारि दहन मत।
कनक रूप सीता बिलास-सुख सुमिरति करति रहति अंतरगत॥
सुनु हनुमंत! अनंत-बंधु करुना सुभाव सीतल कोमल अति।
तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौ प्रगट कहिहु न सकत॥

सीता के वियोग में मर्यादा और भारतीय नारी की संकोच भावना विद्यमान है। अपने सम्पूर्ण दुखों को जो उन्होंने सहे हैं यदि वह कहे तो राम को व्यथा होगी वस्तुतः इस भय से अपने विरह जनित दुखों का उल्लेख वह छिपा से गई है।

कबहुँ कपि! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे।

इन शब्दों में कितनी करुण व्यथा समाहित है। मर्यादा पुरुषोत्तम की पत्नी होकर

निशाचर की बन्दिनी बनी अपने दुर्भाग्य को सोचकर उनका मर्माहत रहना स्वाभाविक है। अपनी उस स्थिति में हनुमान के चलने पर राम को सन्देश कहने की इच्छा हुई किन्तु प्रियतम के मानस स्वभाव को जानकर मूक होकर रह गई—

कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयननि छायो॥
कहन चह्यो संदेस नहिं कह्यो पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥

हनुमान जब राम के समीप पहुँचे उन्होंने सीता की खोज की चर्चा के साथ उनकी विरह निमग्ना स्थिति का भी करुण विवरण प्रस्तुत कर दिया—

रघुकुल तिलक ! वियोग तिहारे।
मैं देखी जब जानकी मनहु विरह-मूरति मन मारे॥
× × ×
अतिहि अधिक बरसन की आरति।
राम-वियोग असोक-विटप तर सीय निमेष कलप सम टारति॥

इन परिस्थितियों के साथ उन्होंने सीता की उस दशा का भी वर्णन किया है। जिसमें उनके नेत्र चित्र के समान थे हाथ-पैर जड़ हुए से जान पड़ते थे तथा कान भरे हुए थे जिससे पुकारने पर भी नहीं सुन पाती थी। वह जिह्वा से राम का नाम रटती रहती है हाथ अधिक देर तक मस्तक पर ही रखा रहता है तथा नेत्र सर्वदा अपने चरणों की ओर ही देखते रहते है। सीता का इससे भी अधिक करुण चित्र हनुमान ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है—

तुम्हरे विरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु राम करुनानिधि ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न॥
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन कोन।
'हा' धुनि खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन॥
× × ×
तुलसिदास प्रभु दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति-दौन॥

सीता की यह विरह-स्थिति बड़ी ही मर्मान्तक और क्लिष्ट है। नेत्र-आँसुओं से आप्लावित रहने हा और विरह-ज्वाला जिसे दग्ध किए दे रही हो वह 'हा' की ध्वनि भी प्रस्फुटित न कर सके। वस्तुतः उनकी कितनी करुण स्थिति रही होगी।

सीता की इन दशाओं को सुनकर राम भी कम मर्माहत नहीं हुए। शरीर प्रेम से पुलकित होकर शिथिल हो गया नेत्रों में अश्रु छलछला आए, चाहा कि सीता की कुशल पूछें किन्तु वाणी ही न फूट सकी विवशता थी। फलतः सेना को सजाकर चलने के लिए लक्ष्मण और सुग्रीव को संकेत कर दिया।

सीता के मर्यादित चरित्र का ऐसा अनुपम चित्र हिन्दी-काव्य में कहीं उपलब्ध नहीं है। उनके स्वरूप, आचरण और भावना में भारतीय ललना का आदर्श विद्यमान है। सूर की राधा प्रारम्भ में कृष्ण के साथ जितनी चपल और प्रगल्भ है उतनी ही गम्भीर वह कृष्ण के विरह में हो उठी है। निस्सन्देह उनके इस स्वरूप में भी भारतीय नारी का आदर्श समाहित है, किन्तु उनकी गम्भीरता की परिणति कृष्ण का रुक्मणी से विवाह कर लेना और उनका द्वारिकाधीश हो जाना इन तथ्यों पर भी आधारित हो सकती है। सच तो यह है कि राधा का सम्पूर्ण चित्र सीता की मर्यादित भावनाओं के समक्ष स्थिर नहीं रह सकता। वह अपने क्षेत्र में अद्वितीय है।

अन्य स्थलों पर भी विशेष शृंगार कवि द्वारा मार्मिक भावनाओं के साथ चित्रित किया गया है। ग्रामीण वधुएँ जिन्होंने राम-सीता-लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखा था उनके लौटने का ध्यान करती हैं—

पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल-गौर सहज सुंदर सखि! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ।

× × ×

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गए जो पथिक गोरे-साँवरे सलोने।
सखि! संग नारि सुकुमारि रही।।

उनके अप्रतिम सौन्दर्य को स्मरण करके एक वधू आकुल है। उसे अन्य कुछ अच्छा ही नहीं लगता—

सखि! जबते सीता समेत देखे दोउ भाई।
तबते परे न कल कछू न सोहाई।।
नख सिख नीके नीके निरखि निकाई।
तन सुधि गई मन अनत न जाई।।

सीता के वियोग की अनुभूति से राम भी आकुल हुए हैं। इसका उत्तम चित्र किष्किन्धाकाण्ड में विद्यमान है। जब सुग्रीव ने सीता के वस्त्र और आभूषण उनके समक्ष प्रस्तुत किए थे तो राम का शरीर पुलकित हो उठा, उनके नेत्रों में जल भर आया। सीता के शील-स्नेह और गुणों को कहने में संकोच है किन्तु हृदय उनके स्मरण से उमड़ उठा है। राम की मर्यादा यहाँ भी उस अनिमन रूप से विद्यमान है—

भूषन बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम बिबस मन कंप पुलक तनु नीरज नयन नीर भरे पिय के।।
सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत सील-सनेह-सगुन-गन तिय के।
स्वामि दसा लखि लखन सखा कपि पिघले हैं आँच माठ मानो घिय के।।

उपर्युक्त स्थलों पर दृष्टिपात करने से यह पूर्ण स्पष्ट है कि शृंगार के दोनों पक्षों में मर्यादा और सुराग समान भाव से उपस्थित रहे हैं। मध्यकाल के सम्पूर्ण

काव्य में मर्यादा का ऐसा स्वरूप तुलसीदास के काव्यों में ही उपलब्ध है फिर भी यह सन्तोष है कि उनके चित्र पूर्ण सुस्पष्ट और आदर्शपूर्ण हैं।

हास्य—'विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्'—हास्य रस का प्रादुर्भाव विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि पर निर्भर है। इसका स्थायीभाव हास होता है। हास्य के स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित छः भेद माने जाते हैं।

तुलसी के तीनों गीति-काव्यों में हास का प्रायः अभाव है। गीतावली में दो स्थल हैं जो हास्य रस की अनुभूति देते हैं। दोनों में राम के व्यक्तित्व के माहात्म्य को लेकर हास्य की व्यवस्था की गई है। राम के चरण-कमलों की रज से शापित अहिल्या ने शिला से नारी रूप प्राप्त कर लिया है। इसी तथ्य पर 'हास' स्थायीभाव की स्थापना है। राम की चरण-रज के प्रभाव से एक मुनि-पत्नी का कथन है—

परसि पद-पंकज ऋषि-रवनी।
भई है प्रकट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन-छवि-छवनी॥
देखि बड़ो आचरज पुलकि तनु कहति मुदित मुनि भवनी।
जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी॥

इसमें अन्तिम पंक्ति में 'हास' है जहाँ मुनि-पत्नी का यह भाव है कि यदि राम पैदल चलते हैं तो सम्पूर्ण शिलाएं 'नारी' का रूप धारण कर लेंगी। इसी स्थल का 'कवितावली' का हास्य और भी अधिक शिष्ट है।

राम के इसी प्रभाव को लेकर विश्वामित्र जी ने राजा जनक से परिहास किया है—

सिलासोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह
गुन पेखे पारस के पंकरुह पायके।
राम के प्रसाद गुर गौतम खसम भए,
रावरेहु सतानन्द पूत भए माय के॥
—(गीतावली बालकाण्ड ६७)

अहल्या के रमणी-जीवन से गौतम सपत्नीक हुए और पुरोहित शतानन्द अपनी माता के पुत्र हुए। दोनों स्थल ही शिष्ट हैं। अन्तिम स्थल में 'खसम' शब्द ग्रामीण है इससे कुछ अपरता अवश्य है। दोनों स्थलों में सभ्य समाज का हास्य है। प्रथम को 'स्मित' और द्वितीय को 'हसित' हास्य के अन्तर्गत रखना उचित होगा।

करुण—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायीभाव शोक है और विनष्ट व्यक्ति आलम्बन विभाव में होता है। दाहकर्म उद्दीपन, प्रारब्ध की निन्दा, रोदन, विवर्णता, निश्वास आदि अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, जड़ता, उन्माद आदि व्यभिचारी होते हैं।

गीतावली के अयोध्याकाण्ड में दशरथ के निधन तथा लंकाकाण्ड में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर राम का विलाप है। इन सभी स्थलों पर शोक स्थायीभाव विद्यमान है।

सोचै बिधुबदन बिलोकत सोच।
राम लखन मेरी यहै भट बलि जाउ कहौं मोहि मिलि लोच॥
सुनि पितु-बचन चरन गहे रघुपति भूप अंक भरि लीन्हे।
अजहुँ अवनि बिदरत दरार मिस सो अवसर सुधि कीन्हे॥
पुनि सिर नाइ गवन कियो प्रभु मुरछित भए न जान्यो।
करम चोर नृप-पथिक मारि मानो राम रतन लै भाग्यो॥

यदि राजा का निधन न हुआ होता तो ये पंक्तियाँ विप्रलम्भ वात्सल्य के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित हुई होतीं क्योंकि उस दशा में राम-लखन की उपलब्धि की आशा रहती। राम-वियोग में उनकी मृत्यु निश्चित है। इस कारण राम की वियोग-व्यथा के आघात को वह सहन न कर सके और मूर्छित हो गए। राम राजा के समक्ष को जानते थे अतः अन्तिम प्रणाम कर वह अपने कर्तव्य-पथ पर प्रवृत्त हो गए।

सुमंत के लौट आने पर वह उनसे राम की कुशल भी न जान सके। विधाता ने संकोचवश उन्हें मूक ही रखा जिस मुख से वन का आदेश दिया उसी से कुशल पूछना पितृ-पक्ष में अत्याचार और निर्लज्जता ही सिद्ध करता। फलतः

हा रघुपति कहि परयो अवनि जनु जल ते मीन बिलगायो।

यहाँ विकल राजा का पश्चात्ताप यदि समाप्त नहीं हो जाता है। उन्हें विश्वास है कि निधनानन्तर भी उनका मानसिक क्लेश विनष्ट न होगा। इसी कारण वह सुमन्त्र को मृत्यु का अमृत पिला देने के लिए कहते हैं—

सुनहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ।
नारिबस न बिचारि कीन्हो काज सोचत राउ॥
सुनि सुमंत ! कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पिआउ॥

लंकाकांड में मेघनाद की शक्ति के प्रहार से लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम अपने धैर्य को न रोक सके। लक्ष्मण-सा भाई जिसने भ्रातृ-स्नेह से आकर्षित हो परिवार का, पत्नी का तथा राज्य का सुख त्याग दिया और आज राम को उस संकट में छोड़कर जा रहा था अपनी इहलीला समाप्त कर रहा हो, शोचनीय है ही। राम शोक के आवेग को न रोक सके उनकी अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी—

राम-लखन उर लाय लए हैं।
भरे नीर राजीव नयन सब अंग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु-मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक सखा भगति भायप-गुन चाहत अब अथए हैं॥

लक्ष्मण की मूर्छा में उनके निधन को देखकर राम ने अपनी परिस्थिति का अनुमान लगा लिया था। उनके समक्ष कोई ऐसा न था जिस पर वह आश्वस्त और विश्वस्त होते। इसी से लक्ष्मण के लिए उनकी निम्न विचार-धाराएँ प्रस्फुटित हो उठी हैं—

मो पै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लखन सो भाई॥
पुर पितु मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई॥

× × ×

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु, सुग्रीव! साँचेहु मो पर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन सो भ्राता॥

इन सभी स्थलों पर 'शोक' का स्थायीभाव विद्यमान है। लक्ष्मण आलम्बन और राम आश्रय है। लक्ष्मण की भायप-भक्ति और विधाता का प्रतिकूल होना उद्दीपन विभाव है। नेत्रों में अश्रु भर आना अनुभाव है।

वीर

गीतावली—वीर चार प्रकार के होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर, युद्धवीर आदि।

उपर्युक्त सभी प्रकार के वीरों में युद्धवीर के स्वरूप का स्पष्ट प्रस्फुटन नहीं हो सका है। गीतावली में राम रावण का युद्ध ही नहीं हुआ है। इससे राम के युद्धवीर का संकेत मात्र है—'रिपु रन जीति अनुज संग सोभित' इत्यादि। जटायु को रावण से अवश्य युद्ध करना पड़ा है। जब वह सीता को हरण कर लिए जा रहा है—

फिरत न बारहिं बार प्रचार्यो।
चपरि चोंच चंगुल हय हति रथ खंड-खंड करि डार्यो॥
बिरथ बिकल कियो छीनि लीन्हि सिय घन घायनि अकुलान्यो।
तब असि काढ़ि काटि पर पाँवर लै प्रभु-प्रिया परान्यो।

इसमें स्थायीभाव 'उत्साह' है और जटायु आलम्बन है। रस के अन्य तत्वों (उद्दीपन विभाव अनुभाव और व्यभिचारी विभाव) का अभाव है। हनुमान के रावण के साथ संकट में तथा लक्ष्मण की मूर्छा में संजीवनी बूटी लाने के लिए प्रस्थान करने के लिए कहने पर स्थायीभाव उत्साह का अच्छा प्रस्फुटन है।

दया वीर, दान वीर और धर्मवीर के रूप राम की लीलाओं में समाहित हैं।

राक्षसों की प्रबलता के कारण पीड़ित समाज और पतित धर्म का अभ्युत्थान करने पर मर्यादा देना उनके जीवन का लक्ष्य था। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त धर्म-पथ पर निरन्तर अग्रसर रहे। अहिल्या के उद्धार, शबरी से भेंट तथा सुग्रीव और विभीषण को मित्र बनाकर और शरणागत की भावना द्वारा रक्षित करने के भाव में यदि दया है तो विभीषण को लंका का राज्य प्रदान करने में उनकी अप्रतिम दान वीरता भी थी।

कृष्णगीतावली—इन्द्र के कोप करने पर कृष्ण ने व्रजवासियों की रक्षा के लिए गोवर्धन-धारण किया था। उनके इस कृत्य की पृष्ठभूमि में स्थायीभाव उत्साह विद्यमान है। अपने गोकुल में रहने तक उन्होंने व्रज की रक्षा के निमित्त जो भी कृत्य किए, उन सभी में उनका धर्मवीर और दयावीर का रूप छिपा हुआ है—

ब्रज पर घन घमंड करि आए
अति अपमान बिचारि आपनो कोपि सुरेस पठाए ।
दमकति दुसह दसहुँ दिसि दामिनि भयो तम गगन गँभीर ।
गरजत घोर बारिधर धावत प्रेरित प्रबल समीर ।।
सुनि हँसि उठ्यो नंद को नाहरु लियो कर कूधर उठाइ ।
तुलसिदास मघवा अपनो सो करि गयो गर्व गवाँइ ।।

कृष्ण के इस स्वरूप में उत्साह का स्थायीभाव विद्यमान है। इसी के अनुसार वह तत्कालीन संकट को विनष्ट करने में समर्थ हो सके थे।

रौद्र रस—इस रस का स्थायीभाव क्रोध है और आलम्बन शत्रु, विपक्षी या धृष्ट व्यक्ति रहा करता है। उसके लिए अपराध ही उद्दीपन विभाव में होते हैं, आश्रय के नेत्रों का लाल-लाल होना, होंठ फड़कना अनुभाव, अमर्ष, मद, उग्रता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। गीतावली में निम्न स्थलों पर रौद्र रस विद्यमान है—

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो री ?
'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री ।।

इसी प्रकार अंगद ने भी रावण का अपमान किया है—

सुनु सठ ! मैं तोहि बहुत समुझायो ।
एतो मान सठ ! भयो मोहबस जानतहू चाहत बिष खायो ।।

इन सभी स्थलों पर रौद्र रस की निष्पत्ति हुई है।

वात्सल्य रस—इस रस का स्थायीभाव वात्सल्य स्नेह, आलम्बन पुत्र, उद्दीपन विभाव पुत्र की चेष्टाएँ, अनुभाव आलिंगन, सिर चूमना, देखना, आनन्दाश्रु आदि, व्यभिचारी अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि होते हैं।

श्री कृष्णगीतावली के प्रारम्भिक २० गीतों और गीतावली में बालकाण्ड के प्रथम ४९ गीतों में वात्सल्य रस व्यंजित है। श्री कृष्ण, माता यशोदा के वात्सल्य

के पदों के मध्य में कृष्ण और गोपियों की परस्पर नोक-झोंक चलती रही है। केवल प्रथम और द्वितीय दो पद ऐसे हैं जो गोपियों के उपालम्भ से मुक्त रह सके हैं। शेष में उनके उपालम्भों के साथ यशोदा का वात्सल्य पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता रहा है। इन सभी पदों में कृष्ण आलम्बन रहे हैं।

> ले उछंग गोविंद मुख बार बार निरखै।
> पुलकित तनु आनंदघन छन छन मन हरखै॥
> सुत्तर मधु मोहि देखाउ इच्छा अति मोरे।
> मम समान पुन्य पुंज बालक नहिं तोरे॥

दूसरे पद में रोटी को लेकर कृष्ण और यशोदा का वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है जो पूर्ण अभिनयात्मक है—

> छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू।
> दै री मैया।' 'लै कन्हैया' सो कब ?' 'अबहिं तात।'
> 'सिगरियै हौंही खैहौं बलदाऊ को न दैहौं।'
> "सो क्यों ?' 'भटू तैरो कहा" कहि इत उत जात॥

गोपियों के उपालम्भों की स्थिति में यशोदा का हृदय सदैव कृष्ण के प्रति ममत्वपूर्ण रहा है। गोपियों से वह स्पष्ट कहती हैं—

> कबहूँ न जात पराये धामहि।
> खेलत ही देखौं निज आँगन सदा सहित बलरामहि॥

गोपियों के उपालम्भ प्रयत्न करने पर भी जब कम नहीं हुए यशोदा ने एक मनोवैज्ञानिक युक्ति सोच निकाली। उन्हें विवाह का प्रलोभन दे दिया कुछ प्रभाव तो पड़ा किन्तु वह यशोदा और गोपियों के परिहास के भी साधन बन गए—

> छाँड़ो मेरे ललन ! ललित लरिकाई।
> ऐहैं सुत ! देखुवार कालि तरे,
> बबै ब्याह की बात चलाई।
> डरिहैं सासु ससुर चोरी सुनि
> हँसिहैं नई दुलहिया सुहाई॥

बुढ़ौती अवस्था में कृष्ण जैसे पुत्र को प्राप्त कर यशोदा का मानस वात्सल्य से छलकता ही रहा है। यों गोपियों के उपालम्भ पर उनका उलूखल बन्धन भी हुआ यशोदा ने उन्हें दण्डित भी किया किन्तु क्या उन परिस्थितियों में उनका हृदय कृष्ण के लिए अकुलाया न होगा अवश्य ही उन्हें व्यथा की अनुभूति हुई होगी किन्तु वह वैसा करने के लिए विवश थी। वहाँ उनकी कठोरता में भी वात्सल्य की कोमलता छिपी है।

गीतावली में अपने अन्य काव्यों की अपेक्षा तुलसी ने राम के बाल-जीवन के चित्रण को प्रमुखता दी है। सूर द्वारा चित्रित अभिनयात्मक कृष्ण का बाल-चरित

और उसमें समाहित वात्सल्य भाव अवश्य ही प्रचार और प्रसार पा चुका था किन्तु तुलसी उससे प्रभावित नहीं हुए हैं। इसके कारण है—राम का मर्यादा पुरुषोत्तम का स्वरूप और तुलसी की दास्य भक्ति भावना। किन्तु उस मर्यादात्मक गम्भीरता में भी राम तथा अन्य भाइयों के प्रति वात्सल्य का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है।

छोटिये लालन पालन हौं झुलावौं।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥
बाल विनोद मोद मंजुलमनि किलकनि खानि खुलावौं।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं॥

स्थायीभाव पुत्र-प्रेम है, राम आलम्बन हैं। उनके कर पद मुख और चख का सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है और शेष सम्पूर्ण पद अनुभावों का प्रस्फुटन करता है।

सोइये लाल लाडिले रघुराई।
मगन मोद लिये गोद सुमित्रा बार-बार बलि जाई॥
× × ×
ललन लोने लेरुआ बलि मैया।
सुख सोइये नींद बेरिया भई चारु चरित चार्यो भैया॥

इन पदों की भाव-धारा से स्पष्ट है कि चारों भाई तीनों माताओं को समान प्रिय और स्नेही थे। इसलिए सभी का माताओं से वात्सल्य प्राप्त करते रहना स्वाभाविक था। सभी पुत्रों का पालन में खेलते निरखकर माताएँ प्रसन्न हो उठती थीं।

छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चार्यो भाई।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लोने
लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥

इस प्रकार गीतावली के इन पदों में वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक हो रहा है।

भक्ति रस—तुलसी भक्त प्रथम हैं। उनके कवित्व के प्रत्येक तथ्य का पूर्ण भक्ति के अनन्तर ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। रत्नावली की प्रेरणा से उन्होंने राम से अपना सम्बन्ध सर्वप्रथम जोड़ा है, अनन्तर सियाराम या सम्पूर्ण जगत की भावना में परिवर्तित हो उठा है। इस तथ्य के आधार पर ही 'सियाराममय सब जग जानी' कह उठने लगे थे और उन्होंने अपना राम के सत् स्वरूप का आत्म-जीवन में स्वीकार कर आनन्द की अनुभूति कर रही थी। इस तथ्य का प्रमाण अन्य काव्यों के अतिरिक्त उनके गीति काव्यों में भी उपलब्ध है।

कृष्ण के चरित्र में तुलसी ने माधुर्य भक्ति और राम के चरित्र में मर्यादा परक दास्य भक्ति का पालन किया है, किन्तु दोनों अवतारों के प्रति उनका पूर्ण

श्रद्धा निष्ठा और पूज्य भावना रही है।

तुलसी के दोनों आराध्यों ने नारायण होकर भी नर के रूप में मथुरा और अयोध्या में जन्म लिया था। वे दोनों लोक रंजन और लोक रक्षण के लिए विविध प्रकार की चारित्रिक लीलाएँ कर रहे हैं। इस तथ्य को उन्होंने कहीं भी विस्मृत नहीं कर दिया है। फलतः उनके चरित्र-गान में उन्होंने सदैव अपनी भक्ति-परक पूज्य भावना उनको अर्पित की है। श्री कृष्णगीतावली और गीतावली के पदों के अन्त में प्रायः अपनी इस भक्त-शैली का वह निर्वाह करते चले हैं। विनयपत्रिका में तो इस भावना का स्रोत उसके प्रत्येक पद में प्रवाहित हो उठा है जो अपनी मधुर सरसता और विनीत भावना से सभी को आकर्षित कर लेता है। अब उनके भक्ति-तत्व का उनके काव्यों में विचार कर लेना उचित है।

श्री कृष्णगीतावली—इस काव्य में यत्र-तत्र तो भक्त कवि की आस्था विद्यमान है ही किन्तु अन्तिम दो पदों में कृष्ण के भक्त-मर्यादा रक्षण का भाव भी तुलसी द्वारा पुष्ट किया गया है जिसमें समाहित प्रेरणा से कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है।

द्रौपदी सोचती है कि भले ही वह जुए में हारी हुई हो किन्तु शूरवीर पाँचों पतियों और भीष्मपितामह द्रोणाचार्य आदि के समक्ष वह सुरक्षित ही रहेगी। उसका वह विश्वास और आशा निराशा में परिणत हो गई जब दुःशासन ने उसको नग्न करने के लिए क्रोध के साथ अपने दोनों हाथों से उसकी साड़ी पकड़ ली उस समय अशरण शरण गोलोक-विहारी ने उसकी रक्षा की—

अपननि को अपनो बिलोकि बल
सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाइ अनाथनाथ सों
पाहि पाहि प्रभु! पाहि पुकारी।
तुलसी परखि प्रतीति प्रीति गति
आरतपाल कृपालु मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेषि लखि
बिरदावलि मूरति नर नारी॥

भगवान के इस प्रकार के लोक-रक्षक रूप से ही भक्त आश्वस्त और विश्वस्त होता है। जन-मात्र इन लीलाओं में अपने संकटों और आपत्तियों के समाधानों की अनुभूति कर आस्थाशील हो जाता है। इसी से श्री कृष्णगीतावली के अन्तिम पद में तुलसी भी कृष्ण से भक्ति-पथ पर चलने का आशीष चाहते हैं।

जग जुग जुग जाके जेसव के
समन कलेस कुसाज कुसाजी।
तुलसी को न होइ सुन कीरति

कटन कपाल भगति पथ राजो ॥

इन दो तथा अन्य पदों में श्री कृष्ण के प्रति रामानुगी भक्ति का प्रस्फुटन किया गया है।

गीतावली—रामानुगी भक्ति का स्वरूप गीतावली में भी पूर्णरूप से विद्यमान है। यों स्थल-स्थल पर राम के शक्ति-शील-सौन्दर्य के स्वरूप मानव मात्र को प्रभावित किए हैं किन्तु जटायु से भेंट शबरी से भेंट तथा विभीषण शरणागति आदि स्थलों पर भक्ति का स्वरूप प्रतिपादित होता है। ये सभी अपनी भक्ति भावना के कारण भक्तों के प्रतीक है।

रावण के द्वारा क्षत-विक्षत किए हुए पक्षिराज जटायु जब मरणासन्न थे उन्हें सीता की सुधि राम को न दे सकने के कारण अतीव आकुलता थी किन्तु सौभाग्य से उसी समय राम आ पहुँचे उन्होंने जटायु को गोद में लेकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया। राम ने उनसे शरीर रखने के लिए कहा किन्तु उन्होंने भक्ति भावना से भरकर इस प्रकार कहा—

तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहिं कहाँ पुनि पैहौं ॥

शबरी के जीवन में भी भक्ति रस का अबाध प्रवाह बहता है। उसकी प्रतीक्षा आतिथ्य और वाणी में राम के लिए अनन्य निष्ठा विद्यमान है। राम भी भाव के भूखे हैं। फलतः वह उसके आतिथ्य का सुख उपलब्ध करने पहुँच ही जाते हैं। राम के आगमन से पूर्व की उसकी भाव-स्थिति बड़ी मार्मिक है—

प्राननाथ पाहुने ऐहैं राम-लखन मेरे आजु।
जानत जन-जिय की मृदु चित राम गरीब निवाजु ॥
मृदु चित गरीब निवाज आजु बिराजिहैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि संकर-गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै ॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बानो पतित पावन पाइकै।
दुहु ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै ॥

भक्ति-रस में निमग्न भक्त के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति इस प्रकार की भावधारा व्यक्त करने में सार्थकता ही क्या समझेगा ? वह अपने लोक-परलोक के लिए एकमात्र आराध्य का ही आश्रय लेकर बैठ जाता है। आराध्य के प्रति उसकी तन्मयता एक-निष्ठा और प्रेम-तत्व उस-गुण रसत है। वह सर्वत्र मनोराज्य में विचरण कर उठता है। विभीषण भी जीवन की कठिन परिस्थितियों में राम-शरण में पहुँचा है तथा उसे सम्यक् आश्वासन और संरक्षण मिला। इसी से राम-माहात्म्य में वह गा उठा है—

साहिब भजिय कोन बियो।
जो रघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो ॥

विनयपत्रिका—तुलसी के काव्यों में भक्ति रस का चरम उत्कर्ष विनयपत्रिका

में हुआ है वैसा अन्य किसी काव्य में नहीं। इस सम्बन्ध में यह हिंदी के शैव साहित्य में भी प्रथम श्रेणी प्राप्त करती है। राम के प्रति अनन्य अनुराग और उनकी कृपा कौशल की कामना या याचना आदि से अन्त तक पदों में पिरोई हुई मिलेगी। तुलसी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक ७० पदों में देवी देवताओं तीर्थ-स्थानों पवित्र नदियों (गंगा और यमुना) राम के पार्षदों और बिन्दुमाधव आदि की स्तुतियाँ और वन्दनाएँ की हैं। अनन्तर अन्तिम पद तक उन्होंने अपनी विनय भावना राम के चरणों तक पहुँचाने की चेष्टा की है।

संसार के काम क्रोध मद लोभ तथा विविध प्रकार के लौकिक विकार, जो जीव-मात्र को पतित और भ्रमित कर देते हैं ऐसे भव-रोग हैं जिन पर विजय प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन है। प्राणी धर्म कर्म तथा अन्य लोकाचार करता है किन्तु उनमें आत्मानन्द के अभाव के कारण उसका कुछ हित नहीं हो पाता। इस कारण जीवन-पर्यन्त वह भटकता है और अपने निष्कृति के पथ पर नहीं लग पाता है।

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥
मायावस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो॥

जीवन के इस कटु सत्य को समझकर ही तुलसीदास ने राम के प्रति अनन्य अनुराग की ओर संकेत किया है—

संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग राम पद प्रेम-हीन नहिं जाई॥

भव-रोग के विनाश के उपचार स्वरूप ही 'राम-पद-प्रेम' विनयपत्रिका की भक्ति का स्थायीभाव है जो काव्य के अन्तिम पद तक प्रवाहित रहा है।

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है।

तुलसी यही तो चाहते थे। यहीं पर आकर उनकी विनय भावना विश्राम ले उठी है। तुलसी ने शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त राम को अपना आराध्य माना है। जिनकी लीलाएँ संसार के कल्याण के लिए ही हुई हैं तथा जिन्होंने नर-रूप में अवतार लेकर लोक धर्म लोक रंजन और लोक रक्षण का महत्तम आदर्श मानवमात्र के समक्ष प्रस्तुत किया—

सील-सील-धाम-गुन-मंदिर सुन्दर परम उदारहिं।
रंजन संत अखिल अघ-गंजन भंजन विषय बिकारहिं॥

ऐसे विशिष्ट राम और उनके दया दाक्षिण्य ही इस काव्य के आलम्बन हैं। *तुलसी ने अपने आराध्य के महत्त्व और शील-परिमा को विविध प्रकार से कहने* की चेष्टा की है। राम-गुण गान के साथ ही वह अपना लघुत्व और पतित भाव का निरन्तर उल्लेख करते गए हैं। इस प्रकार भक्त भगवान की भावना का सापेक्ष स्वरूप सम्पूर्ण हो उठा है जिसमें भक्ति के सम्पूर्ण भाव स्वभावतः समुन्मिलित हो उठे हैं।

राम सो बड़ो है कौन कौन मोसो छोटो।
राम सो खरो है कौन कौन मोसो खोटो॥

× × ×

कहाँ न परत बिनु कहे न रह्यो परत
बड़ो सुख कहत बड़े सों बलि दीनता।
प्रभु की बड़ाई बड़ी आपनी छोटाई छोटी
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता॥

राम के समक्ष प्रस्तुत किये हुए इस आत्म निवेदन और सम्बोधन में साहित्य के सभी संचारीभाव स्वतः ही प्रतिष्ठित हो उठे हैं।

सकुचत हौं अति राम कृपानिधि! क्यों करि विनय सुनावौं।
सकल धरम विपरीत करत केहि भाँति नाथ मन भावौं॥

इस पद में व्रीडा (लज्जा) और निम्न पद में ग्लानि संचारीभाव है—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम भगति-सुरसरिता आस करत ओस कन की॥

विविध स्तुतियों में तुलसी ने अपनी रति और भक्ति को अनन्य रखने की प्रेरणा प्राप्त की है। सम्पूर्ण देव, राम-सखा व पार्षद, तीर्थ-स्थान आदि राम प्रेम को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत समाविष्ट होंगे। भक्ति भावना में निमग्न होने की स्थिति में रोमांच (हर्ष और भय) अनुभाव की अनुभूति होती है।

तुलसी ने अपने आराध्य के स्वरूप को लोक जीवन में व्याप्त देखा है। शील सौन्दर्यमयी आदर्शों से युक्त होने के कारण उनकी लीलाओं ने उन्हें मुग्ध कर लिया है। इससे वह उनमें आसक्त हैं।

इस प्रकार राम का स्मरण और व्यक्तित्व स्वयं ही रंजन का साधन बन गया है। यही एकमात्र भावना के कारण वह राम के चरणों में केवल अपना अनुराग चाहते हैं अन्य किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि, बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

उपर्युक्त भावना में भक्ति का उत्तम आदर्श भरा हुआ है जिससे तुलसी अभिलाषा कर अपने को कृतार्थ करना चाहते हैं।

विनयपत्रिका में भक्ति-भावों की अपूर्व निधि भरी हुई है। भक्त उनमें उन्नत आदर्शों की प्राप्ति कर अलौकिक ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर सकता है। यह उत्तम भक्ति का आदर्श है और तुलसी उनके कारण भक्त व आदर्श हो उठे हैं।

इन गीतियों के अन्तर्गत विविध रागों का स्वरूप निरूपित किया गया है, जो कर्नाटकी पद्धति में आज भी पूर्ण रूप से मान्य है। यह सत्य है कि हिन्दुस्तानी पद्धति में रागों की गीतियों के ये नाम नहीं हैं किन्तु उनका स्वरूप यहाँ भी पूर्ण रूप से मान्य है। वहाँ की 'शुद्धागीति' को हिन्दुस्तानी पद्धति में ध्रुपद 'भिन्नागीति' को 'धमार' 'गौड़ी गीति' को 'ठुमरी' 'वेसरागीति' को 'टप्पा' और 'साधारणी गीति' को 'ख्याल' कह सकते हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त एक पद्धति के राग द्वितीय पद्धति में विद्यमान हैं—उदाहरणस्वरूप—कर्नाटकी 'मायामालवगौड़' को हिन्दुस्तानी में 'भैरव' 'हनुमततोड़ी' को 'भैरवी' 'चक्रवाक' को 'आनन्द भैरव' 'नटभैरवी' को 'सिन्धु भैरवी' 'खरहरप्रिया' को 'काफी' 'हरिकाम्भोजी' को 'खमाज' 'शंकराभरण' को 'बिलावल' 'शुभपन्तुवराली' को 'टोड़ी' 'गमनप्रिया' को 'मारवा' 'मेचकल्याणी' को 'कल्याण' कह सकते हैं। दोनों पद्धतियों के उपर्युक्त राग स्वर और गान-काल की एक ही व्यवस्था रखते हैं। इस प्रकार यह साम्य दोनों पद्धतियों के एक ही होने का संकेत है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त राग के अंश ग्रह न्यास आदि लक्षण वर्ण अलंकार आदि सिद्धान्त तथा गेयता के लिए स्थायी अन्तरा संचारी और आभोग आदि चार विभाग भी दोनों पद्धतियों में मान्य हैं। कर्नाटकी पद्धति में रागों के विषय में 'जनक और जन्य' परिपाटी के समान हिन्दुस्तानी पद्धति में 'राग रागिनी-पुत्र' की परम्परा है। उनके अन्तर्गत ही सजातीय राग-रागनियों के विवेचन और पंचतानों की प्रतिष्ठा होती है। वहाँ प्रथम श्रेणी के राग-संख्या में ७२ है जिन्हें 'मेलकर्ता' कहते हैं। उत्तरी हिन्दुस्तानी संगीत में उन्हें मेल (थाट) कहते हैं, जो संख्या में दस हैं। इस प्रकार दोनों पद्धतियों में अधिकाधिक साम्य है।

उपर्युक्त साम्यों के रहने पर भी संगीत के विशुद्ध तत्त्वों को कर्नाटकी पद्धति के अनुसार हिन्दुस्तानी पद्धति सुरक्षित न रह सकी। दक्षिण के हिन्दू-राजाओं के प्रश्रय में भारतीय संगीत अपने मूलगत स्वरूप को बचाए रह सका जबकि उत्तरी भारत में मुसलमानों के सम्मिश्रण से उसका बच सकना कठिन हो गया। फलतः रागों में मिश्रण और उनके स्वरांकन (Notation) में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन समाविष्ट हुए। इन नवोन्मेषों से हिन्दुस्तानी संगीत की पद्धति दक्षिणी पद्धति से विषम और विभक्त हो गई, जो स्वाभाविक था।

यों तुलसीदास की सांस्कृतिक वाणी आज सम्पूर्ण देश में प्रतिष्ठित और ग्राह्य है फिर भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रसार उत्तरी भारत में ही हुआ है उनके काव्यों का सृजन-क्षेत्र और विविध काव्य-शैलियाँ उत्तरी भारत से ही सम्बन्धित हैं। इससे उनकी गीति-शैली का हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति से संबद्ध होना स्वाभाविक है। फलतः इस पद्धति की गीति-शैलियों का विवेचन आवश्यक है अनन्तर उनमें उनकी गीति-शैली का निर्णय करने में सुविधा हो सकेगी।

हिन्दुस्तानी संगीत की गीति-शैलियाँ

उत्तरी भारत के संगीत में ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, तराना, दादरा, भजन, गजल, कीर्तन, युगलबन्ध, पाठ या ध्रुवा, सरगम, सादरा, तिरवट, चतुरंग, रागमाला या रागसागर, स्वरार्थ गीत, चैती, कजरी, रसिया, माड, भटियार, ग्रामगीत या रसदार गीत आदि कितनी ही गीत-शैलियाँ प्रयुक्त होती रही हैं। यहाँ के गायक और भक्त-कवि इन्हीं के माध्यम से लोक-रंजन और जीवन-निर्माण का समुचित सन्देश प्रदान करते रहे हैं। उपयुक्त में ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी और टप्पा ही प्रमुख हैं; शेष गीत-शैलियाँ उन्हीं के अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं।

तुलसी की गीति-शैली से परिचित होने के लिए इन विविध शैलियों के स्वरूप और गायकी के विषय-क्षेत्र से अवगत होना आवश्यक है। अतः उपर्युक्त को लेकर प्रत्येक के विवरण प्रस्तुत करना समीचीन है।

१. ध्रुपद या ध्रुव पद—यह देश की प्राचीनतम राग शैली है जो अपने अस्तित्व और स्वरूप में विशुद्ध और स्थिर है। इस शैली के गानों में स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग चार तुकें प्रयोग में आती रही हैं। अनन्तर ध्रुपद मर्यादित होने लगे और चार तुकों के स्थान पर उनमें 'स्थायी' और 'अन्तरा' केवल दो तुकें ही शेष रह गई हैं।

ध्रुपद के गाने में गम्भीर तानों की आवश्यकता है। यह प्रायः चौताल की लय में गाए जाते हैं और इनमें आड़ा चौताला, सरमी, ब्रह्म, रुद्र आदि तालों का प्रयोग किया जाता है। इसमें मींड, गमक, सूत आदि लेने का ही अवकाश रहता है; तान, पल्टा, मुरकी आदि उपयोग में नहीं आते।

ध्रुपदों में गायक नौहार, गोबरहार, खण्डार और डागुर चार वाणियों का प्रयोग करते हैं—प्रथम में बोल अधिक रहते हैं और तान की उपेक्षा होती है; द्वितीय में बोल और तान सम रहते हैं; तृतीय में बोल की अपेक्षा तान अधिक रहती है और चतुर्थ में बोल की अपेक्षा तान के आधिक्य के साथ मींड, सूत और गमक का सम्यक् उपयोग होता है।

ध्रुपदों में देवताओं की स्तुतियाँ, भक्ति भावनाएँ, राजाओं की प्रशस्तियाँ तथा लौकिक शृंगार के वर्णन गेय रहते हैं। इस गीत-शैली का पुनरुद्धार ग्वालियर नरेश मानसिंह के दरबारी सर्वोत्तम बैजू बावरा तथा उसके सहयोगी गायकों द्वारा किया गया था। अनन्तर स्वामी हरिदास और मियाँ तानसेन की वाणियों और गायकी से उसका पूर्ण उत्कर्ष हुआ।

२. धमार—धमार-शैली ध्रुपद-शैली के अन्तर्गत समाहित है। फलस्वरूप इसका गान-विधान उसी के समान है। इसमें स्थायी और अन्तरा दो तुकें रहती हैं; कहीं-कहीं चार तुकों का प्रयोग भी मिलता है, किन्तु इसमें ध्रुपद की अपेक्षा [illegible] और लय

सम्बन्धी कल्पना अधिक रहती है। खमार को संगीत में 'होली' भी कहते हैं। इसमें कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का गान उपलब्ध होता है।

१ ख्याल—इस शैली के संगीत को जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह शर्की (१५वीं शताब्दी) ने आश्रय दिया। फलतः यह सभ्य-समाज में ग्रहण किया जाने लगा। अनन्तर मुहम्मद शाह रङ्गीले (१७१९-४८ ई०) के समय में सदारङ्ग और अदारङ्ग दो बन्धुओं के प्रयास से इस शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। यह संगीत में अपनी स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हुई।

ध्रुपद की गायकी में तान, गमक आदि के अभाव के कारण गायक को स्वर-साधना में पूर्ण अभ्यस्त होना पड़ता है। ध्रुपद की तुलना में ख्याल सरल होता है, इसमें गमक, तान, पलटा, मींड, सूत आदि की ही व्यवस्था होती है, स्वर की नहीं। फलतः यह गीति-शैली जनता को अधिक बोधगम्य हो जाती है। ख्याल-शैली के विषय शृंगार और प्रेम हैं। इसमें स्थायी और अन्तरा दो तुकें और एक ताल, तिताल और धीमा तिताल आदि तालों का उपयोग होता है।

४ ठुमरी—यह संगीत की वह गायकी है जिसमें केवल प्रेम-तत्व ही रहता है। इसमें केवल मिश्रित ध्वनि के राग ही स्वीकृत होते हैं, विशुद्ध गम्भीर और करुण राग नहीं। इसी से इस गीति-शैली में खमाज, पीलू, काफी आदि रागों को ही स्थान प्राप्त है, दरबारी, मल्हार, हिन्डोल, भैरव, टोड़ी, मारवा आदि को नहीं। इसमें १६ या १४ मात्राओं की तालों का प्रयोग होता है। फलतः दादरा, कहरवा, रेखता, पंजाब आदि तालें जो न्यून मात्रा की हैं इसके अन्तर्गत आती हैं।

इस शैली के रागों के गाने में गायक को अपने कण्ठ में तारल्य, माधुर्य और कोमलता रखनी पड़ती है और राग की ध्वनि को आकर्षक और रञ्जन-पूर्ण बनाने के लिए गान काल में स्वरों का प्रस्फुटन करना पड़ता है।

५. टप्पा—यह क्षुद्र प्रकृति की गीति शैली है। इसमें स्थायी और अन्तरा केवल दो तुकें रहती हैं। काफी, झिंझोटी, पीलू, बरवा, माड़, पूरब व भैरवी आदि इसके राग हैं। ध्रुपद और ख्याल के समान इसमें आलाप की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु खटका, गिटकरी, जमजमा आदि और खास मुरकियों से ही गायकी पूर्ण कर ली जाती है।

इस शैली के गान को सर्वप्रथम लखनऊ के मियाँ शोरी ने प्रारम्भ किया था। अनन्तर उनके बनारस पहुँचने पर इसका वहाँ भी प्रचार हो गया। इस शैली के रागों का विषय सदैव शृंगार ही रहता है।

इन सभी शैलियों से परिचित हो लेने पर अब गो० तुलसीदास की शैली के निरूपण में कोई कठिनाई नहीं है।

गो० तुलसीदास की गीति-शैली

१ सैद्धान्तिक-तत्व—गीति-शैलियों के उपर्युक्त विवेचन से यह निरूपित है

कि अवतारों, देवताओं आदि की अर्चना वन्दना और भक्ति भावना के लिए ध्रुपद और धमार की शैलियाँ ही उपयुक्त हैं अन्य शैलियाँ केवल शृंगार और मनोरंजन के तत्त्व ही प्रस्तुत करती रही हैं। इस प्रकार इन शैलियों के सरसता में दो भेद हो जाते हैं—प्रथम को आश्रय ब्रह्म के सगुण और निर्गुण संगीतज्ञ भक्त कवियों ने दिया और द्वितीय को आश्रय उन संगीतज्ञों ने दिया जिनकी गायकी राजाओं और नवाबों के आश्रय में पल्लवित हुई थी। प्रथम का सरोकार ईश्वर के साधक स्वान्तः सुखाय कर्म से, दूसरे का परान्तः सुखाय होता था। एक के इकतारा, वीणा और पखावज जीवन में ब्रह्म-निष्ठा के कारण व्यक्त थे, दूसरे के राजाओं और नवाबों की इच्छाओं के ताल-स्वर पर बजते थे। एक में अन्तश्चेतना की मस्ती समाहित हो उठी थी, दूसरे में परतन्त्रता से उत्पन्न कृत्रिमता। इस प्रकार संगीत दो विविध धाराओं में प्रवाहित हो रहा था और उनके कलाकार अपनी उपासना और साधना से उनको आकार दिए हुए थे।

तुलसीदास राम और कृष्ण के अनन्य भक्त एक निवृत्तिमार्गी सन्त थे। भक्ति भावना और दार्शनिक सिद्धान्तों में भले ही अन्तर हो किन्तु वह भी गोरखनाथ और कबीर जैसे अद्वैतवादी निर्गुण तथा सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के भक्त कवियों जैसे सगुण सन्तों की ही कोटि में आते हैं। अपनी अपनी श्रद्धा और निष्ठा के अनुसार अपने-अपने आराध्य ब्रह्म, कृष्ण और राम के प्रति अपनी अनन्यता का प्रतिपादन ही उनकी वाणियों का लक्ष्य था। यह प्रवृत्ति ध्रुपद और धमार गीति शैलियों से ही मेल खाती है। इससे यह सिद्धान्त बनाया जा सकता है कि तुलसी अन्य सन्तों के समान ध्रुपद गीति-शैली के ही आधारी थे। उनके गीतों में इसी शैली के विपुल तत्त्व समाहित हैं यह सिद्ध है।

भावात्मक-तत्त्व—तुलसी के गीत काव्य की भावधारा के सम्बन्ध में इसी प्रबन्ध के ५ और ६ अध्यायों में परिचयात्मक और विवेचनात्मक रूप से विचार किया गया है। वहाँ हम देख चुके हैं कि उनका हृदय गीति-शैली के शब्दों के साथ न्याय करने में सफल हुआ है। यदि विनयपत्रिका में आत्माभिव्यंजन प्रमुख है तो भी कृष्णगीतावली और गीतावली में घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के साथ उनके हृदय ने कथा के मार्मिक और भावुक स्थलों को पहचाना है और अतिशय कोमल चित्रण प्रस्तुत किए हैं। यह गीति-शैली की ही विशेषता है जिसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। इस स्थल पर अधिक न कहकर उनके सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में ही कहा जा रहा है जिससे उनके भावात्मक तत्त्व पर प्रकाश पड़ सके।

तुलसीदास के भी कृष्णगीतावली और गीतावली दोनों कृष्ण और राम चरित परक गीति-काव्य हैं। किन्तु वे दोनों अवतारी चरित्रों के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा है अतः कथा प्रसंग के साथ वह किसी भी स्थल पर परम प्रभु के प्रति अपनी परम विश्वास और भक्ति का परित्याग नहीं कर सके हैं। तुलसी ने यदि राम के प्रति अपनी निष्ठा और आत्मसमर्पण का भाव व्यक्त किया है तो उनका वहीं

भाव कृष्ण के समक्ष भी पाराक्रम्य रहा है। उनकी आस्था का व्यापक रूप तो विनय पत्रिका के स्तोत्रों में विद्यमान है ही फिर भला उनकी भक्ति भावना कृष्ण के प्रति क्यों कुण्ठित हो जाती—

१ हम ही के आए तो बधाए ब्रज नित नए,
नाचत बढ़त सब सब सुख जियो है।
नन्दलाल बाल जस संत सुर सरबस
पाइ सो अमिय रस तुलसिहुँ पियो है॥ —(कृ० गी० १६)

२ लसत ललन करतलपर जदुकुल
डोलत कहत करत रोष तथा।
तुलसी बाल-केलि सुख निरखत
बरषत सुमन सहित सुर सेवा॥ —(वही—१६)

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी कृष्णगीतावली के अन्तिम दो पदों में भक्त-मर्यादा संरक्षण में पूर्ण समर्थ कृष्ण का स्वरूप ही चित्रित है। यह तथ्य ही गीतावली में भी विद्यमान है—

जो रघुबीर-चरन-चिंतक तिन्ह की गति प्रगट दिखाई।
अविरल अमल अनूप दृढ़ तुलसिदास तब पाई॥
—(गीतावली बालकाण्ड—१)

उत्तरकाण्ड के अन्तिम पद में भी यही भाव-धारा विद्यमान है। इधर वशिष्ठ ने राम का राज्याभिषेक किया है उधर तुलसीदास याचक राम से भक्ति-दान माँगने के लिये अग्रसर हो उठे हैं—

बेद-पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति-दान तब माँगि लियो॥

यों राम चरित के अन्तर्गत कथा-प्रसंग में दशरथ कौशल्या विश्वामित्र जटायु शबरी विभीषण आदि सभी में राम के प्रति भक्ति निष्ठा और अनन्यता है किन्तु तुलसी के भक्त हृदय के कारण काव्य के सभी ही स्थल श्रद्धा-समन्वित हो उठे हैं। इस प्रकार दोनों गीति-काव्यों में दोनों अवतारों की मधुर लीलाएँ अंकुरित हुई हैं, जिनमें उनके प्रभु-रूप के साथ तुलसी के भक्त-हृदय का सुन्दर सम्मिश्रण हो गया है।

प्रभु की लीलाओं का आदर्श उन्हें समाज को अवगत कराना था इसी से इन्होंने राम और कृष्ण दोनों के चरितों की अधिकाधिक घटनाओं को अपने इन गीत-काव्यों में समाहित कर लिया है। गीति के कारण यह सत्य है कि उन्होंने उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाएँ अवश्य नहीं चुनी हैं। शौर्य और वीरत्व के स्थलों को उन्होंने छोड़ ही दिया है किन्तु फिर भी कथा का अन्त और इति इनमें अवश्य ही मिलेगा उनकी यह उपेक्षा भी नहीं कर सके हैं। इस तथ्य के कारण भक्ति भाव

के अतिरिक्त उनके वात्सल्य शृंगार आदि की भावनाएँ सम्यक् रूप से चित्रित हुई मिलेंगी।

तुलसी की विनयपत्रिका में राम विषयक उनकी भक्ति भावना उत्कर्ष पर पहुँच गई है। आराध्य के प्रति उनकी अनन्यता भक्ति और आत्म निवेदन के एक नहीं सैकड़ों चित्र उसमें विद्यमान हैं जिनमें उनके भगवत्तत्व की आस्था और विश्वास की भावनाएँ भाँकती हुई मिलेंगी। दीनता मानमर्षता भयदर्शना भर्त्सना आश्वासन मनोराज्य और विचारणा-विनय की सातों भूमिकाएँ उसमें सन्निविष्ट हैं। अनन्य भक्ति भावना का सुदृढ़ स्वरूप उसमें अभिव्यक्त हुआ है।

१ विश्वास एक राम-नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को॥
पढ़िबो परयो न छठी ३६ मत रिगु जजुर-अथर्वन साम को।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को॥
× × ×
को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को॥
२ भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ग्यान बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो 'सावन के अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परयो॥

तुलसी में राम के प्रति तो अनन्य और अगाध निष्ठा थी ही किन्तु सीता भरत लक्ष्मण शत्रुघ्न हनुमान आदि उनके पार्षदों को भी उन्होंने विनय द्वारा अपने पक्ष में साथ लिया था। अनन्तर सब ओर से निश्चिन्त होकर उन्होंने अपनी विनय पत्रिका राम को समर्पित कर दी—

विनयपत्रिका दीन की बापु आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिए पाँचो॥

राम भक्त की भावना की कब अवहेलना ही कैसे करते? समस्त प्राप्त कर वह उनके अनुकूल हो उठे। उसी समय पार्षदों ने भी उनके 'राम के नाम की परतीति प्रीति' के सम्बन्ध में चर्चा कर दी। सभी ने तुलसी की भक्ति भावना की चर्चा सुन कर उन्होंने भी उनके कथन का अनुमोदन किया और उन्होंने भक्ति भावना की प्रतीक 'विनयपत्रिका' पर सही कर दी—

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है॥

इस प्रकार अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति की उन्हीं से स्वीकृति प्राप्त कर तुलसी 'मुदित' हो उठे। तुलसी का यही तो उद्देश्य था जिसमें वह पूर्ण रूप से खरे उतरे हैं।

सच तो यह है कि विनय-निवेदन में भक्त की जितनी विनम्रता और हीनता आवश्यक है उतनी ही आराध्य की गुरुता और प्रभुता भी। इस सम्बन्ध में तुलसी की भावनाएँ उत्कर्ष पर पहुँच रही हैं जिससे हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत विनयपत्रिका अद्वितीय सिद्ध होती है और साथ ही भक्ति के क्षेत्र में वह ऐसा आदर्श भी प्रस्तुत करती है जो आस्तिक के लिए चिरन्तन सत्य और आत्म-कल्याण का विश्वस्त साधन है।

तुलसी की वर्णनात्मक प्रवृत्ति के कारण उनके गीति-काव्यों की भावनाओं में कहीं-कहीं माधुर्य प्रवाह और सौष्ठव में अभाव प्रतीत होता है। विनयपत्रिका के स्तोत्र परक और गीतावली में चरित्र-परक लम्बे-लम्बे गीतों में अपेक्षित लालित्य उपलब्ध नहीं होता—किन्तु उनके वे पद जो छोटे हैं अधिक सफल हैं और उनकी भावनाएँ अधिक मर्मस्पर्शी हैं। इन गीतों में सूर, मीरा आदि के गीतों के समान ही लालित्य और माधुर्य की अनुभूति होती है। उनके समग्र गीत सूर और मीरा के गीतों के समान मधुर नहीं हैं यह सत्य है। सूर, मीरा आदि कृष्ण भक्ति के माधुर्य पक्ष के ही उपासक रहे हैं इससे उनके गीतों की भावनाएँ माधुर्य तत्त्व का ही प्रस्फुटन करती हैं। मीरा कान्तासक्ति की उपासिका थी और सूर सख्यासक्ति के। मीरा के पदों में कथा-तत्त्व न होकर प्रेम का स्वाभाविक स्वरूप ही प्रकट हुआ है, जो स्वभावतः पाठक या श्रोता को आकर्षित कर लेते हैं। सूर के पदों में कथा-वस्तु है, किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय के प्रतिपादित माधुर्य के प्रवाह के साथ वह स्वतः बहता चला जाता है। इसके विपरीत तुलसी की उपासना और भक्ति मर्यादावादी रही है, इससे कवि की दृष्टि चरित्र के प्रस्फुटन की ओर ही अधिक प्रवृत्त है क्योंकि यही वह आधार है जिसके बल पर उन्होंने चरित्र का आदर्श समाज के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। सूर के समान उनमें भावुकता थी किन्तु उसका उन्होंने उपयोग नहीं किया। सच तो यह है कि उपासना के आदर्श के समक्ष उधर उनकी दृष्टि ही नहीं गई। इसी से तो कृष्णगीतावली घटनाओं का मात्र संग्रह है। गीतावली में कुछ घटनाएँ कवि ने छोड़ी हैं किन्तु कथा के सम्मोहन को वह नहीं छोड़ सका है। इसी से गीत काव्यों में वर्णनात्मक प्रधानता कहीं-कहीं उभर उठती है।

भाषा—संगीत की सार्थकता रंजन करने में है। इससे उसकी सैद्धान्तिक भाषात्मक और भावात्मक शैली में यदि विरोधी तत्त्व समाविष्ट हो उठें तो उसका विलोम परिणाम सामाजिक के समक्ष घटित हो। इससे सिद्धान्त के अनुकूल संगीत

इसके अनुकूल भाव तथा संगीत और भाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। काव्य की अन्य शैलियों की अपेक्षा गीत शैली अधिक कोमल और मधुर है फलतः गीत की भाषा-शैली कर्णकटु शब्दों से विहीन मधुर होनी चाहिए।

तुलसी ने अपने गीत काव्यों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा अपनी माधुरी के लिए ख्यात हो चुकी थी और उस समय तक सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने पदावली में उसके प्रयोग का आदर्श भी प्रस्तुत कर दिया था इससे ब्रजभाषा का प्रयोग तुलसीदास को भी समीचीन ही जँचा किन्तु तुलसी और उन लोगों की भाषा विषयक प्रयोग में एक अन्तर रहा जो उनके काव्यों म स्पष्ट देखा जा सकता है।

कृष्ण भक्त कवियों ने प्रायः अपने आराध्य की लीला भूमि ब्रज प्रदेश में रहकर भक्ति और कृष्ण की लीला परक अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। फलस्वरूप वहाँ के जन-जीवन में प्रयुक्त और व्यावहारिक मधुर पदावली का ही उनमें उपयोग किया गया है। तुलसी प्रायः काशी अयोध्या चित्रकूट आदि में रहे हैं इससे उन लोगों के समान ब्रजभाषा के शब्दों के ग्रहण की उन्हें सुविधा नहीं ही रही। वस्तुतः किसी भी भाषा की ध्वनि (Tone) भी वहाँ के सहवास से ही आती है तुलसी उससे वंचित ही रह गए। इसस उनके समान कवि तुलसी सुभाषी-सुहावनी भाषा का प्रयोग न कर सकें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

तुलसी ने अपनी भक्ति भावना और समन्वयवादी सामाजिक विचार धारा के पोषण के लिए निगमागम तथा अन्य साहित्य का सम्यक् अध्ययन और मनन किया था। इससे उनकी दृष्टि विचार और भाव सभी ही उच्च स्तर के रहे हैं और इस प्रवृत्ति को प्रमुख रखने में उनकी मर्यादावादी उपासना ने भी उन्हें सहयोग दिया है। इन कारणों से उनकी ब्रजभाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य प्रविष्ट हो गया है जिसको हम भी कृष्णगीतावली गीतावली और विनयपत्रिका में स्पष्ट देख सकते हैं। विनयपत्रिका के प्रारम्भिक स्तोत्र खण्ड में भाषा का यह रूप सरलता से देखा जा सकता है। वहाँ अनुस्वारान्त सामासिक पदावली का प्रयोग संस्कृत काव्य के शब्द-विधान का स्मरण दिलाती है। उनमें क्लिष्टता दुरूह अवश्य प्रतीत होती है किन्तु वे वैसी हैं नहीं। तुलसी की भक्ति भाव धारा के साथ यदि हम अपने अन्तरतम को मिलाए चलें तो वस्तुतः वे पंक्तियाँ हम अपनी रस-माधुरी से सिक्त कर देंगी और क्लिष्ट प्रतीत न होंगी। शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग सर्वत्र एक समान नहीं है। विनयपत्रिका गीतावली और कृष्णगीतावली में ऐसे कितने ही पद हैं जो अपनी स्वाभाविक शब्दावली से बरबस मुग्ध कर लेते हैं और सूर, मीरा आदि का स्मरण दिलाते हैं।

तुलसी की अपनी भावना मर्यादित और विशुद्धतावादी रही है किन्तु शैली के सम्बन्ध में उनका यह विचार अक्षुण्ण नहीं रह सका है। इसस उनकी भाषा शैली

में उर्दू फारसी आदि शब्दों का मिश्रण हो उठा है।

श्री कृष्णगीतावली—बेकाम गोस्साइ दगा सूरति गायबो गरीब निवाज आरिज सही राजी आदि।

गीतावली—फकीर परवाना बलाइ, दीवान निहाल दरकसी जरकसी सिरताज साहेब बसन जन कसम सौपर बच परदा मकस हाल चोब बैच खुनिस दुमह, परदेसी आदि।

विनयपत्रिका—साहब दीन मसाफ लायक मुकाम जहान कसूरात दर बार, कमाई, गरम सहर बाहर मिसकीन साहिब खास निवाम नीके गैर, जमात आदि गैरक जोर उमीला नवाब, फहम आदि।

इन काव्यों में कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा-शैली स्वाभाविक प्रतीत होती है।

सगुन देखि दी जाई, कसौटी लाई मूँडहि चढ़ी पय नाकहि आई, भूमि पर बादर बीजो हूँ है कीन कोठिला बोएँ होत हरे होने बिरवनि दल सुनि है पै सोई जोई देहि दई है, पूतरो बाँधिहै आदि।

सर्वत्र उन्होंने भावना के अनुकूल पदावली का प्रयोग किया है जिससे उनके काव्यों में ललित और कठिन भाषा-शैली उपलब्ध है। विनयपत्रिका भाषा और काव्य सौष्ठव में तथा गीतावली ललित और मधुर पदावली के कारण उनके साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखती है।

चमत्कार

चमत्कार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म है।[1] यों काव्य में सौन्दर्य-अभिवृद्धि के लिए उसकी आवश्यकता है किन्तु भाषा और छन्द के समान यह काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं है। उसका प्रयोग वस्तुतः कवि के विकल्प पर निर्भर है कि वह आश्रय ले अथवा न ले। जब उसमें गूँथी जाने वाली भावनाएँ अथवा वस्तु स्वयं ही पूर्ण हैं तब उसमें चमत्कार की अपेक्षा नहीं होती। इसके विपरीत जब उसमें किसी प्रकार का अभाव होता है तब उसके उत्कर्ष अथवा चमत्कार के लिए वह उसका प्रयोग कर उठता है।

अच्छे लक्षण सुन्दर वर्ण और सरस वृत्तों से युक्त कविता के लिए आचार्य केशवदास अलङ्कार वैसे ही आवश्यक समझते हैं जैसे नारी के लिए आभूषण[2] किन्तु यह उन पर संस्कृत के अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी के काव्यादर्शों का

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कार प्रचक्षते—दण्डी—काव्यादर्श

२ जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥ कविप्रिया १ १

प्रभाव है। वस्तुतः उन पर रीति पद्धति का प्रभाव पड़ने लगा था जो उनके आचार्य और दरबारी कवि होने के कारण स्वाभाविक भी था। इसी से उनकी यह विचारधारा गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य भक्त कवियों की प्रवृत्ति से ठीक विपरीत है।

भक्त कवियों को केशवदास तथा अन्य रीतिकालीन कवियों के समान किसी राजा-महाराजा को रिझाना न था। फलतः काव्य में चमत्कार और चकाचौंध उत्पन्न करना उनके लिए अनावश्यक था। उनका मानस अपने प्यारे की रूप-माधुरी भक्ति भावना और निष्ठा से आप्लावित था फलतः उसमें सन्निहित अपनी भावनाओं को अपनी काव्य भूमि में प्रस्फुटित करना उनका लक्ष्य था। इसके लिए उन्होंने काव्य की स्वाभाविक अभिव्यंजना का ही आश्रय लिया है। फलतः भावना के प्रवाह में जो अलङ्कार आ गए हैं वे ही उनके काव्य को विभूषित और अलङ्कृत किए हैं अन्य नहीं। भक्तिकाल की उपर्युक्त प्रवृत्ति का तुलसी काव्य में ग्रहण हुआ है, जिससे उनकी मर्यादा परक और गम्भीर भावनाओं के मध्य में भी स्वाभाविक अनुरंजन हो सकी है। अलंकारों की आवश्यकता के लिए उनके काव्यों में जिन उपमानों का ग्रहण हुआ है वे उनकी अध्ययनशीलता और अनुभूति को व्यक्त करते हैं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों का ही विशेष प्रयोग किया। यत्र-तत्र अन्य अलंकार भी समाविष्ट हैं किन्तु उनकी बहुलता नहीं है।

उपर्युक्त इङ्गित अलंकारों का बाहुल्य ही विनयपत्रिका, गीतावली और श्री कृष्णगीतावली में उपलब्ध है। ये हमारे विवेच्य काव्य हैं फलतः उनके अलंकारों का अध्ययन कर हम तुलसी की मनोवृत्ति से परिचित हो सकते हैं।

श्री कृष्णगीतावली—श्री कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित यह एक गीति-काव्य है। यत्र-तत्र इसमें कुछेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है—

शब्दालंकार अनुप्रास छेकानुप्रास

बाल बोलि डहँकि बिरावत चरित लखि
गोपी गन महरि मुदित पुलकित गात।
नूपुर की धुनि किंकिनि को कलरव सुनि
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात॥ —(पद २)

उपर्युक्त में 'बाल' 'बोलि' 'गोपी' 'गन' 'महरि' 'मुदित' में 'ब' 'ग' और 'म' की दो बार आवृत्ति है इससे इन पंक्तियों में छेकानुप्रास है। अन्तिम पंक्ति में 'क' वर्ण की बार बार आवृत्ति हुई है इससे इसमें वृत्यानुप्रास की छटा प्रतिष्ठित है।

वृत्यानुप्रास

साजि सजा सब सुभग सुदामा।
देखि भौं कुटिल बोलि कमराऊ॥ —(वही—१२)

× × ×

गोपाल गोकुल बल्लवी प्रिय गोप गोसुत बल्लभ । —(वही—२१)

× × ×

सत्य सनेह सील सोभा सुख सब गुन उदधि अपार ।
कहियत ताकू कूबरी हूँ को सो कुजाति पति नारि ॥ —(वही—२७)

× × ×

ये अब लही चतुर चेरी प चोखी चाल चलाकी । —(वही—४१)

उपर्युक्त पंक्तियों में शब्दों के प्रयोग की स्वाभाविक छटा विद्यमान है। उनके प्रयोग से कवि की भाव-धारा में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पड़ता है।

अर्थालंकार उपमा पूर्णोपमा

किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों ।
कूदत कपि कुरंग की नैया ॥ —(वही—१)

× × ×

स्याम तमाल समान सगात घर,
बिहरत छिन छिन होत निनारे । —(वही—१६)

उपमेय लुप्तोपमा

निपटहीं डोलति निठुर ज्यों लकुट कर तें छाड़ । —(वही—१४)

वाचक लुप्तोपमा

नैन भरि भरि काहु कमल नग । —(वही—१५)

उत्प्रेक्षा वस्तूत्प्रेक्षा

मंजु अंजन सहित जल कन चुवत लोचन चारु ।
स्याम सारस मग मनहुँ ससि स्रवत सुधा सिंगारु ॥
सुभग उरवसि बुंद सुन्दर लखि अपनपो वारु ।
मनहुँ मरकत मृदु सिखर पर लसत बिसद तुषारु ॥ —(वही—१४)

× × ×

बिथकित कुटिल अलक-अवली-छबि ।
कहि न जाइ सोभा अनूप वर ॥
बाल भुजंगिनि निकर मनहुँ मिलि ।
रही घरि रस जानि सुधाकर ॥ —(वही—२१)

रूपक

जब ते ब्रज तजि गए कन्हाई ।
तब ते बिरह रवि उदित एक रस सखि ! बिछुरन वृष पाई ॥
घटत न तेज चलत नाहिंन रथ रह्यो उर नभ पर छाई ।
इंद्रिय रूप रासि सोचहिं सुठि सुधि सबकी बिसराई ॥
भये सोच सब कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई ।

चित चकोर, मन मोर, कुमुद मुद सकल बिकल अधिकाई ॥
तनु तड़ाग बल बारि सुखन लाग्यो परि कुरूपता काई ।
प्रान मीन दिन दीन दूबरे दसा दुसह अब आई ॥
तुलसीदास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई ।
राम स्याम सावन भादों बिनु जिय की जरनि न जाई ॥ —(वही—२९)
कृष्ण के विरह रूपी सूर्य का यह सर्वांग सांगरूपक है ।

लोकोक्ति

सुनु मया ! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की ।
सकुच बेंचि सी खाई ॥ —(वही—८)

× × ×

ग्वालिनि बचन सुनि कहति जसोमति
भलो न भूमि पर बादर छायो । —(वही—९)

× × ×

पुलकि न रहत कहूँ मधु चाहत ।
छूटै कीच कोटिना धोएँ ॥ —(वही—११)

गीतावली

राम की लीलाओं पर रचित तुलसीदास का यह एक मधुर गीति-काव्य है । इसमें कटु घटनाओं का परित्याग और मधुर तथा करुण विवरणों का ही ग्रहण है । तुलसीदास की भावुकता और सहृदयता का पूर्ण रूप इस काव्य में प्रतिफलित हो उठा है । अलंकारों की स्वाभाविक और मधुर योजना इस काव्य में प्रतिष्ठित है ।

शब्दालंकार अनुप्रास, छेकानुप्रास

तापस बर बेष किए सोभा सब लूटि लिए ।
चित के चोर वय किसोर लोचन भरि जोरु ॥
—(गीतावली—अ० का० १९)

अन्त्यानुप्रास

सदन-सदन सोहिलो सोहावनो नभ अरु नगर निसान हए ।
—(वही—बा० का० १)

× × ×

सील-सुधा के अगार सुखमा के पारावार,
पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं ।
लोचन ललकि लागे मन अति अनुराग
एक रसरूप चित सकल सभा के हैं ॥ —(वही—१४)
मिटे कलुष कलेस-कुलधाम कपट कुपथ कुचाल ।

भए हारिल सोच शाकम दंभ दुरित दुकाल ॥
—(वही—उ० का० १)

र्मासकार पूर्णोपमा

तुलसी तेरम सनेह को सुभाव बाप मानो ।
चातक को सो पात करै चित चरको ॥ —(बालकाण्ड ११)

× × ×

बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपा दृष्टि-जल पलुहाइबिहिये ।
—(सुन्दरकाण्ड १)

ाचक लुप्तोपमा

बदन इंदु अंभोरुह लोचन स्याम गौर सोभा सदन सरीर ।
—(बालकाण्ड १४)

्पक

पौढ़िये लालन पालने हौं झुलावौं ।
कर-पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन-भँवर भुलावौं ॥
बाल-बिनोद-मोद-मंजुल-मनि किलकनि-खानि खुलावौं ।
तेइ अनुराग-ताग गुहिबे कहँ मति-मृगनयनि बुलावौं ॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सों पहिराइ फुलावौं ।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं ॥
—(बालकाण्ड १८)

सम्पूर्ण पद में सांगरूपक विद्यमान है। इन पंक्तियों में तुलसी के भक्त हृदय की निष्कलुष कोमल भावनाएँ बड़ी ही मधुर और सजीव हैं।

नयन-चकोरनि मुख मयंक-छबि सादर पान करावौंगी ।
—(अयोध्याकाण्ड १)

मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ।
—(सुन्दरकाण्ड १०)

उत्प्रेक्षा

बालकेलि बातबस झलकि झलमलत
सोभा की दीयटि मानो रूप-दीप दियो है ।
—(बालकाण्ड १०)

× × ×

सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पद पल्लव लाए ।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचु पाए ॥
—(बालकाण्ड २१)

रघुबर बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि॥
बसी मानहु चरन कमलनि अरुनता तजि तरनि।
रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुनु करनि॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि।
जनु सुभग सिंगार सिसु तरु फरयो है अद्भुत फरनि॥
भुजनि भुजग सरोज नयननि बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥
लसत कर प्रतिबिंब मनि आंगन घुटुरुवनि चरनि।
जनु जलज-संपुट सुछबि भरि भरि धरति उर धरनि॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथ-घरनि।
बसति तुलसी-हृदय प्रभु-किलकनि ललित लरखरनि॥

—(बालकाण्ड २७)

भगवान् राम के बाल-रूप-सौन्दर्य पर तुलसीदास की प्रस्तुत की हुई ये उत्प्रेक्षाएँ बड़ी ही मनोरम और सजीव हैं। एक-एक अंग का सफल चित्रण है और उसमें अस्वाभाविकता का कहीं भी लेश मात्र नहीं है।

यथाक्रम

भुजनि भुजग सरोज नयननि बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥

—(बालकाण्ड २७)

सन्देह

मुनि-सुत किधौं भूप-बालक किधौं ब्रह्म जीव जग जाए।
× × ×
किधौं रवि-सुवन मदन ऋतुपति किधौं हरि-हर बेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाए॥

—(बालकाण्ड ६२)

किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन॥

—(अयोध्याकाण्ड २४)

विनयपत्रिका

भावना में विनय और भक्ति का जो उत्कृष्टतम रूप हो सकता है उसका तुलसी

दास के इस काव्य में सफल प्रस्फुटन हुआ है। उनके समान अन्य भक्त कवियों ने भी अपने आराध्य से आत्मनिवेदन किया है किन्तु तुलसी के कथन में जो निष्ठा अनन्यता और भक्ति है वह उनमें नहीं है। भक्ति की अभिव्यक्ति में यह काव्य तुलसी साहित्य में ही नहीं किन्तु अवशिष्ट हिन्दी-साहित्य में शीर्ष पर प्रतिष्ठित है।

अलंकारों का स्वाभाविक ग्रहण इस काव्य में भी हुआ है। भक्ति भावना के प्रवाह के साथ जो अलंकार आ गए हैं वे ही पदों में प्रतिष्ठित हैं अन्यों से अपनी भावना को अलंकृत करने के लिए कवि ने कहीं भी कृत्रिम व्यायाम नहीं किया है।

शब्दालंकार, अनुप्रास छेकानुप्रास

मेरो मन हरि जू ! हठ न तजै ।
निस दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ निजै ॥ —(पद ८९)
जीव को जीवन प्रान को प्यारो ।
सुखहू को सुख राम सो बिसारो ॥ —(पद १७९)

वृत्यानुप्रास

सूर, सुजान सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥ —(पद १७५)

× × ×

सील-सिन्धु, सुन्दर सब लायक, समरथ सदगुन-खानि हौ ।
पाल्यो है पालत पालहुगे प्रभु प्रनत प्रेम पहिचानि हौ ॥ —(पद २२१)

यमक

सिव ! सिव ! होइ प्रसन्न कर दाया ।
करुनामय उदार कीरति बलि जाउँ हरहु निज माया ।

'सिव' 'सिव' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ रखने से 'पुनरुक्ति प्रकाश' अलंकार सिद्ध होता है किन्तु 'शिव' शब्द का अर्थ 'कल्याणरूप' भी होता है फलस्वरूप प्रथम शब्द 'शिव' द्वितीय 'शिव' का विशेषण है। इस प्रकार उनके अर्थों में अन्तर है। इस सिद्धान्त से ही यह 'यमक' अलंकार है।

पुनरुक्ति प्रकाश

पल पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके ।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ सिय-पीके ॥ —(पद १७१)

श्लेष

तुलसी दलि न ज्यों बढ़ि गाढ़ि सालि सिहारे ।

यहाँ 'तुलसी' शब्द में श्लेष है। इस शब्द से 'तुलसी पौधा' और 'कवि तुलसी दास' दोनों के अर्थों की अभिव्यक्ति है। इससे 'तुलसी' में 'शब्द श्लेष' सिद्ध है।

अर्थालंकार, उपमा

श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं ।

नवकंज-लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं ॥ —(पद ४५)

यहाँ 'लोचन' 'मुख' 'कर' और 'पद' उपमेय तथा प्रत्येक का 'कंज' उपमान है। इससे इन पंक्तियों में उपमा अलंकार है।

रूपक

विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहीं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा डोरि बनसि पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो। —(पद १०२)

तुलसी का मन रूपी मत्स्य विषय रूपी वारि से किसी क्षण अलग नहीं होता है इससे उन्हें दारुण दुख की अनुभूति है। वह राम से कृपारूपी डोरी में प्रभु के चरण के चिह्न अंकुश रूपी बंसी के काँटे में प्रेम रूपी कोमल चारा लगाकर मन रूपी मत्स्य को पकड़ने की प्रार्थना करते हैं। इन पंक्तियों में कवि ने सजीव साङ्गरूपक का प्रयोग किया है।

प्रतीप

नीलकंज बारिद तमाल मनि इन्ह तनु ते दुति पाई —(पद ६२)

विभावना

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे। —(पद १११)

व्यतिरेक

सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ॥
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइहि एहि तन हेरे। —(पद १११)

बिना साधन के भी कार्य हो जाने के कारण प्रथम पंक्ति में विभावना है। द्वितीय पंक्ति में उस चित्र के वैशिष्ट्य का उल्लेख है जो धोने से न मिटता है जिसके मरने का सदैव डर है और जब उसको देखा जाता है तो दुःख होता है। इसके विपरीत साधारण चित्र धोए से मिट जाता है उसके मरने का डर नहीं होता और उसे देखने में सुख मिलता है। इस प्रकार उपमेय चित्र साधारण चित्र की अपेक्षा विशिष्ट है। इस भावना के कारण द्वितीय पंक्ति में व्यतिरेक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

अनु लसदुति चंपक-कुसुम-माल बर बसन नील नूतन तमाल। —(पद १४)

उल्लेख

देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत। मानो देखन तुमहिं आई रितु बसंत ॥
जनु तनदुति चंपक कुसुम-माल। बर बसन नील नूतन तमाल ॥
कल कदलि जंघ पद कमल लाल। सूचत कटि केहरि गति मराल ॥
भूषन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग ॥

शिव के शरीर की शोभा का उल्लेख है।

८

तुलसी के गीति-काव्य में छन्द

विषय प्रवेश

हमारे यहाँ भावनाओं का सदैव से विशेष मूल्य रहा है। अतः साहित्य के अन्तर्गत मार्मिक भावनाओं का गुम्फन चाहे गद्य में किया गया हो चाहे पद्य में सभी को काव्य संज्ञा दी जाती रही है। काव्य के सिद्धान्तों की दोनों पक्षों में समान प्रतिष्ठा होने पर भी मात्रा या वर्णसंख्या विराम गति या लय आदि से युक्त होने के कारण पद्य काव्य गद्य काव्य की अपेक्षा अधिक मधुर और प्रिय रहा है तथा उसकी भावनाएँ अधिक आकर्षक पूर्ण और सुग्राह्य रही हैं। पद्य का यह विधान ही छन्द का विधान है जो काव्य को ललित और मधुर बना देता है। इसी से पद्य काव्य के लिए छन्द आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

पद-काव्य में राग रागनियों के कारण कुछ सहृदय उनके स्वरूप के अध्ययन के लिए संगीत-तत्त्वों का उपयोग ही उचित समझते हैं। वे कहीं तक ठीक भी हैं किन्तु पूर्ण रूप से नहीं। ऐसे लोगों ने पद्य काव्य और संगीत के सामान्य तत्त्वों तथा पद-काव्य में संगीत और काव्य दोनों के तत्त्वों के सम्मिश्रण के सम्बन्ध में नहीं सोचा है। उन्होंने पद में संगीत के लय ताल स्वरों का आरोहावरोह ही केवल सोचा है भावनाओं और छन्दों की जो काव्य के अभिन्न अंग हैं उनकी उनके द्वारा उपेक्षा हो कर दी गई है।[1] सच तो यह है कि काव्य की पद शैली में समाहित संगीत के तत्त्वों ने जितना साहित्य को आभारी किया है उतना ही साहित्य की भावनाओं से संगीत भी आभारी हो उठा है।

---

1 Musical time in India more obviously than elsewhere is a development from the prosody and metres of Poetry The insistent demands of language and idiosyncrasies of highly characteristic verse haunt the music

—H A Popley—The Music of India—Tal or Time Measures

पद्य काव्य में मात्रिक और वर्णिक दो प्रकार के छन्द होते हैं। प्रथम प्रकार के छन्द मात्राओं पर और द्वितीय प्रकार के वर्णों की गणना पर आधारित रहते हैं। प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं और मात्रा भेद के आधार पर अक्षर या वर्ण ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के होते हैं। जिन अक्षरों या वर्णों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है वे ह्रस्व कहलाते हैं जैसे अ इ उ ऋ ए आदि और जब उनके उच्चारण में दूना समय लगता है तो वही दीर्घ कहलाते हैं जैसे आ ई ऊ ऐ औ आदि। मात्रिक छन्दों में इन मात्राओं की गणना ही आवश्यक है इसके विपरीत वर्णिक छन्दों में वर्णित गणों की गणना अनिवार्य है। यह गण तीन वर्णों के समूह होते हैं और आदि मध्य तथा अन्त में लघु और दीर्घ का क्रम विचार रहता है। इस प्रकार मगण यगण रगण सगण तगण जगण भगण और नगण आठ वर्णिक गण होते हैं।

पद्य काव्य में प्रयुक्त होने वाले सम्पूर्ण छन्द उपर्युक्त विधान के प्रकाश में ही पल्लवित होते हैं और इन्हीं के स्वरूप में कवि अपनी भावनाओं को पिरोता हुआ अपने देश और संस्कृति को दुलारा करता है।

मात्राओं और वर्णों पर ही सम्पूर्ण और हिन्दी के छन्द शास्त्र का अस्तित्व टिका है। दोनों कोटियों के छन्दों के अलग अलग विधान हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या की न यहाँ आवश्यकता है और न अवकाश ही। काव्य के समान संगीत भी मात्रा ताल से आबद्ध है। संगीत के स्वर प्रयोगों के लघु दीर्घ और प्लुत पर आधारित हैं। यह संगीत की मात्रा-काल है अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह समय के माप-दण्ड हैं। जिन्हें संगीत शास्त्र में ताल कहते हैं या ताल के प्राणों की इन्हीं से उत्पत्ति हुई है। ताल के निम्न दस तत्त्व हैं—

काल अंग क्रिया मार्ग जाति कला ग्रह लय यति प्रस्तार आदि।

भारतीय संगीत में १०८ तालें वर्णित हैं किन्तु अभिनवेश्वर ने 'भरतमिश्र' में १२ तालों का उल्लेख किया है।[4] भारतीय संगीत के अन्तर्गत कर्नाटकी पद्धति में ध्रुवताल मट्ठताल रूपकताल झपताल त्रिपुटताल अठ्ठताल एकताल आदि

---

१ पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥ —(छन्दोमंजरी १—४)

२ म्यरस्तजभ्नगैर्लान्तैरेभिर्दशभिरक्षरैः।
समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना॥

३ सर्वगुरुर्मो मुखान्तलौ यरावन्तगलौ सतौ।
ग्मध्याद्यौ ज्भौ त्रिलो नोऽत्र भवन्त्यष्टौ गणास्त्रिकाः॥
—(वृत्त रत्नाकर—१—७)

४ के० वासुदेव शास्त्री—संगीत शास्त्र पृष्ठ २२०

का उपयोग होता है इसके साथ ही हिन्दुस्तानी पद्धति में त्रिताल १६ मात्रा एकताल १२ मात्रा चौताल १२ मात्रा आड़ा चौताल १४ मात्रा झपताल १ मात्रा रूपकताल ७ मात्रा दादरा ६ मात्रा धमार १४ मात्रा कहरवा ४ मात्रा झूमरा १४ मात्रा दीपचन्दी १४ मात्रा, धीमा तिताल १६ मात्रा फरोदस्त १३ मात्रा सुरफाख्ता १० मात्रा गजल का ठेका ६ मात्रा होरी का ठेका १४ मात्रा आदि[1] प्रयुक्त होती हैं।

देश में प्रचलित संगीत की दो कोटियों की अलग-अलग तालों का उल्लेख किया गया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि कर्नाटकी और हिन्दुस्तानी पद्धति की तालों में मूलतः वैषम्य है। इस प्रकार का भ्रम असन्दिग्ध रूप से निर्मूल है। इन दोनों कोटियों की तालों में पूर्ण साम्य है। इनके मध्य में जो अन्तर है वस्तुतः वह मुस्लिम संस्कृति और संगीत कला का प्रभाव है अन्यथा मुसलमानों के प्रभाव से पूर्व भारतीय संगीत का सम्पूर्ण विधान एक ही था। इससे उनकी तालों में अन्तर की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तालों की संगीत में आवश्यकता समझी जा सकती है। इस प्रकार काल-निर्धारण और काल-मात्रा परक ताल ही संगीत के छन्द कहे जा सकते हैं या कहे जाते हैं। जिस प्रकार छन्द काव्य के अन्तर्गत भाव धारा की गति को सुस्पष्ट करते हैं उसी प्रकार संगीत में तालें राग रागनियों का स्पष्टीकरण करती हैं। इस प्रकार तालें ही संगीत के छन्द हैं।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यह सरलता से उल्लेख किया जा सकता है कि साहित्य के अन्तर्गत राग-रागनियों की लय से जो गीत या पद की परम्परा गृहीत हुई उसमें तालों का पूर्ण समावेश रहा। उनके रचयिता संगीत से पूर्ण विज्ञ थे अन्यथा वे इस प्रकार के प्रयोग काव्य-क्षेत्र में करने में समर्थ ही नहीं होते। एक बात यहाँ पर और ध्यान देने की है कि संगीत से विज्ञ इन भावुक कवियों ने अपनी भावना को पिरोने में राग रागनी का तो पूर्ण ध्यान रखा है किन्तु ताल के सम्बन्ध में उनका कहीं भी दुराग्रह नहीं रहा है। उनकी इस उदाराशयता से उनके राग और रागनियाँ विविध तालों में भी गाई जा सकती हैं।

संगीत की ताल के इस ईंट और गारे से ही काव्य के अन्तर्गत पदों अथवा गीतों की भित्ति का निर्माण हुआ है। उनके निर्माण कर्ताओं ने वस्तुतः पूरे उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्य को कृति पर लाने की चेष्टा की है, उसमें जिस अध्यवसाय और मनोयोग की आवश्यकता थी उन्होंने उसका उपयोग किया है। इसी से संगीत

---

१ के वासुदेव शास्त्री—संगीत-शास्त्र ताल प्रकरण

२. Though the nomenclature varies, as might be expected the theory of tala (as time measure is called) in the north and south is more uniform that of Vaga
H. A. Popley—The Music of India—Tal or Time measures Page 12.

ऐसा विषयक पच्चीकारी से वह काव्य के कोष में भावनाओं के भराव मुकुलित कर सके हैं। निस्सन्देह उनका यह कार्य बहुत बड़ा था। अपभ्रंश काल से अद्यावधि तक इस क्षेत्र में कार्य करने वाले संगीतज्ञ कवियों ने साहित्य को तो उठाया ही है किन्तु अपनी मनोरम भावनाओं के प्रयोग के कारण उन्होंने संगीत को भी नवीन दिशा दी है। सूर तुलसी मीरा तथा अन्य राम और कृष्ण सगुण भक्त तथा नानक कबीर, नानक दादू आदि निर्गुण भक्त कवियों ने साहित्य और संगीत दोनों क्षेत्रों के लिए अधिकारपूर्वक काम किया है। इसी से साहित्य क्षेत्र में यदि उनकी मान्यता है तो संगीत में भी उनका स्थान अक्षुण्ण है। आज भी इनके पद या गीत जन-समाज के कण्ठहार हैं और गायक तो उनको गाकर अपनी गायिकी को कृतार्थ करता ही है।

गो० तुलसीदास ने काव्य क्षेत्र में प्रचलित सम्पूर्ण काव्य-शैलियों में अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया है। इन सभी के माध्यम से वह राम-भक्ति जन-जन तक पहुँचाने में सफल हुए थे और आज भी उनका काव्य आस्तिक हिन्दू-समाज का अभि प्रेरित करता है। पद-शैली में उन्होंने कृष्णगीतावली गीतावली और विनयपत्रिका तीन काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। इनमें प्रयुक्त काव्य सामग्री का विगत अध्यायों में परिचय दे दिया गया है इससे इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी कहना अनावश्यक है।

तुलसी ने अपने इन तीनों पद-काव्यों की भावनाओं को सुग्राह्य और सुस्पष्ट करने के लिए इन २५ राग रागनियों की प्राण प्रतिष्ठा की है—

आसावरी कान्हरा केदारा गौरी धनाश्री नट बिलावल मलार, ललित सोरठ, कल्याण चंचरी जयश्री टोड़ी भैरव मारू रामकली बसन्त बिहाग सारंग सूहो दण्डक, बिहाग भैरवी सूहा बिलावल आदि।

स्वर प्रधान होने के कारण संगीत के अन्तर्गत मात्रिक छन्दों की ही मान्यता है। वर्णों में मात्राओं के प्रयोग के कारण संगीत की तान उनमें उचित रूप में अनुकूल बैठती है। वर्णिक छन्दों में मात्राओं की उपेक्षा रहने के कारण संगीत की तान के अनुशासन में लाने के लिए गायक को कहीं द्रुत अथवा कहीं विलम्बित गति का आश्रय लेना पड़ेगा। अन्यथा वह वर्णिक छन्द के साथ न्याय न कर सकेगा और ताल के असन्तुलित रहने का अपयश उसे सहन करना पड़ेगा।

गो० तुलसीदास ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों को अपनी पद शैलियों का आधार बनाया है। विवेचन और स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए इस स्थल पर मैं एक-एक राग के अन्तर्गत प्रयुक्त छन्दों पर विचार करूँगा।

१ आसावरी

कृष्णगीतावली—की पद संख्या ३ में ८ में १० और १३ मात्राओं को छन्द लेकर १० मात्राओं का पंक्ति की मानना २ और ६ पद में १६ मात्राओं का छन्द लेकर २८ मात्राओं का सार छन्द और ६० तथा ६१ पद में ७ और १६ मात्राओं

की टेक लेकर ३२ मात्राओं का रूप सवैया प्रयुक्त है।

गीतावली—के बालकाण्ड के प्रथम पद में १६ मात्रा की टेक से सार अयोध्याकाण्ड के ९८वें पद में १६ मात्रा की टेक से २७ मात्रा का 'सरसी' और उत्तरकाण्ड का २०वाँ पद २६ मात्रा का 'विष्णु पद' है। बालकाण्ड के पद सं १२ से १५ तक और लंकाकाण्ड के १७ तथा १८ पदों में मिश्रित मात्रिक छन्दों का प्रयोग है। जिनकी मात्राओं में व्यतिक्रम है।

गीतावली में उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड के १० ११ सुन्दरकाण्ड के २३ २४ २५ पदों में घनाक्षरी (मनहर) और सुन्दरकाण्ड के २६ तथा २७ पदों में १६+१४=३ वर्णों की 'अनियमित दण्डक' है।

विनयपत्रिका—के पद ६२ और १८६ में १६ मात्रा की टेक से सार छन्द पद १८६ में १४ मात्रा की टेक से विष्णु पद और पद १८७ में १७ मात्रा की टेक से २९ मात्रा के मरहठा छन्द का प्रयोग है। पद १८३ और १८४ में 'अनियमित दण्डक' और १८८ में १६ मात्रा की टेक से सरसी छन्द प्रयुक्त है।

२ कान्हरा

कृष्णगीतावली—के पद २५ और ५० में रूपसवैया तथा पद ५१ में सार छन्द है तीनों पदों में १६ मात्रा की टेक है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद २६ १२ सुन्दरकाण्ड का पद १२ लंकाकाण्ड के पद २ ३ ४ १६ उत्तरकाण्ड का पद १७ सभी में रूपसवैया छन्द और बालकाण्ड के ६५, ६६, ६ १०२, ११० में 'सार' छन्द है। इन सभी पदों में अधिकांशतः १६ मात्रा की ही टेक है। बालकाण्ड के ११० और लंकाकाण्ड के १०४ संख्या के पद में १७ मात्रा बालकाण्ड के १०१ वें पद में ११ और लंकाकाण्ड पद ३ में १८ मात्रा की टेक है। बालकाण्ड का पद ७५ और १०१ विषम मात्राओं का मिश्रित छन्द है।

विनयपत्रिका—पद २४ २०४ में १६ मात्रा की टेक और पद २०५ और २०६ में क्रमशः १७ और १७ मात्रा की टेक से रूपसवैया छन्द का प्रयोग किया गया। पद २०७ मात्रिक मिश्रित छन्द है।

३ नट

कृष्णगीतावली—पद २० में २१ मात्रा की टेक से ४० मात्रा का 'विजया' छन्द है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद ४० ४१ में २४ मात्रा का 'शोभन' पद ४१ में सरसी पद ५० में सार छन्द है इनमें क्रमशः १५, १४ १५ १६ मात्राओं की टेक है। इस राग के अन्तर्गत इसी काण्ड में पद ४३ ३१ ५२ विषम मात्राओं के

मिश्रित छन्द है।

विनयपत्रिका—पद १२८ १२६ और १६ में भी तोमर छन्द का प्रयोग हुआ है।

४ ललित

कृष्णगीतावली—पद २ में 'अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द का प्रयोग है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद १३ और उत्तरकाण्ड के पद ११ में 'रूप घनाक्षरी' और पद ४ ४४ में घनाक्षरी (मनहरण) और पद ३४ (बालकाण्ड) में रूपसवैया प्रयुक्त है। उत्तरकाण्ड का पद २ की मात्राओं में बड़ा व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद ७६ और ७७ में क्रमशः घनाक्षरी (मनहरण) और रूपघनाक्षरी वर्णिक छन्द है। पद ७५ मिश्रित मात्राओं का छन्द है।

५. विभास

गीतावली—बालकाण्ड के पद १६ में १८ मात्रा का रूपसवैया छन्द है। पद संख्या १८ और १६ में ४६ मात्रा का चचरी छन्द है। इन सभी पदों में पूर्ण पंक्ति की ही टेक है। पद १७ में मात्राओं का बड़ा ही व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद ७४ में ४४ मात्रा का विजय छन्द है इसमें पूर्ण पंक्ति की ही टेक है।

६ सारंग

गीतावली—बालकाण्ड के पद ४७ में विष्णु पद ४८ में १ मात्रा का चौपाया पद ६२ ६६ ६८ में सार और पद ७८ ७६ ८० में तथा अयोध्याकाण्ड के पद ४२ और ४६ में रूपसवैया है। इनमें अधिकांश में १६ मात्रा की टेक है।

विनयपत्रिका—पद ३ १२२, १२६ १२७ पदों में २६ मात्रा का मरहट्टा छन्द है। इनमें १२५ पद में १६ मात्रा की टेक है और शेष में १२ मात्रा की।

७. सूहो

गीतावली—बालकाण्ड-पद २७ २६ में २६ मात्रा का विष्णु पद छन्द है। बालकाण्ड का पद २८ और अरण्यकाण्ड में पद १७ मिश्रित मात्राओं के छन्द हैं। उत्तरकाण्ड का पद १६ में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।

८. सूहो बिलावल

विनयपत्रिका—पद ११६ में १६ मात्रा की चौपाई और २८ मात्रा की हरिगीतिका संयुक्त प्रयोग है। पद ११५ में मात्राओं की बड़ी विषमता है।

९. राग सोरठ

कृष्णगीतावली—पद ११ ३४ और ३५ सभी में 'सार छन्द है इनमें १६ १६ और १२ मात्राओं की टेक है।

गीतावली—बालकाण्ड के पद ८ ६, ६६—१०२ अयोध्याकाण्ड के पद १ ४ ११—१६, ८२—८७ अरण्यकाण्ड के पद ६—८ ११—१६ लंकाकाण्ड के पद

६, ७, ११ में सार छन्द है। इनमें १६ मात्रा की टेकों का ही अधिकांश में प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं १७ १८ १६ मात्राओं की टेकें भी आई हैं। अयोध्याकाण्ड के पद ३७ ३८ सुन्दरकाण्ड के पद ३ ४ ५ और उत्तरकाण्ड के पद १ २४—२६, ३१—३७ में २३ मात्रा का शोभन छन्द प्रयोग में आया है। इनमें २३ मात्रा की पूर्ण पंक्ति की ही टेक है। अरण्यकाण्ड के पद ३ में मरहटा और उत्तरकाण्ड के पद १० में विषम पद छन्द है। इनमें क्रमश: १८ और १६ मात्रा की टेक है।

अयोध्याकाण्ड के पद १२ की मात्राओं में विषमता है।

विनयपत्रिका—पद १६२—१७१ में 'सार' और १७७ में चौपाई छन्द है। इनमें सभी में १६ मात्रा की ही टेक है। पद १७६ और १ ८ विषम मात्राओं के मिश्रित छन्द हैं।

१० राग मारू

गीतावली—बालकाण्ड के पद ८१ ८ लंकाकाण्ड के पद १ ६ में हरिपद (सरसी) छन्द है। लंकाकाण्ड की पद ८ सार छन्द है। सुन्दरकाण्ड में पद १६, १४ १५ और २२ सभी में 'विषम मात्राओं की पंक्तियाँ होने से छन्द का निरूपण कठिन है।

विनयपत्रिका—पद १६, १७ मात्रा का सरसी छन्द है इसमें २० मात्रा की टेक है।

११ राग मलार

कृष्णगीतावली—पद १८ में १६ मात्रा की टेक है और सरसी छन्द है। पद ३२, ३६—४६ सभी में सार छन्द है। इनमें १६ १७ १८ १६, २१ मात्राओं की टेकें प्रयुक्त की गई हैं।

गीतावली—बालकांड के पद ६२, ६१ ८१ में 'सार' उत्तरकांड के पद १८ में ३० मात्रा का चौबोला छन्द आया है। अयोध्याकांड का पद ५ और अरण्यकांड का पद १ की पंक्तियाँ विषम मात्राओं से परिपूर्ण हैं।

विनयपत्रिका—पद १११ में २० मात्रा की टेक है और ६१ में 'सार' छन्द प्रयुक्त है।

१२ राग भैरवी

विनयपत्रिका—पद १६८—२०२ में सार छन्द है और इनमें १६६ और २०० संख्या में १८ मात्रा की टेक है और शेष सभी में १६ मात्राओं की टेक है। पद २ ३ में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।

१३ राग भैरव

गीतावली—अयोध्याकांड के पद २७ २८ में अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द है और उत्तरकांड के १२, १४ १५ पदों में सार छन्द है सभी पूर्ण पंक्ति की टेक है।

विनयपत्रिका—पद २२ ६५ में 'सार' छन्द है पूर्ण मात्रा की टेक है। पद ६६—७१ ७३ में अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द है। पद ७२ भी २८ वर्ण का वर्णिक छन्द है।

१४ दण्डक

विनयपत्रिका—में पद १७ दण्डक है। इस पद की मात्राओं में बड़ा व्यति क्रम है। यह संगीत का राग न होकर काव्य का वर्णिक वृत्त है।

१५ राग बसन्त

गीतावली—अयोध्याकाण्ड के पद ४८ ४९ सुन्दरकाण्ड के पद १६ उत्तरकाण्ड के पद २२ और विनयपत्रिका के पद १३ १४ ... सभी में चौपाई छन्द का प्रयोग है।

१६ राग रामकली

गीतावली—अयोध्याकाण्ड के पद ८ ... ८१ में २१ मात्रा का प्लवंग छन्द पद ८२ में २२ मात्रा की सारवती है। उत्तरकाण्ड के पद में ... मात्रा का सावनी है।

विनयपत्रिका—पद ६ ७ में चौपाई पद ६ में १६ मात्रा की टेक के साथ सार छन्द पद ११ १७ में ४४ मात्रा का विजय छन्द पद ४८ में ४ मात्रा का विजया छन्द पद ४६ ४७ ४६, ५०—६१ १०६ में ३७ मात्रा का करखा छन्द है।

१७ राग बिहाग

विनयपत्रिका—पद १ ७-११ में २२ मात्रा का दिग्पाल छन्द है पद १११ से १२४ तक १६ मात्रा की टेक के साथ 'सार' है पद १ ५ में २८ मात्रा का हरिगीतिका छन्द प्रयुक्त हुआ है पद १२६ से १२८ की चौपाई विद्यमान है। पद १२६—१३४ विविध मात्राओं के छन्द हैं। पद १२६ से १३४ तक के छन्दों में मात्राओं की विषमता के कारण वे मिश्रित छन्द हैं।

१८ रागवरी

गीतावली के अयोध्याकाण्ड में पद ४३ और ४४ में ४४ मात्रा का 'विजय' छन्द प्रयुक्त हुआ है।

१९ राग धनाश्री

कृष्णगीतावली—पद ६६ ७० में 'सारवती' ... ६ में सार ... ११ में रूपमाला छन्द है इनमें पद २६ में १७ मात्रा की टेक है और पद सभी में १६ मात्रा की टेक भी प्रयुक्त है। पद २८ और ... की पंक्तियों में मात्राओं की विषम संख्या है।

गीतावली—बालकाण्ड-पद १६ में १६ मात्रा की टेक के साथ 'सार' सुन्दर काण्ड-पद ४५ में 'सरसी' और ४६ में विष्णुपद है इनमें क्रमशः १७ १८ मात्रा की टेक है लंकाकाण्ड के पद २१ में रूपमाला है इसमें १६ मात्रा की टेक है।

विनयपत्रिका—पद ४ में 'रूपमाला' पद ३ ८५, ८७ ८८ ६० ६१—६६, १०१—१०५ में अपरिवर्तित १६ या १८ टेक देकर सार छन्द का प्रयोग किया

गया है। पद ८१, ८८, ९१ में २६ मात्रा का 'विष्णुपद' छन्द है, जिसमें १४ मात्रा की टेक है। पद १०० में २७ मात्रा का सरसी छन्द है जिसमें १५ मात्रा की टेक है। पद ११, १२, २५—२६, ३८—४ सभी में जो स्तोत्र हैं १७ मात्रा के करखा छन्द का प्रयोग है।

२० राग बिलावल

कृष्णगीतावली—पद १ में २२ मात्रा की टेक के साथ २२ मात्रा का कुण्डल पद २१, २ में १६ मात्रा की टेक के साथ 'रूपघनाक्षरी' पद २४ में १ मात्रा का 'लावनी' छन्द है। पद १६, १७ और १८ की मात्राएँ विषम हैं।

गीतावली—बालकाण्ड—पद ३ और ७ में 'चौबोला' पद २४ १ में चौपाई बालकाण्ड के पद १०८ अयोध्याकाण्ड के पद ५, ६, १४ सुन्दरकाण्ड के पद २० और ११ उत्तरकाण्ड के पद १६ में रूपघनाक्षरी छन्द बालकाण्ड के पद १७ में सार अयोध्याकाण्ड के पद ६ में १ मात्रा का ताटंक। पद ८ में ३ मात्रा की लावनी पद ११ में २८ मात्रा की टेक से १२ मात्रा का दुमिल पद १५ में १५ मात्रा की टेक से ११ मात्रा का वीर छन्द पद १६ और १७ में ४६ मात्रा के चवरी छन्द का प्रयोग है। बालकाण्ड का पद १५ अयोध्याकाण्ड के पद ७, १, १२ विषम मात्राओं से युक्त है।

विनयपत्रिका—पद १, २, १२६, १२७ और १२८ में चौपाई, पद ३, ११६, १४ में रूपघनाक्षरी पद २१, १११—१२४, १४१, १४३, १४६ में सार छन्द पद १०७—११० में २२ मात्रा का दिग्पाल पद १२—१५ में २३ मात्रा का हीरक पद ११५, १४ मात्रा का रूपमाली छन्द है। पद ११७, ११८ और १४१ में चौबोला पद १४४ में 'सरसी' पद १४७—१५३ में २२ या २३ मात्राओं का 'विषम छन्द' पद १५१ में १, मात्रा का वीर छन्द और १५४ पद में २ मात्रा की टेक के साथ 'लावनी' छन्द का प्रयोग है।

पद १२६—१३४ और १७६—१८२ पदों में पंक्तियों की मात्राएँ विषम हैं।

२१ राग टोड़ी

गीतावली—बालकाण्ड के पद ४६ में चौबोला पद ४६, ६२ और ६८ में सार पद ६१, ६४, ६६, ६७, ६६—७४, ८४—८८, ९२, ९४—९६ में घनाक्षरी (मनहरण) वर्णिक छन्द और लंकाकाण्ड के पद २१ में लावनी छन्द का प्रयोग हो रहा है।

विनयपत्रिका—पद ७८—८ में २२ मात्राओं का दुमिल पद ८१, ८२ में 'सार' छन्द का प्रयोग है।

२२ राग जैतश्री

गीतावली—बालकाण्ड पद २ और २८ में 'सरसी' बालकाण्ड पद ४ लंकाकाण्ड के पद २२ में 'सार' सुन्दरकाण्ड के पद ६ में रूपघनाक्षरी छन्द है। बालकाण्ड के पद ६ सुन्दरकाण्ड के पद १७, ४० और उत्तरकाण्ड के पद १० में पंक्तियों की

मात्राएँ विषम हैं।

विनयपत्रिका—पद ६१ ८१ और ८५ में ३० मात्रा की 'मावनी' छन्द का प्रयोग है इसमें क्रमशः १६ १८ १८ मात्राओं की टेक है।

२३ राग केदारा

कृष्णगीतावली—पद १४ में १४ मात्रा की टेक के साथ और पद ५२ और ५५ में १६ मात्रा की टेक के साथ २४ मात्रा का रूपमाला छन्द है। पद ११ और १७ में घनाक्षरी (मनहरण) वर्णिक छन्द है। पद ७ ८ और १५ की पंक्तियों की संख्या में व्यतिक्रम है।

गीतावली—बालकाण्ड पद में दोहा और हरिगीतिका नाना छन्द प्रयुक्त हैं। पद १८ १९ ८१ ७१—७६, ८८ ८६ सुन्दरकाण्ड पद १ ४४ लंकाकाण्ड में पद ६, १० १२ १३ सभी में 'सार' छन्द बालकाण्ड पद २ २८ ६७ में रूपमाला बालकाण्ड पद ७० में चौबोला बालकाण्ड पद १०४ १०५ १ ६ किष्किन्धाकाण्ड १ सुन्दरकाण्ड १० ११ १६, २० २१ ४६ लंकाकाण्ड पद ११ सभी में रूपसवैया बालकाण्ड पद १०७ लंकाकाण्ड के पद १५ में लावनी सुन्दरकाण्ड के पद २, ६ लंकाकाण्ड के पद १४ उत्तरकाण्ड के पद ६ २१ में सोमन छन्द सुन्दरकाण्ड के पद १८ १६ ४१ ४२ सभी में २६ मात्रा का मरहट्टा छन्द है। उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त इस राग में वर्णिक छन्द भी है बालकाण्ड के पद १ ११ अयोध्याकाण्ड के २६ १२—१४ में घनाक्षरी (मनहरण) बालकाण्ड के पद ८२ में ३२ वर्णों की रूप घनाक्षरी बालकाण्ड पद ८१ अयोध्याकाण्ड ३७ सुन्दरकाण्ड पद ४८ में अनियमित दण्डक है। बालकाण्ड—पद २० २१ अयोध्याकाण्ड—पद १६, २४ २५ ३८ ३६, ४० ६६—७२ अरण्यकाण्ड पद १ सुन्दरकाण्ड ७ ८ १० २८—३७ ४० लंकाकाण्ड पद ११ सभी पदों की पंक्तियों की मात्राएँ विषम हैं।

विनयपत्रिका—पद ४४ में ३७ मात्रा का करखा छन्द है। पद ४१ ४२ ४३ २१२ २१३ में मात्राओं का व्यतिक्रम है।

२४ राग गौरी

कृष्णगीतावली—पद ६—११ १६, २६—२६ में १२ मात्रा का रूपमाला और पद २१ में हरिगीतिका छन्द है।

गीतावली—बालकाण्ड—पद ४६ अयोध्याकाण्ड ६१—६८ ८४ में 'सार' बालकाण्ड पद ४७ में 'विष्णु पद' अयोध्याकाण्ड पद ३ १५, ३६ लंकाकाण्ड पद २० में 'रूपसवैया' अयोध्याकाण्ड पद ५६, ८३ में गरमी उत्तरकाण्ड पद २१ में 'दोहा' अरण्यकाण्ड पद ६ में ३० वर्णों का अनियमित दण्डक छन्द है। अयोध्याकाण्ड पद २, ४७ ६० अरण्यकाण्ड पद १ में मात्राओं का व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद ११ में 'मरहट्टा' पद १६ में चौपाई पद ४५ में ताटंक पद १६१ १६२ में 'दोहा' पद १६४ १६५ में 'सार' और पद १६६, १६७ में

अनियमित दण्डक वर्णिक छन्द है। पद १९० और १९१ की पंक्तियों में व्यतिक्रम है।

२५ राम कल्याण

गीतावली—बालकांड पद २५ उत्तरकांड पद ३ ४ ७ में ४६ मात्रा का चंचरी पद ५१ में 'रूपघनाक्षरी' उत्तरकांड पद २ ६ में ४० मात्रा का विजया छन्द है। अयोध्याकांड-पद १८ और अरण्यकांड के पद २ तथा ४ में पंक्तियों की मात्राओं में व्यतिक्रम है।

विनयपत्रिका—पद २ ८ २११ २१४ २१९ में सरसी पद २०९—२११ में विजया पद २१४ २१५ १९ में 'शोभन' पद २१८ में रूपमाला पद २२६ में विष्णुपद पद २१० १२ २३५—२३८ में 'सार' पद २४ —२४५ में रूप-घनाक्षरी छन्द है। उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त पद २४६—२५७ में 'अनियमित दण्डक और पद २७८—२६४ में घनाक्षरी (मनहरण) वर्णिक छन्द भी है। पद २१६ २१७ और २२ में २६ मात्रा का मुक्तामणि और २४ मात्रा के शोभन छन्द के साथ-साथ प्रयुक्त किया गया है। पद २२१—२२५ २२०—२२६ २३१ एवं २६२—२७९ में पंक्तियों में विषम मात्राओं के कारण छन्द का निरूपण कठिन है।

निष्कर्ष—तुलसी ने विभिन्न रागों में जो-जो काव्यगत छन्द प्रयोग किए हैं उनका विवरण उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा चुका है। इस विवेचन के माध्यम से हम तुलसी के प्रत्येक पद में यथासम्भव प्रयुक्त छन्द को जान सकते हैं। इस स्थल पर यह कह देना अनुचित न होगा कि इन तीनों काव्यों में ऐसे बहुत से पद हैं जिनकी पंक्तियों की मात्राओं में विषमता है और चेष्टा करने पर भी उनके छन्द का निरूपण न हो सका। ऐसे पदों में गेयता है किन्तु पद की प्रत्येक पंक्ति में जब मात्राओं की विषम संख्या है तब छन्द का निर्णय असम्भव है। काव्य विषयक यह कठिनाई गीत की गेयता में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत नहीं करती। क्योंकि तुलसी के पदों का गायक अपनी द्रुत या विलम्बित गति से मात्राओं की असमानता की खाई को पाट कर ले जाता है और श्रोता को उसका अनुमान भी नहीं हो पाता।

छन्द विषयक उपर्युक्त विवेचन में हमने यह देखा है कि तुलसीदास ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में रूपघनाक्षरी रूपमाला हरिगीतिका सरसी विजया कुण्डल लावनी सार विष्णुपद, चौपाला चंचरी शोभन मरहट्टा दोहा विजय चौपाई, पुलिस वीर, मुक्तामणि करखा हीरक दिग्पाल स्वरूपी प्रिया आदि और वर्णिक छन्दों में घनाक्षरी अनियमित दण्डक रूप घनाक्षरी आदि का प्रयोग हुआ है।

०

६

तुलसीदास के पदों में संगीत का शास्त्रीय स्वरूप

विषय प्रवेश

मुसलमानों के आतङ्कों के मध्य म जब भारतीय संस्कृति और दर्शन के माध्यम से जन जीवन और धर्म के आदर्शों के संरक्षण की समस्या उठी तब भावुक भक्त कवियों ने अपने पदों के लिए संगीत की प्रबन्ध शैली को स्वीकार किया। यह शैली परम्परागत थी और दीर्घकाल से संगीत के विशुद्ध तत्त्वों को अपने में सन्निविष्ट किए थी। उसी को तुलसी ने भी अपने पदों के लिए अपनाया था जिसका सम्यक् विवेचन गीति-शैली के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस स्थल पर गीति शैली के निरूपित तथ्य का विश्लेषण करके यह देखना है कि उसमें शास्त्रीय तत्त्वों का सन्निवेश कहाँ तक है? शास्त्रीय संगीत में राग रागिनियों के लक्षण मान-ताल और रस का सर्वत्र ध्यान रखा जाता है। गायक अपने गान में इन तत्त्वों का कभी अतिक्रमण नहीं करता। फलतः हम भी इन्हीं तत्त्वों को लेकर तुलसी के पद साहित्य म संगीत के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण करेंगे।

उपर्युक्त इङ्गित विवेचन में प्रविष्ट होने से पूर्व इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि गो॰ तुलसीदास या अन्य किसी भक्त कवि ने अपने पदों के मान का कोई लक्षण या किसी प्रकार का स्वरावृन्त नहीं किया है। केवल राग-नामों को ध्यान में रखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अपने पदों म उपर्युक्त तत्त्वों का उन्होंने कहाँ तक उपयोग किया है? इस कठिनाई के कारण आज का कोई भी भारतीय संगीत का गायक या आलापक विवरण से उसका जो रूप भी रखना चाहे रख सकता है किन्तु उसके शास्त्रीय स्वरूप का ध्यान रखना अवश्य ही अनिवार्य होगा अन्यथा पद रचयिता के साथ अन्याय होने की पूर्ण सम्भावना है।

प्राचीन रागों से गायन म आलाप[1] का भी प्रमुख स्थान रहा है। अपनी वाणी

---

१ ग्रहांशमन्द्रतारांणां न्यासापन्यासयोस्तथा।
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडवयोरपि॥
अभिव्यक्तियत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते॥

—(संगीत रत्नाकर २ २१ ४)

से विभिन्न स्वरों की ध्वनियों को प्रकट करता हुआ गायक पेम राग का स्वरूप अंकित कर देता है और गीत की सम बैठा लेने पर वह राग-मान का सूत्रपात करता है। उसको राग-मान में 'ताल' का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है क्योंकि उसके आधार पर ही राग-गति ठीक रखी जा सकती है।

यद्यपि राग के उपर्युक्त तत्त्वों का तुलसी के पद-काव्य में संकेत नहीं है किन्तु उन्होंने उनका ध्यान अवश्य रखा होगा अन्यथा शास्त्रीय संगीत का स्वरूप प्रस्तुत करने में उन्हें कठिनाई होती और वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते।

अब आलोच्य विषय के आधार पर तुलसी के पदों में शास्त्रीय संगीत के स्वरूप का आकलन करना आवश्यक है।

१ राग के लक्षण

गो० तुलसीदास ने अपने तीनों गीत काव्यों में आसावरी कान्हरा केदारा गौरी धनाश्री नट बिलावल मलार ललित सोरठ कल्याण चंचरी जैतश्री टोड़ी भैरव मारू रामकली बसन्त बिभास सारंग सूहो दण्डक बिहाग भैरवी, सूहो बिलावल आदि रागों का उपयोग किया है। इन सभी रागों में 'दण्डक' संगीत शास्त्र में प्रचार नहीं मिला है। तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के पद १० में 'दण्डक' का उल्लेख है। उसका केवल एक ही पद है। उसको 'राग दण्डक' न लिखा होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह कोई राग न होकर काव्य का वर्णिक छन्द है। शेष सभी रागों के लक्षण संगीत शास्त्री के रीति-ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। महाकवि तुलसी ने अपने काव्यों के लिए यह लक्षण उन्हीं से लिए और यथोचित रूप से उनको काव्य में प्रयोग कर भक्ति की रसमयी धारा को प्रवाहित किया।

तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त सम्पूर्ण रागों के शास्त्रीय स्वरूपों का विवेचन आवश्यक होते हुए भी इस स्थल पर कुछ रागों को ही लेकर महाकवि की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एक धारणा प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है।

१ राग आसावरी

रागिण्यासावरीयं मृदुगमधनिभिःसौवीरकेनार्चयेच ।
संवन्मारोहणे या खलु गनिरहिता चावरोहे तु पूर्णा ॥
वादी स्यार्द्धैवतोऽस्यां श्रुतिर्विरतरो मध्यमांशाभीष्टो ।
दिव्यनतान प्रतारैर्मृदुमधुरतरैर्गीयते संयमे वा ॥

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

इस राग में वादी—ध सम्वादी—ग स्वर—ग ध, नि कोमल आरोह में वर्जित स्वर—ग नि आरोह—सा रे, म प ध सां अवरोह—सां निध, प मग, रेसा। जाति—औडव सम्पूर्ण।

२ राग भैरव

रागाग्रिमो भैरवाख्यो मृदुऋषभ मपस्ताधमस्तोकमिश्रः ।
वाद्यस्मिन् धैवतो साम्प्रतम् इह तु संवादिरूपोऽभिगीतः ॥
आरोहेऽप्यवरोहेऽपि क्वचिदपि मधुरि प्राहुरेके विकल्पं ।
प्रातःकालेषु नित्यं जगति सुमतिभि सुस्वरं गीयतेऽसौ ॥

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—ध संवादी—रे, स्वर—रे ध कोमल और शेष सभी स्वर शुद्ध आरोह—सा रे ग म प ध नि सा अवरोह—सानिध प म ग रेसा जाति—सम्पूर्ण गान-समय—प्रात ।

३ राग भैरव

ग्रामोत्पन्ना रिगमधमया कोमला मोऽशवादी ।
स संवादी स्वाविरुपि यतो वादि संवादिनो च ॥
प्रातर्गेया सुखविरतरा स्वरियो सवगम्या ।
सम्पूर्णा सामगयति सुर्प भैरवी रागवीयम् ॥

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—म संवादी—स स्वर—म शुद्ध शेष सभी स्वर कोमल आरोह—सा रेगम पध निसां अवरोह—सां नि ध प मग रेसा जाति—सम्पूर्ण गान समय—प्रात ।

४ राग बिलावल

रागो वैलावलोऽनि प्रथित इह सदा शाम्पतोऽयस्वरेषु ।
षड्जग्रामसमुहोऽयं प्रकृति शुद्धविरो धैवतांशो गर्मधी ॥
कल्याणानां समानो विलसति नियमोऽवरूपा वाम नित्यं ।
प्रातर्गेयोऽभिगीतो रमयति हृदयं गुण्वतामेव पूर्ण ॥

—(राग कल्पद्रुमांकुर)

वादी—ध संवादी—ग स्वर—सभी शुद्ध आरोह—सा रे ग म प ध नि सां अवरोह—सां नि ध प म ग रे स जाति—सम्पूर्ण गान-समय—प्रात ।

राग मारू

षड्जस्वरसमुद्भूतो गान्धारोद्ग्राहसंयुत ।
आरोहे त्यक्तयो रमो गान्धारकम्पितोदितः ॥
अवरोहपासंयुत- पूर्ण स्वरत्वागमयन ।
गान्धारोनिर्गनिधारातो गान्धर्वेरीरितो मुदा ॥

—(संगीत पारिजात ४७४ ४७१)

वादी—ग संवादी—नि स्वर—म कोमल तीव्र वर्जित स्वर—आरोह मे रेप आरोह—प नि सा ग मे प नि सां अवरोह—नि रे नि ध प मे ग रे सा

जाति—औड़व सम्पूर्ण गान-समय—दिन का अन्तिम प्रहर।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर कृष्णगीतावली गीतावली और विनयपत्रिका के पद जो इन रागों के अन्तर्गत आते हैं सरलता से गाए जा सकते हैं। अवशेष रागों के सम्बन्ध में भी यह तथ्य सत्य सिद्ध होता है। इस प्रकार यह सरलता से सोचा-समझा जा सकता है कि गो॰ तुलसीदास ने अपने समय तक प्रचलित रागों के भेदों को ही अपनी पदावली के लिए चुना। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उनके पद-काव्यों के स्वरांकित न होने पर भी संगीत के रीति-ग्रन्थों में प्रतिपादित लक्षणों के आधार पर उनके पद गाए जा सकते हैं और यथापि संगीत शास्त्री गाते हैं। फलतः उनके पदों में शास्त्रीय संगीत का स्वरूप समाहित है जो अपने स्वरूप में संगीत को और भाव-धारा में काव्य को चिर-स्थायी किए हैं।

२ राग-गान-काल

रागों के गान-काल की पद्धति प्राचीन काल से भारतीय संगीत में स्वीकृत और सर्वमान्य रही है। स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण से राग की प्राण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। फलतः सामाजिक का अपेक्षित रंजन नहीं हो पाता। रागों के समय का निर्धारण वस्तुतः प्रकृति और वातावरण के आधार पर ही निश्चित हुआ है क्योंकि उसी के अनुकूल राग के स्वर तथा अन्य अंग रहते हैं।[1]

गान-काल के सम्बन्ध में मैथिल कवि लोचन ने अपनी 'राग तरंगिणी' में निम्न सिद्धान्त दिए हैं—

तुम्बुरु नाटके

श्री पञ्चमी समारभ्य यावत्स्याच्छयनं हरेः।
तावद्वसन्त रागस्य गानमुक्तं मनीषिभिः॥
हरेरुत्थानं समारभ्य यावद्धर्मसुतोत्सवम्।
यथा तावद्भूमित्य स्तानपी या मनोहरा॥
प्रातश्चरतु वेलायां ललिता खसकरी।
विभासो भैरवी चैव कामोदो मध्यदस्यपि॥
एका वराटी मध्याह्ने तावदूर्ध्वं तु मालवी।
मारवश्च विशेषेण गय गेयस्तु सर्वदा॥
हिन्दोलश्च वसन्तश्च गतस्य रक्तिदायक।

---

१ एवं कालविधिं ज्ञात्वा यो गायेत् स सुखी भवेत्।
रागवेला प्रगानेन रागाणां हिंसको भवेत्॥
स शृणोति च दारिद्र्यं आयुर्नश्यति सर्वथा॥
—(संगीत मकरन्द—७१ ७४)

नाटो गोडो बराडी च गुर्जरी देशिरेव च ॥
पूर्वाह्णे गान्मेतवां मिथिलामिति तहित ।
मे अपराह्णे गातव्यौ भैरवी ललितो कदाचित् ॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में श्री पंचमी से हरिशयन श्री सम्वेद आषाढ दुहन तक का 'वसन्त राग' अनन्तर हिन्दोलयान एक पर्व से दुर्गामहोत्सव तक 'मालवी राग-गान का विधान इंगित है। देशाख ललित पटमंजरी विभास भैरवी कामोद मण्डक आदि राग प्रातः वेला बराडी मध्याह्न वेला कर्णाट मालव नाट सायं वेला तथा राग राग सभी समय गेय है। हिंडोल वसन्त आदि राग वसन्त ऋतु में ही गानयोग्य है। नाट गोड बराडी गुर्जरी आदि रागों का पूर्वाह्न में और उसी प्रकार भैरवी तथा ललित को कभी भी अपराह्न में न गाना चाहिए। आगे चलकर लोचन कवि ने भी 'राजाज्ञा से राग-गान में काल दोष नहीं लगता है' कहा है।[2]

उपर्युक्त से आगे लोचन कवि ने गान-राग के सम्बन्ध में विशेष रागों को लेकर और भी कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते गातव्यो भैरवो राग सत्तम ।
अरुणोदयवेलायां तथा रामकरी मम ॥
प्रातर्वेलावली गेया पूर्वाह्णे शुभगोऽपि च ।
पूर्वाह्णे याति गायेत टोडीमतिमनोरमा ॥
संकराभो बराडी च तथा गायकमायके ।
दिवा तृतीयप्रहरे गातव्यासावरी मम ॥
काडी मध्याह्न मध्ये तु सारंगोऽपि च योज्यते ।
अपराह्णे च गौडमल्लारु गायन मालवम ॥
अपराह्न कामशाले च सायाह्ने सति मालिका ।
सायंकाले तु कामोद गौरी रागस्तु भूतले ॥
निशामुखे तु कल्याण केदारस्तु महानिशि ।
तृतीय प्रहरे रागाधड़ानोऽपि च योज्यते ॥
द्वितीयप्रहरे रागो कर्णाट सर्वसम्मत ।
अपराह्न अपि सोरठपुष्पमाते संपरेऽपि च ॥
पञ्चमो मेघमल्लारे मल्लार परिगीयते ।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में ब्रह्ममुहूर्त से लेकर रात्रि दशा तक भैरव रामकरी

---

१ मैथिल कवि लोचन—राग तरंगिणी

—पृष्ठ १११ ११२ (दरभङ्गा राज प्रग)

२ 'रंगभूमी मृगाज्ञाया कालदोषो न विद्यते' —(राग तरंगिणी)

३ लोचन रागतरंगिणी पृष्ठ ११२

विभास, सूहा, टोडी, सारंग, बंगाली, आसावरी, काफी, सारंग, नट, मालव, गौरी, कल्याण, केदारा, कर्नाट, धारठ, मल्लार आदि रागों का गान-समय कवि द्वारा प्रदान किया गया है। विशिष्ट राग के लिए विशिष्ट समय के संकेत का कारण स्वयं लोचन कवि ने रागतरंगिणी में नहीं दिया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने मिथिला में भी भारत का सांस्कृतिक भू-भाग रहा है शेष देश के समान प्रचलित परिपाटी को लिपिबद्ध कर दिया।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि रागों के गान के सम्बन्ध में संगीत शास्त्र के ग्रन्थों में कोई विधान निर्मित नहीं हुआ था अन्यथा उसका उल्लेख अवश्य मिलता। इस सम्बन्ध में परम्परा-पालन ही चलता रहा।[1] फलस्वरूप राग-काल निर्धारण के सम्बन्ध में श्री भातखण्डे जी ने कुछ सिद्धान्त बनाए, जो आज के संगीत के विद्वानों को भी मान्य हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि श्री भातखण्डे जी ने एतत्सम्बन्धी परम्परागत तथ्यों की उपेक्षा नहीं की है। इसी से प्राचीन संगीत के राग-काल की कसौटी का बहुत कुछ समाधान उनके सिद्धान्तों से मिल जाता है। रायबहादुर विष्णु स्वरूप (Theory of Inbia musjc) मुरारि प्रसाद (हिन्दुस्तानी संगीत प्रवेशिका भाग २) एच. ए. पोपले (The music of India) श्री एच. रानाडे (Hindustoni Mnsio) एलेन डेनीलव (Northern Indian Musio) ओंकारनाथ ठाकुर (संगीताञ्जलि भाग १) ने रागकाल के सम्बन्ध में श्री भातखण्डे जी के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

इस स्थान पर भातखण्डे जी के तथ्यों का उल्लेख परमावश्यक है क्योंकि उन्हीं के प्रमाण से ही तुलसीदास की पद-प्रणाली में प्रयुक्त राग-काल के सम्बन्ध में कोई निर्णय किया जा सकता।

वे राग जो पूर्वांग (स से म तक) में वादी स्वर रखते हैं वे पूर्व राग कहे जाते हैं और उनका गान काल मध्याह्न से मध्य रात्रि तक और जिन रागों के उत्तरांग (प से स तक) में वादी स्वर होते हैं वे उत्तर राग कहे जाते हैं। इनका गान काल

---

१ प्राचीन काल से गान-क्रिया के समय निर्धारित होते आए हैं। वेद-पाठी द्विज के विशेष अवसरों पर सामगान करने वाले सामग भी प्रातः सवन मध्याह्न सवन और सायं सवन—ऐसे तीन काल विभागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का गान गाते थे। जब से राग-परम्परा का आरम्भ हुआ है तब से किस समय पर कौन-सा राग गाया बजाया जाय इसका उल्लेख ग्रन्थों में पाया जाता है। समय की मर्यादा निर्धारित करने में किसी विशेष नियम का परिपालन होता था या नहीं यह गवेषणा का विषय है।

—ओंकारनाथ ठाकुर—संगीताञ्जलि भाग १ पृष्ठ १९

मध्य रात्रि से लेकर मध्याह्न तक होता है। इनके अतिरिक्त प्रातः सायं आदि मिश्रित बेला के रागों को सन्धिप्रकाश राग कहा जाता है इनमें प्रातः सन्धिप्रकाश रागों में शुद्ध 'म' और सायं के सन्धिप्रकाश रागों में तीव्र 'म' रहता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त श्री भातखण्डे ने इन सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है—

१ अरुणोदय और सूर्यास्त बेला के सन्धिप्रकाश रागों में 'रि' 'ध' कोमल रहते हैं।

२ मध्याह्न और मध्यरात्रि के रागों में 'ग' और 'नि' कोमल रहते हैं।

३ जिन रागों में रि ग ध नि शुद्ध रहते हैं वे सन्धिप्रकाश के रागों के अनन्तर दिन या रात्रि के प्रथम प्रहर के राग हैं।

४ दिन या रात्रि के अन्तिम प्रहर के रागों में 'स' 'म' 'प' का आग्रह रहता है।

सायं बेला के सन्धिप्रकाश रागों में 'ग' 'नि' और प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों में 'रि' 'ध' का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।[1]

उपर्युक्त सिद्धान्तों तथा संगीत-परम्पराओं के माध्यम से गो० तुलसीदास के रागों का निम्न काल निर्धारण होता है—

१ उत्तर राग—(अ) प्रथम प्रहर—(६ बजे से ९ बजे तक प्रातः) विभास भैरव आसावरी

(आ) द्वितीय प्रहर (९ बजे से १२ बजे तक प्रातः) तोड़ी भैरवी सारंग सूहो बिलावल सूहा बिलावल।

२ पूर्व राग—(अ) दिन तृतीय प्रहर (१२ बजे से ३ बजे तक अपराह्न) धनाश्री

(आ) रात्रि प्रथम प्रहर (६ बजे से ९ बजे तक) कल्याण केदारा

(इ) रात्रि द्वितीय प्रहर (९ बजे से १२ बजे तक) नट सोरठ बिहाग कान्हरा

३ सन्धिप्रकाश राग (अ) (प्रातः बेला) ललित रामकली

(आ) (सन्ध्या बेला) मारू गौरी जैतश्री

४ ऋतु राग—(अ) बसन्त ऋतु, बसन्त चंचरी

(आ) वर्षा ऋतु,मलहार

तुलसी के गीता गीत काव्यों के उपर्युक्त राग परम्परागत शास्त्रीय आधार पर ही निर्मित हैं। इनमें उनमें गान काल का कोई व्यतिक्रम प्रस्तुत नहीं होता है।

---

1 Alain Danielou—Northern Indian Music Page 132

३ राग रस

राग रागिनी में रस-तत्त्व भी शास्त्रीय संगीत का एक अभिन्न अंग है। काव्य के समान संगीत में भी रसों की मान्यता है। यदि प्रथम के अन्तर्गत रस की मान्यता भाव-गत है तो द्वितीय में स्वर-गत। संगीत में स्वरों की तीव्रता और कोमलता के अतिरिक्त रस-जन्य प्रकार भेद उच्चार-भेद लय भेद गमक ताल आदि पर भी निर्भर करता है।

भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में शृंगार, हास्य करुण रौद्र वीर, भयानक बीभत्स अद्भुत आदि आठ रसों को अपने उल्लेख का विषय बनाया था। अनन्तर मनीषियों ने 'शान्त' नामक एक नवीन रस निरूपित किया। इस समय काव्य में वात्सल्य नाम के एक दसवें रस की भी मान्यता हो उठी है।

जैसा कहा जा चुका है कि काव्य का रस भाव के आश्रित है। भाव की मान्यता संगीत में भी है। इसी से भावानुकूल राग में स्वर-निर्धारण होता है। स्वरों के माध्यम से रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य भरत का निम्न सिद्धान्त संगीत में मान्य रहा है—

रसप्रयोगविहितान् स्वरांश्चैव निबोधत।
हास्यशृङ्गारयो कार्यो स्वरो मध्यमपञ्चमौ॥
षड्जर्षभौ च कर्तव्यौ वीररौद्राद्भुतेष्वथ॥
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यो करुणे रसे।
धैवतश्च प्रयोक्तव्यो बीभत्से सभयानके॥

—(ना शा० २६ १६ १८)

उपर्युक्त के आधार पर अन्य स्वरों के साथ मध्यम और पंचम स्वरों पर विशेष बल हास्य और शृंगार में षड्ज और ऋषभ पर वीर रौद्र तथा अद्भुत रस में गान्धार और निषाद पर करुण रस में और धैवत पर बीभत्स और भयानक रस में करना चाहिए।

ठीक उपर्युक्त के समान रस सिद्धान्त अहोबल पण्डित ने अपने 'संगीत पारिजात' में विवेचित किया है।

स रो हास्ये च शृङ्गारे स्वरौ स्यातां तथा धनी।
धो बीभत्से तथा रौद्रे भयानक रसे भवेत्॥
रसे शृङ्गारके रि स्यादन्तरगान्धारो हास्यको पुन।
नीवो वीरेऽद्भुते रौद्रे हास्ये तीव्रतराः स्वराः॥
तारतरोऽपि शृङ्गारे रसे मध्यम ईरितः।
तीव्रतमश्च शृङ्गारे मृदु गो हास्यके रसे॥
एवं रस विभाग स्यात्स्वरेषु सप्तसु ध्रुवम्॥ —(६१-६७)

रागों के विविध स्वरों पर ही रागों के पूर्ण स्वरूप[1] के विवरण भी संगीत शास्त्र में उपलब्ध हैं। रागों का पूर्ण स्वरूप संगीत के रस-निरूपण का प्रमुख साधन रहा है। संगीत कला की इस विशिष्ट प्रवृत्ति का ह्रास मुसलमानों के युग तक होता रहा है। तदनन्तर भारतीय संगीत कला में मुसलमानी प्रभाव के कारण वर्ण संकरता के प्रवेश होते ही इस प्रवृत्ति का उन्मूलन हो गया। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मुसलमानों में भक्ति भाव का अभाव था, इसलिए भारतीय संगीत के इस तत्त्व को कम उपयुक्त समझा। फिर राजकीय शक्ति उनके साथ थी, इसलिए उन्होंने उसकी उपेक्षा करने में ही अपने धर्म की सुरक्षा समझी। फलस्वरूप संगीत का भावना प्रधान यह अंग विलुप्त-सा हो गया। हिन्दू संगीतज्ञों ने भी मुसलमानी प्रभाव[2] के समक्ष अपने चरित्र में इसके संरक्षण की कोई दृढ़ता नहीं दिखलाई।

इस प्रकार सब रसों का स्वरूप काव्य के समान ही संगीत कला में भी सम्मान पाता रहा है। इधर श्री भातखंडे जी ने शृंगार, करुण और शान्त इन तीन रसों में ही सभी रसों को समाविष्ट कर लिया है। तुलसीदास तक मत यह है कि सब रसों का ही अपना स्थान रहा है और ललित कलाओं में उन्हीं के विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भाव मिलते रहे हैं। उन्हीं सब रसों की स्थापना ही संगीत में भी रही है। किन्तु यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि संगीत में रस निष्पत्ति अन्य कलाओं की अपेक्षा कुछ दुष्कर है। जब तक संगीतज्ञ रस के लिए केवल स्वर की योजना करता है और उसी की साधना करता है, 'रस' तत्त्व प्राप्त कर लेना कठिन है किन्तु काव्य का आधार ले लेने पर भावनाएँ उसकी सहायक बन जाती हैं। फिर

---

१ स भस्माङ्गलिप्तावयवः शूलपाणि भालस्थल शोभित नेत्र वह्निम्। त्रिनेत्र
हंसो वृषभवाहनो स भैरवो यः कथितो मुनीन्द्रैः।
—(रागनिरूपणम् पृष्ठ ११)

या हेम प्रभाभा सुरभूषणा च भीतं निधाय च पुरा करतो रामे समीरे
कमनीय कण्ठा मानोन्नता रामकली समस्तम्। —(संगीत दर्पण २ १)
तुषारकुन्दोज्ज्वलदेहयष्टिः काश्मीरकर्पूर विलिप्त गात्रा।
विनोदयन्ता हरिणं वनान्ते वीणाधरा राजति तोडिकेयम्॥
—(संगीत दर्पण २ ११)

शृंगार पाण्डित्यसक नमाके मुकुर्देवता समर प्रविष्ट। ...
शिव र... कल्याण राग कथितो मुनीन्द्रैः।
—(राग कल्पद्रुम पृष्ठ १०)

के साहित्यों में हुआ। उनके साहित्यिकों ने भी नवीन प्रयोग करके भावी साहित्य के लिए सम्पन्न पृष्ठ-भूमि छोड़ी। ये परम्पराएँ और प्रयोग वेदों से लेकर आधुनिक देशी भाषाओं के पृष्ठ-भूमि में पड़ने वाले अपभ्रंश के साहित्य में समाहित हैं इस सम्पूर्ण साहित्य का उल्लेख और विवरण इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में जहाँ पद-परम्परा का शोध किया गया है प्रस्तुत है।

हिन्दी मध्यकाल की परम्पराएँ

हिन्दी के मध्यकाल की परम्पराएँ उसके 'आदि' या 'वीरगाथाकाल' के काव्य और उसकी स्वयं की परम्पराएँ 'अपभ्रंश काव्य' पर आधारित हैं। इस तथ्य से मध्यकाल की परम्पराएँ अपभ्रंश की उपलब्ध परम्पराओं की ऋणी हैं। यहाँ मध्यकाल की परम्पराओं में गो० तुलसीदास के पद-काव्य का क्रम निर्धारित कर उससे पूर्व अपभ्रंश काव्य की परम्पराओं का विचार कर लेना उचित है। क्योंकि वे ही वीरगाथा काल के काव्य में होती हुई 'मध्यकाल' के काव्य में प्रतिष्ठित हो उठी हैं।

अपभ्रंश काव्य के अनुकरण पर हिन्दी में केवल काव्य ही नहीं लिखे गए किन्तु उनकी विशिष्ट परम्पराओं को भी ग्रहण किया गया। जैनियों की चरित-शैली में हिन्दी के 'रामचरित मानस' वीरसिंह देव चरित' सुदामा चरित' सुजान चरित' आदि लिखे गए। उनमें जैन चरित काव्यों की सम्पूर्ण परम्पराएँ समाहित मिलेंगी। जैन प्रमाख्यानक काव्य-सुदर्शन चरित् से सूफियों के प्रेम प्रधान काव्यों को प्रेरणाएँ मिली हैं। हिन्दी के वीरगाथाकाल के हमीररासो खुम्मान रासो परमाल रासो पृथ्वीराज रासो आदि अपभ्रंश के रासक काव्यों की परम्परा में लिखे गए हैं किन्तु उनमें राजाओं के चरित वर्णित होने के कारण वे भी चरित-काव्य की कोटि में ही रखे जा सकते हैं। अन्तर है तो इतना ही है कि जैन-चरितों में शान्त रस का प्रस्फुटन है और धार्मिक विकास में वे आध्यात्मिक हैं जब कि इन रासो ग्रन्थों में वीरत्व और नायक नायिका के संयोग-वियोग शृंगार के विविध चित्रण हैं। इससे इनमें अपभ्रंश की वीर और शृंगार परम्परा का पालन मानना ही उचित है। वज्रयानी सम्प्रदाय की विराग प्रधान भावनाएँ नाथ सम्प्रदाय और अनन्तर कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रस्फुटित हो उठी हैं। यद्यपि 'नाथ' और 'ज्ञानाश्रयी सम्प्रदायों की मूल भावनाएँ सिद्ध सम्प्रदाय के समान वैराग्य प्रधान ही हैं किन्तु गोरखनाथ ने उसे योग परक और कबीर ने साम्प्रदायिक हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय को ध्यान में रख कर उसे भक्ति समन्वित अद्वैत परक बनाया।

अपभ्रंश का अब्दुर्रहमान विरचित 'सन्देश रासक' एक विरह प्रधान लोक गाथा है इसकी परम्परा में ही हिन्दी में 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला मारू रा दूहा' विरह-काव्य उपलब्ध हैं।

संस्कृत काव्यों की परम्पराओं के अनुकरण में अपभ्रंश काव्यों में मंगलाचरण

सरस्वती वन्दना, सज्जन प्रशंसा, असज्जननिन्दा, कवि का आत्म निवेदन आदि मिलते हैं। संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों के समान इनमें भी ऊषा, सूर्योदय, मध्याह्न, सन्ध्या, ऋतु, रात्रि, पवन, उद्यान, नदी, पर्वत, युद्ध, सागर आदि के वर्णन चित्रित किए गए हैं। इन सभी में संस्कृत काव्यों के विधान का ही अनुकरण है, किन्तु फिर भी कवि की अपनी भावनाओं के समावेश से मौलिकता प्रस्तुत हो गई है। ये परम्पराएँ आगे चलकर हिन्दी-महाकाव्यों में रूढ़ि हो गई हैं और पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका आदि सभी में उनका सम्यक् पालन हुआ है।

संस्कृत की 'रत्नावली' नाटिका एवं प्राकृत की 'लीलावती' कथा दोनों की नायिकाएँ सिंहल की थीं। अपभ्रंश कहा 'करकण्डचरिउ', 'जिनदत्तचरिउ' आदि के अपभ्रंश काव्यों में समुद्र यात्राओं का वर्णन है जिनमें नायकों ने सिंहलद्वीप की सुन्दरियाँ प्राप्त की हैं। 'करकण्ड चरिउ' में चित्रदर्शन और गुण-श्रवण से प्रेम उत्पन्न होता है। [illegible] कवि सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी से गृहीत है। उपर्युक्त सम्पूर्ण परम्पराएँ जायसी के पद्मावत में गृहीत हुई हैं।

जैन साहित्य में स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' एवं 'हरिवंशपुराण' हिन्दी की राम और कृष्ण काव्य धाराओं को कथा-सूत्र की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनमें भक्ति भावना की वह प्रवृत्ति अवश्य नहीं है जो भक्ति-काल के 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' में उपलब्ध है, किन्तु कथा का एक विशिष्ट स्वरूप तो उनमें समाहित है ही।

जैनियों के 'पउमचरिउ', 'भविसयत्तकहा' आदि प्रबन्ध-काव्य सन्धियों एवं 'करकण्ड चरिउ' परिच्छेदों में विभक्त हैं। सन्धियाँ संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों की सर्ग पद्धति का अनुकरण हैं। ये सन्धियाँ कडवकों में विभक्त हैं। जिनमें एक छन्द का निर्वाह होता है और घत्ता रखने की परिपाटी है। अपभ्रंश काव्य की कडवक और घत्ता की परम्परा हिन्दी में पूर्ण रूप से अपनाई गई है। सूफी कवि कुतुबन, मंझन, जायसी, शेखनबी आदि और राम-काव्य में तुलसी ने चौपाई और दोहा के घत्ता को स्वीकार किया है। जायसी ने कडवक में सात अर्धालियाँ और तुलसी ने आठ अर्धालियों के उपरान्त दोहा का घत्ता दिया है। नूरमुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बाँसुरी' में दोहे के स्थान पर सोरठा का घत्ता लिया है।

सिद्ध-साहित्य में सिद्ध सन्तों ने अपने धार्मिक चर्यागीतों में विभिन्न राग-रागनियों को प्रतिष्ठित किया है। यह गीत-शैली नाथ और 'ज्ञानमार्गी' सम्प्रदायों में भी ग्रहण की गई। इससे मैथिली, बंगला और हिन्दी की पद-परम्पराएँ उद्भूत हुई हैं। इस प्रकार मध्यकाल का सम्पूर्ण गेय काव्य सिद्धों की गीति-शैली का ही आभारी है।

'गाथासप्तशती' ने अवश्य ही कृष्ण-लीलाओं के साथ राधा के परकीया स्वरूप की प्रतिष्ठा कर 'माधुर्य भाव' का सर्व प्रथम बीज-वपन किया है। जिससे विद्यापति और चण्डीदास [illegible] रूप में पल्लवित हुए हैं। आगे चलकर सभी कृष्णभक्त सम्प्रदा-

में इसी माधुर्यभाव की मान्यता हुई है। यहाँ तक तुलसीदास के अनन्तर रामोपासना में भी उसकी प्रतिष्ठा हो उठी है।

अपभ्रंश काव्यों में धाराकुमक पद्धतिका पज्झटिका हरिगीत भुजंग प्रयात ताटंक छप्पय रोला दोहा सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी के आदि काल (वीरगाथाकाल) और मध्यकाल में इन सभी छन्दों का ग्रहण हुआ है। घनाक्षरी और सवैया अपभ्रंश में अवश्य उपलब्ध नहीं है। ये हिन्दी की अपनी उद्भावनाएँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हमने यह देखा है कि अपभ्रंश काल में काव्य वस्तु, भाव काव्य रूप एवं शैली के सम्बन्ध में विविध प्रयोग किए गए थे जो हिन्दी को वीरगाथा काल और मध्य काल के लिए परम्परा प्रस्तुत करने में समर्थ हुए। यहीं से अभिप्रेरित हो पद-शैली की अविच्छिन्न परम्परा चल उठी है जो 'नाथ सम्प्रदाय' 'ज्ञानाश्रयी शाखा' एवं 'कृष्णाश्रय सम्प्रदायों' में पल्लवित और पुष्ट हुई, इसी को तुलसी ने भी कृष्णगीतावली गीतावली और विनयपत्रिका नाम काव्यों के लिए चुना था। उनका वस्तुतः यह बहुत बड़ा काम था कि विविध शैलियों को उन्होंने काव्यों के लिए ग्रहण कर राष्ट्र समाज परिवार और व्यक्ति को समन्वय का अमर सन्देश प्रदान किया। उनसे पूर्व कबीर ने दोहा और पद शैली को अपने काव्यों के लिए चुना था जिस पर अनुसरण ज्ञानाश्रयी शाखा के समस्त कवियों ने किया है। कृष्णाश्रय सम्प्रदायों में तो माधुर्य भाव के पोषण के लिए केवल पद-शैली का ही ग्रहण हुआ है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मध्यकाल के कवियों ने एक या दो काव्य-शैलियाँ ही ग्रहण की हैं जब कि तुलसी ने दोहा चौपाई, घनाक्षरी छप्पय बरवै सोहर और पद आदि विविध शैलियों को चुना और सफल रचनाएँ प्रस्तुत कीं यह तुलसी जैसे प्रतिभा सम्पन्न महाकवि से ही सम्भव था अन्य से नहीं।

अब तुलसी के पद काव्यों की वस्तु भाव भक्ति आदि के सम्बन्ध में विचार कर यह देखना है कि मध्यकाल के काव्यों में उनकी क्या स्थिति है। इससे तुलसी के कवि-हृदय की उपलब्धि को समझने में सुविधा होगी।

तुलसी-पद-साहित्य की वस्तु

श्री कृष्णगीतावली—तुलसी आस्तिक भावना के सन्त थे। इसी से राम के अनन्य भक्त होते हुए भी देवताओं और अवतारों के प्रति उनकी हृदय की निष्ठा और पुण्य भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। राम के समान कृष्ण में भी उनकी अनुरक्ति थी इसका प्रतीक ही उनकी 'श्री कृष्णगीतावली' है।

तुलसी से पूर्व कृष्ण परक पद-साहित्य पर्याप्त मात्रा में निर्मित हो चुका था जिसका विविध कृष्णाश्रय सम्प्रदाय अपने प्यारे माधव के कीर्तन-गान में उपयोग करते थे—साथ ही कृष्ण भक्त-कवि कृष्ण की लीलाओं का गान कर उस परम्परा

को चिरजीव भी बनाए हुए थे तुलसी को यह सब ज्ञात रहा होगा। उनके जीवन वृत्त से यह प्रमाणित है कि उन्होंने 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास से भेंट करने के लिये ब्रज-यात्रा की थी जिसमें उन्हें कृष्ण के प्रेम-माधुरी से सिक्त ब्रज भूमि देखने को मिली। उनका मानस कृष्ण की लीला-माधुरी का गान करने के लिए मचल उठा फलस्वरूप उन्होंने उनके सम्बन्ध में स्फुट पद रच डाले और उनका संग्रह ही श्री कृष्णगीतावली की संज्ञा प्राप्त कर गया।

तुलसी ने प्रथम इस काव्य में कृष्ण काव्य की परम्परा का अनुसरण किया है यह सत्य है किन्तु उसके साथ यह कहा जाता है कि इस काव्य पर सूर काव्य का प्रभाव है यह पूर्ण असत्य है। इससे तुलसी की प्रतिभा और कवित्व पर स्पष्ट आक्षेप है। उपर्युक्त तथ्य के समर्थन में 'सूरसागर' के वे पद जो ज्यों-के-त्यों श्री कृष्णगीतावली में उपलब्ध हैं प्रस्तुत किए जाते हैं। इससे सरलता से कोई भी उपयुक्त का विश्वास करने लगता है जो असत्य और अविश्वस्त है।

यदि यह मान भी लिया जाए कि तुलसी ने 'सूरसागर' का अनुकरण किया है तो यह प्रश्न उठता है कि वे कतिपय स्थल ही एक से क्यों हैं? सम्पूर्ण पद अथवा अधिकांश पद एक से क्यों नहीं हैं? क्या उन्हीं स्थलों के लिए तुलसी की प्रतिभा कुण्ठित और कवि हृदय निष्क्रिय हो गया था जिसके लिए औरों का अनुकरण करने को उन्हें प्रवृत्त होना पड़ा। फिर तुलसी के गीतावली और 'विनयपत्रिका' ग्रन्थ भी तो गीत-काव्य हैं न तो उनकी प्रतिभा प्रभावित करते हैं। गीतावली में भी ऐसे कुछ स्थल हैं जो सूरसागर में उपलब्ध हैं इससे यदि उन्हें भी संदिग्ध मान लिया जाए तो 'विनयपत्रिका' ही उनके शेष काव्य के वैशिष्ट्य को प्रमाणित करने में पर्याप्त है उससे तुलसी की प्रतिभा का पूर्ण परिचय परिलक्षित होता है। फिर जिस महाकवि के मानस से 'रामचरितमानस' की अमर वाणी निःसृत हुई हो वह भला दूसरे काव्य को अपनाकर अपना व्यक्तित्व क्या दिखलाने गया। इसमें श्री कृष्णगीतावली गीतावली के वे स्थल क्षेपककारों द्वारा समाविष्ट किए हुए क्षेपक हैं। उपर्युक्त विवेचन के समर्थन में यह तथ्य और रखा जा सकता है कि यदि तुलसी ने सूरदास का अनुकरण किया होता तो वह राधा को छोड़ नहीं पाते। सूरसागर में राधा कृष्ण की अभिन्न हृदय वर्णित हुई हैं। परन्तु उनका कोई भी रूप श्री कृष्णगीतावली में होता। सच तो यह है कि तत्कालीन कृष्ण-काव्य से अभिप्रेरित होकर उन्होंने इस काव्य के लिए 'भागवत' को अपना उपजीव्य बनाया सूरसागर या वृन्दावन सम्प्रदाय के किसी अन्य काव्य को नहीं।

श्री कृष्णगीतावली में जो कुछ है वे सब भागवत के अनुकरण में हैं। तथा से उसको कहाँ से लिया और अपने स्फुट पद रच डाले। सूर के 'सूरसागर' के समान उन्होंने इस काव्य के द्वारा किसी वृन्दावन सम्प्रदाय का पालन या करना ही नहीं था अपितु भागवत के कथा में वह उपदेश का भाव। वस्तुतः तुलसी की यह स्फुट

और स्वतन्त्र रचना है। हिन्दी के किसी कृष्ण-काव्य का अनुकरण और अनुसरण नहीं।

कृष्ण के प्रति यशोदा के वात्सल्य और गोपियों के प्रेम से भागवत में प्रसारित माधुर्य तत्त्व को तुलसी ने ज्यों-का-त्यों अपने काव्य में उतार दिया है। स्थान स्थान पर उनकी गीता मानस के साथ वह उनके भगवान रूप के प्रति अपनी भक्ति और श्रद्धा अर्पित करते गये हैं। राम के प्रति प्रयुक्त उनकी वृत्ति यहाँ भी चरितार्थ हो उठी है। यह तुलसी हृदय की व्यापकता और समन्वय की सक्षम भावना है।

तीसरी बात—तुलसी से पूर्व रामचरित-काव्य की कोई भी परम्परा हिन्दी में विद्यमान नहीं है। विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय में परम्परागत श्री और नारायण की उपासना के स्थान पर जब रामानन्द द्वारा सीता राम की प्रतिष्ठा कर दी गई तब सर्वप्रथम तुलसी ने ही रामचरित गान कर उस भावना को व्यावहारिकता प्रदान की। इस कारण मध्यकाल में राम काव्य की परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय उन्हीं को है।

रामचरित की प्रबन्धात्मकता की योजना उन्होंने सर्वप्रथम कवितावली में फिर गीतावली में और अन्त में 'रामचरित मानस' में की है। सच तो यह है कि प्रथम दोनों काव्यों में उस सम्बन्ध के अपने प्रयोगों को वह करते रहे व अनन्तर उसके उत्कृष्ट स्वरूप को ही वह मानस में समाहित करने में सफल हुए। भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में निहित वैषम्यों को वह मानस में जितना समन्वित कर दिखला सके हैं उतना उक्त दोनों रामचरित काव्यों में नहीं। उसमें राम-कथा और उसके साथ महाकाव्य की परम्पराओं का सफल पालन जिस रूप में है वह अपूर्व है। सच तो यह है कि मानस जिस रूप से अपने चरितनायक को प्रस्तुत करता है वैसा रूप न तो अनन्तर के राम-काव्यों में है और न हिन्दी के अन्य किसी काव्य में।

गीतावली स्फुट-काव्य रहा है। इसका संग्रह सं० १६२८ वि० में[1] और मानस का निर्माण सं० १६३१ वि० में हुआ है।[2] दोनों काव्यों के निर्माण में ३ वर्ष का अन्तर अवश्य है किन्तु इससे यह नहीं सोचा जा सकता है कि दोनों की विचार भूमि अलग-अलग रही होगी। गीतावली में कैकेयी का वर माँगना राम रावण युद्ध आदि प्रमुख वृत्तों के इंगित मात्र हैं और इसके साथ राम का बाल-वर्णन कौसल्या का वात्सल्य उत्तरकाण्ड में राम का अयोध्यापुरी के फाग और वसन्त के समारोहों में सहयोग देना आदि विषय वर्णित हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त गीतावली

---

१ अध्याय ७ में रचनाकाल का विवरण देखिए।

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥
—(रामचरितमानस बालकाण्ड ३४ २ ३)

और मानस की मूल कथा एक सी है। मानस की तुलना में गीतावली में जो परिवर्तन और परिवर्द्धन हैं वह बहुत कुछ उसके मुक्तक काव्य होने के कारण है। यह सब कहने का मेरा आशय यह है कि भले ही गीतावली के कृत्य में कुछ विशिष्टताएँ हों किन्तु उसकी विचार भूमि एक ही रही है। इसके समर्थन में यह भी सोचने की बात है कि मानस की रचना के लिए उद्यत होने से पूर्व उसकी रूपरेखा सोची होगी यदि यह भी सत्य न हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी रचना के लिए उन्हें अपने पिछले अध्ययन का सहयोग अवश्य लेना पड़ा है जो रामकथा के लिए उपयोगी रहा है। 'मानस' की वस्तु के लिए तुलसी ने बालकाण्ड में कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्—
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।

इस कथन से यह सिद्ध है कि मानस की रचना के लिए वह विविध पुराण, निगम और आगम का सम्मत रूप जो वाल्मीकि रामायण में वर्णित है उसके तथा अन्य स्थलों के आभारी हैं। यह तथ्य जो मानस के साथ सत्य है वही कवितावली और गीतावली के साथ भी। इस प्रकार गीतावली और मानस की काव्य वस्तु की परम्परा एक ही रही है।

गीतावली और 'मानस' दोनों की काव्य वस्तु देखने से यह स्पष्ट है कि मानस के समान गीतावली में दर्शन तथा विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं है। उसमें सादी सीधी कथा है जिसको तुलसी ने अपने भावुक हृदय की मधुरिमा से मिश्रित करके रख दिया है। इस प्रकार गीतावली की वस्तु स्थूल रूप से वाल्मीकि रामायण की आभारी है। मानस भी वाल्मीकि रामायण का ऋणी है किन्तु अपने दर्शन तथा अन्य समन्वयवादी विचारों के लिए वह अध्यात्म रामायण, महारामायण, शिवपुराण, भगवद्गीता, भागवत, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव आदि के आभारी हैं।

तुलसी ने सूरदास के 'सूरसागर' से अभिप्रेरणा भले ही ली हो किन्तु उसका अनुकरण कहीं भी नहीं किया है। गीतावली में सूरसागर के सम स्थलों को देखकर यदि कोई सहृदय इस प्रकार की धारणा बनाता है तो वह अविवेक है। राम के बाल-वर्णन कौशल्या के वात्सल्य में तुलसी के कवि-हृदय के सिद्धान्त निरोहित हुए मिलेंगे। उसमें उन्हें अभिप्रेरणा ही माना जा सकता, अनुकरण नहीं। गीतावली के उत्तरकाण्ड के वसन्त और फाग के वर्णन जिसमें राम-सीता और अनुज-भ्राता आदि सम्मिलित हैं सूरसागर के अनुकरण से हैं। यह कहा जाता है किन्तु इसके सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण की माधुर्योपासना के समान राम की माधुर्य उपासना भी प्रगति पर थी। इसका प्रमाण जैसे रूपक रहस्य उसी परम्परा के प्रतिपादक की हनुमत्संहिता, की शिवसंहिता, की लोमशसंहिता, की सुन्दरसंहिता आदि में

सभी परिस्थितियों पर प्रभाव पड़ा । धार्मिक कट्टरता और भारतीयों के प्रति काफिर बुद्धि की भावनाओं के कारण सबल और उदार भारतीय संस्कृति के समक्ष वे मलिन रहे । इसी से देश में उनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा ।

ऐसी ही स्थिति में हमारे साहित्य का 'मध्यकाल' अथवा 'भक्तिकाल' का सूत्रपात हो उठा । हिन्दू और इस्लामी दो संस्कृतियों के मिश्रण से निर्गुणोपासना का प्राबल्य हुआ जिसके अन्तर्गत कबीर की समन्वयवादी ज्ञानमयी और सूफियों की प्रेममयी धाराएँ पल्लवित हुई । कबीर के सन्त-सम्प्रदाय में प्रधान्य भारतीय अद्वैत वादी सिद्धान्त थे किन्तु सूफी धर्म में तो सभी विदेशी आदर्श और सिद्धान्त थे । निर्गुणोपासना के विपरीत भारतीय संस्कृति के पोषकों ने सगुणोपासना का प्रचार किया जिसमे राम भक्ति और कृष्ण भक्ति शाखाएँ प्रस्फुटित हो उठीं । दोनों में ही अवतारवादी भावना की प्रतिष्ठा थी । इससे देश में इन सम्प्रदायों के विकास मे कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं हुआ ।

जैन बौद्ध और नाथ सम्प्रदायों की आत्म-निष्कृति का भाव इन नवीन सम्प्रदायों में भी प्रतिष्ठित हुआ । कबीर के सिद्धान्तों की आधार शिला उन्हीं पर स्थिर है । उनमे रामानन्दी भक्ति और सूफियों के प्रेम-तत्व का भी सन्निवेश था, इससे यदि उन्होंने ब्रह्म विषयक अद्वैतवादी भावनाएँ व्यक्त की है तो उनके साथ भक्ति और प्रेम के भाव भी पर्याप्त मात्रा में प्रतिष्ठित है । उनके सम्प्रदाय मे जीवन माया ब्रह्म आदि को लेकर बहुत कुछ कहा गया है । इसी प्रकार कृष्ण की सगुणोपासना के अन्तर्गत भी आत्म-निवेदन की प्रतिष्ठा है । रामानन्द ने भी रामावत सम्प्रदाय मे इस प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की हैं किन्तु वे न्यून है । इस प्रकार अपभ्रंश काव्य के अनन्तर 'मध्यकाल' के काव्य मे आत्म निवेदन' की परम्पराएँ अक्षुण्ण बनी हुई है जिनके मेल मे ही 'विनयपत्रिका' का काव्य प्रस्तुत हुआ । अब विनयपत्रिका से पूर्व मध्यकाल की इस परम्परा पर दृष्टिपात कर लेना भी उचित है ।

नामदेव सगुण और निर्गुणोपासक महाराष्ट्री सन्त थे किन्तु उनमे 'आत्म बोध' आत्मनिवेदन की परम्परा थी जिसकी उन्होंने अपनी पदावली में प्रतिष्ठा की है—

> काहे रे मन बिषया बन जाइ ।
> भूलो रे ठग मूरी खाइ ॥
> जैसे मीन पानी महि रहै ।
> काल-जाल की सुधि नहि लहै ॥
> जिह्वा-स्वादी लीलति लोह ।
> ऐसे कनक कामिनी बाँध्यो मोह ॥ —(संत सुधासार नामदेव १)

इन पंक्तियों मे मन को सम्बोधन कर उसकी स्थिति का उल्लेख है तो निम्न गीत में 'नर्मदा' मे आत्म-निवेदन भी करते है—

मोको तूं न बिसारि तूं न बिसारि तूं न बिसारि रमैया।
तेरे जनकी लाज बाहिगी मुझ ऊपर सब कोपिला॥ —(वही नामदेव २)

कबीर की वाणियों में भी उपर्युक्त परम्परा विद्यमान है—

उपमय छाड़ि है मन बोरा।
अब तौ जरे बरे बनि आवै लीन्हो हाथ सिंधोरा॥—(वही—कबीर २६)

न जन भूला तूं समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यो बिर्ष-बन कूं जाइ॥
संसार सागर माहि भूल्यो थक्यो करत उपाइ।
मोहिग्यो माया बापिरो न राखिले रामराइ॥
गोपाल सुनि एक बीनति सुमति तन ठहराइ।
कहै कबीर यह काम रिपु है मारै सब कूं हाइ॥
—(वही—कबीर, १९)

सन्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्त भक्तों में भी यह भावना विद्यमान है—

ऐसी लाल तुझ बिनु कौन करै।
गरीब निवाजु गुसयां मेरे माथे छत्र धरै॥
जाकी छोति जगत कौ लागै तापर तुही ढरै।
नीचहि ऊँच करै मेरा गोबिंदु काहू ते न डरै॥
—(सन्तसुधासार, रैदास ४)

भाई रे मीत करहु प्रभु सोइ।
माया मोह परीति ध्रिगु सुखी न दीसै कोइ॥
दाना दाता सीलवंत निरमलु रूप अपारु।
सखा सहाई अति वडा ऊँचा वडा अपारु॥
बालक बिरधि न जाणीऐ निहचलु तिसु दरवारु।
जो मंगीऐ सोइ पाइए निरधारा आधारु॥
—(वही—गुरु अर्जुनदेव—११)

तूं चेति रे कहि क्या आया।
इनमें बैठा कुसिकर न देखी माया॥
तूं जिनि आन तन मन मेरा सुरति देहि भुलाया।
पाजि दाजि बलि जाऊँ तेरी ऐसी सुन्दर काया॥
राम नाम निज लीजिये मैं कहि समझाया।
दादू हरि की सेवा कीज सुन्दर ताज मिलाया॥
—(वही—स्वामी दादूदयाल १०)

सन्त सम्प्रदाय में निर्गुणोपासना के कारण आराध्य के चरित्र की कोई अवाप्ति

नहीं होती है। फलतः ब्रह्म जीव माया संसार आदि विषयों पर सन्त भक्त अधिकाधिक कहने के लिए अवकाश प्राप्त कर लेता है वस्तुतः यह तुलसी की विनयपत्रिका की सबल परम्परा है जिसका पोषण इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने किया है। संत सम्प्रदाय के अतिरिक्त सूफियों में उपर्युक्त विषयों के विवरण तो हैं किन्तु वे कथा तत्त्व के अन्तर्गत उपलब्ध हैं। उनमें कथन और शैली का यह स्वरूप नहीं है। इससे उन्हें विनयपत्रिका में स्वीकृत परम्परा का पोषक नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त के अतिरिक्त सगुणोपासना के अन्तर्गत रामावत और कृष्णावत सम्प्रदायों में भी इस परम्परा का पोषण उपलब्ध है। इनमें 'चरित' की प्रतिष्ठा होने के कारण उस प्रकार की भावनाओं को वह मुक्तक शैली में ही व्यक्त करते हैं।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूरदास ने विनय के पद लिखे थे जो उनके सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में संगृहीत हैं। माधुर्य भाव के उपासक होने पर भी विनय की इस पदावली में उनकी दास्यासक्ति ही प्रतिष्ठित है।

विनती करत मरत हौं लाज।
नख सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।

× × ×

अब कै राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम-डरिया पारधि साधे बान॥

× × ×

हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जाति कटी॥

सूर जीवन की विविध परिस्थितियों का उल्लेख अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं किन्तु जब उनसे उन्हें किसी प्रकार की कृपा उपलब्ध नहीं होती है तब भिन्न भावनाओं द्वारा अपनी विवशता भी प्रकट कर देते हैं।

जो जग और बियो कोउ पाऊँ।
तौ हौं बिनती बार-बार करि प्रभु तुमहिं सुनाऊँ॥
सिव बिरंचि सुर-असुर नाग-मुनि सु तौ जाँचि जन आयो।
भूल्यौ भ्रम्यौ तृषातुर मृग लौं काहूँ स्रम न गँवायो॥
पौरुष-रहित अजित इन्द्रिनि बस ज्यौं गज पंक परयौ।
विषयासक्त नटी के कपि ज्यौं जोइ-जोइ कह्यौ करयौ॥

अष्टछाप के अन्य कवियों में भी उपर्युक्त परम्परा का पालन उपलब्ध है। अन्य कृष्ण भक्त भी आत्म-निवेदन के रूप में अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं।

जो मन स्याम-सरोवरि न्हाहिं॥
बहुत विनय को अरथी भर्यो तू तबही जासे बिराहि॥

—(ब्रजमाधुरीसार गदाधर पद ७)

स्वामी हरिदास जीवन की असारता विविध प्रकार के मद और मोह को व्यर्थ समझते हुए अपने मन को हरि भजन का सन्देश प्रदान करते हैं।

जौलौं जीव तौलौं हरि भजु रे मन और बात सब बादि।
दिवस चारि को हला-भला तूं कहा लैहगो लादि॥
माया मद गुन मद जोबन-मद भूल्यो नगर बिवादि।
कहि हरिदास लोभ चरपट भयो काहे की लागि फिरादि॥

—(ब्रजमाधुरीसार स्वामी हरिदास १)

वृन्दावन सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी आमोष्य परम्परा समाहित है। इस परम्परा का स्वरूप रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानन्द की पदावली में भी विद्यमान है—

हरि बिन जनम वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अंध मति सोयो रे॥
सुमिरन भजन साध की संगति अंतरि मन मल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासे श्रीपति पद काहे खोयो रे॥

—(रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ पद १)

इस प्रकार अपभ्रंश काल से लेकर भक्ति-काल तक सम्प्रदायों के सन्त भक्तों ने अपने आराध्य से माया की प्रबलता संसार के प्रलोभन विविध प्रकार के मद आदि का कथन किया है। आराध्य के प्रभु रूप के कारण उनकी प्राप्ति मात्र के साथ भक्त कवियों ने अपने सांसारिक कष्टों के निवारणार्थ उनसे निरन्तर अनुनय विनय भी की है। भक्त को आराध्य का ही बड़ा विश्वास होता है इसी से वह उन तथ्यों को विविध प्रकार से उनके समक्ष रखता जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने आत्म-निवेदन की उपर्युक्त अविच्छिन्न परम्परा को ही अपनी विनयपत्रिका की काव्य-वस्तु के लिए चुना है। विषय साम्य होते हुए भी वह अपने इस काव्य में मौलिक हैं। आदि से लेकर अन्त तक सभी आत्मनिवेदन एक पत्रिका के रूप में अंकित हैं और अन्त में वह बड़ी विनम्रता के साथ आराध्य राम के समक्ष प्रस्तुत कर दी गई है। उन्होंने अपने पार्षद के अभिमत पर विनयपत्रिका पर 'सही' कर दी है। तुलसी उनसे यही तो चाहते थे—उन्हें उनकी गति-विधि प्रकट हो गई यही उनके लिए पर्याप्त है। सच तो यह है कि भक्ति भावना का ऐसा सटीक और व्यापक स्वरूप न तो तुलसी के अवशिष्ट साहित्य में है और न और किसी काव्य में। 'मानस' में भक्ति है अवश्य किंतु वह राम-कथा के प्रवाह में उतनी उभरती प्रतीत होती है। भक्त के लिए जैसा सम्यक् समर्पण आवश्यक है वह तो इसी काव्य में है।

विनयपत्रिका के मुक्तक-काव्य होने से कुछ सहृदय इसे स्फुट पदों का संग्रह मात्र मानते हैं। काव्य के अन्तर्गत पदों के मध्य में असम्बद्धता के कारण इस प्रकार

का उनका निर्णय स्वाभाविक है किन्तु कवि के हृदय के अनुकूल भावनाओं के प्रवाह पर मनन करने से उक्त आक्षेप निर्मूल सिद्ध होता है। रचना भले ही स्फुट पदों में रही हो किन्तु उन्होंने इसके निर्माण में पूर्व निर्णीत काव्य की रूपरेखा में किसी प्रकार का विच्छेद नहीं प्रस्तुत होने दिया। फलस्वरूप काव्य के सभी पद रामोन्मुख हैं। वह चाहे गणेश की स्तुति कर रहे हों चाहे सूर्य की चाहे शिव की चाहे जानकी की चाहे हनुमान का—सभी से अपनी बात को श्रीराम के चरणों तक पहुँचा देने के लिए प्रार्थना करते हैं।

कबहुँक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥
जानकी जग जननि जन किए बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन-गन गाइ॥

—(विनयपत्रिका सीता स्तुति ४१)

विनयपत्रिका के प्रारम्भिक ६२ पदों में संस्कृत की स्तोत्र-पद्धति का अनुकरण है। भाषा स्वभावतः दुरूह और क्लिष्ट हो गई है। अनन्तर काव्य में अनुभाव स्वरूप आलम्बन राम के महत्त्व और अपने दैन्य तथा अभावों के उल्लेख समाहित होते चले हैं जिससे काव्य निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ रघुनाथ के हाथ से सही हो जाने पर समाप्त हो गया है।

तुलसी एक स्मार्त वैष्णव थे इससे विष्णु, शिव दुर्गा सूर्य गणेश आदि में उनकी आस्था स्वाभाविक थी। अपनी पूज्य भावना के कारण उन्होंने उन सभी को प्रतिष्ठित किया है। इन सभी का इस प्रकार का सन्निवेश उनके अवशिष्ट काव्यों में नहीं है। इसका एकमात्र कारण यही है कि तुलसी की भक्ति भावना यहाँ एक निश्चित स्वरूप प्राप्त करती है। इससे इनके सन्निवेश का 'विनयपत्रिका' में ही समुचित अवकाश था अन्यत्र नहीं।

रस परम्परा—मध्यकाल का सम्पूर्ण साहित्य विविध सम्प्रदायों के सन्तों द्वारा विरचित है। ये लोग गृह-त्यागी संसार से विरक्त थे। फलस्वरूप परमार्थ-साधन ही इनका प्रमुख लक्ष्य था। इससे इनके काव्यों में शान्त रस का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों का समावेश प्रसङ्ग विशेष के कारण हो गया है।

निर्गुणोपासना के अन्तर्गत कबीर और उनकी शिष्य परम्परा सिक्ख गुरु दादू दयाल आदि सभी की वाणियों में स्थायी भाव निर्वेद भी संसार-विरक्ति है। संसार की असारता अथवा परमात्मा का स्वरूप आलम्बन विभाव है। ऋषि आदि के पवित्र आश्रम साधु सङ्गति उपदेश आदि उद्दीपन विभाव हैं रोमाञ्च हर्ष आदि अनुभाव हैं निर्वेद हर्ष स्मरण प्राणियों पर दया आदि संचारी भाव हैं। कृष्णभक्त सम्प्रदायों के सम्पूर्ण भक्तों में कृष्ण की भक्ति सम्बन्धी पदावलियों के अतिरिक्त शेष पदावलियों में इसी रस की निष्पत्ति हुई है। कबीर में रामानन्दी भक्ति और सूफियों की प्रेम

माधुरी के भी तत्त्व थ । इसमे यत्र तत्र उनके काव्य म भक्ति और शृगार के तत्त्व भी झलक उठे है ।

सगुणोपासना के अन्तगत कृष्णावत सम्प्रदायो म अवतारी कृष्ण को ही आरा बना है । इसम पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय म कृष्ण की लीलाओ की भी मान्यता है । इसमे साम्प्रदायिक रूप म अन्य रस भी प्रतिष्ठित हो उठे । पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभीय गौडीय हरिदासी आदि सम्प्रदायो म माधुर्य तत्त्व की प्रधानता के कारण शृंगार रस की ही उपलब्धि है । अन्य रस उपेक्षित है । पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय के अन्तर्गत सूरदास उसके प्रतिनिधि कवि है । उनके काव्य म वात्सल्य और शृगार का बाहुल्य है उनकी विविध परिस्थितियो का उनके काव्य म समावेश है । हास्य करुण रौद्र वीर भयानक वीभत्स अद्भुत आदि रसो की उनके सूरसागर म निष्पत्ति है किन्तु बहुत सूक्ष्म रूप से । अन्य कृष्णावत सम्प्रदाय केवल शृगार तक ही सीमित होकर रह गए है ।

रस की उपर्युक्त सभी परम्पराएँ तुलसी से पूर्व अपना सिद्ध रूप प्रस्तुत कर चुकी थी । विनयपत्रिका म भक्ति रस का प्राधान्य है । इसका स्थायी भाव राम के प्रति अनन्य प्रेम है राम इसके आलम्बन है । राम-सभा के पार्षद और इनका उद्दीपन है । इस प्रकार शान्त समन्वित भक्ति रस विनयपत्रिका म व्याप्त है । 'श्री कृष्णगीतावली' और गीतावली दोनों चरित काव्य है । कृष्ण और राम दोनों अवतारी चरित्र दुष्टों का दमन कर ससार म पुन शान्ति की व्यवस्था करने वाले है । किन्तु दोनों गेय काव्य रहे है इससे इनम माधुर्य भाव का ही विशिष्ट समावेश उपलब्ध है । दोनों काव्यो में शृंगार और वात्सल्य के सयोग और वियोग पक्ष पर्याप्त स्पष्ट है । हास्य करुण वीर आदि अन्य रसों के भी कतिपय स्थल है किन्तु उनका बाहुल्य नहीं है । रौद्र भयानक वीभत्स और अद्भुत रसो का इन काव्यो म पूर्ण अभाव है ।

गीति-परम्परा—गीति-तत्त्व गेय काव्य की परम्परा आदि काल से म स्वतन्त्र रूप से पिछले अध्यायो म विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है । भावोन्मत्तता आत्माभिव्यंजन संक्षिप्तता और भावों की एकता ही गेय काव्य के तत्त्व है जिनका इस शैली के काव्य म ग्रहण होता रहा है । इस शैली के काव्यो म आत्माभिव्यंजन की भावना प्रमुख रहती है जिससे वह किसी राग रागिनी के आश्रय से स्फुरित कर उठते है । अत इस शैली म भावोर्मियो को सरलता म सजीवता और तन्मयता उपलब्ध हो जाती है । मुक्तक-काव्य की शैलियो म सब से यह है कि गीत-शैली सबसे अधिक मधुर और सुग्राह्य है ।

गीति-परम्परा भारतीय काव्य म प्राचीन काल से ही ... प्राकृत और पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश म ... भाव ... रूप हुआ है । अपभ्रंश म काव्य की परम्पराओ म ... और ... समाहित । इससे उसकी भाव धारा और विविध काव्य शैलियो ... म प्रयुक्त हो गए है

इस सम्बन्ध में इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है। इस समय बौद्ध धर्म के सहजयानी सिद्ध सन्तों में चर्यापदों और जैन कवियों में फाग चाचरि, रासक आदि काव्यों के द्वारा गीत शैली को एक सुनिश्चित रूप रेखा प्रदान की है। यह गीत-शैली नाथ सम्प्रदाय में भी स्वीकृत है। अनन्तर वीर-गाथा काल में बीसल देवरासो परमालरासो या आल्हखण्ड लोक भाषा या बुन्दा के कारण सप्राण बनी हुई मध्यकाल में आकर प्रस्फुटित हो उठी है। रामाश्रयी शाखा और कृष्णाश्रयी सम्प्रदायों में इसका मुक्त प्रयोग हुआ है। कृष्णाश्रयी सम्प्रदायों में माधुर्य तत्त्व के प्राधान्य के कारण यह शैली ही विशेष रूपेण प्रतिष्ठित हुई है अन्य शैलियाँ उपेक्षित ही रही हैं।

तुलसी को अपने से पूर्व गीति-शैली की अविच्छेद्य परम्परा मिली है। स्वयं रामानन्द के द्वारा भी इस शैली में रचना प्रस्तुत की जा चुकी थी। फलतः उन्होंने भी इसे ग्रहण कर श्री कृष्णगीतावली गीतावली और विनयपत्रिका तीन गेय काव्य रच डाले। इन रचनाओं में शास्त्रीय संगीत की ध्रुपद शैली का ग्रहण है और उसी पद्धति के अन्तर्गत विविध राग-रागिनियों का प्रयोग किया गया है।

संगीत का लालित्य माधुर्य और कारुण्य पर ही आधारित है परुष और कटु तत्त्व इसमें उपेक्षित ही रहते हैं। इस तथ्य को लेकर जब हम तुलसी के गेय काव्य पर विचार करते हैं तब उसमें भी यह तथ्य खरे सिद्ध होते हैं। श्री कृष्णगीतावली' और 'गीतावली' दोनों काव्यों में वात्सल्य और शृंगार के संयोग और वियोग दोनों की विविध परिस्थितियाँ समाहित मिलेंगी। अपनी शैली की पुष्टि के लिए उन्होंने गीतावली में कैकेयी का वर माँगना राम रावण युद्ध आदि जैसी कटु और परुष घटनाएँ, जो राम-चरित में मुख्य हैं परित्यक्त कर दी हैं। अन्य भावनाओं का इन काव्यों में ग्रहण हुआ भी है तो बहुत कम। विनयपत्रिका में तो आदि से अन्त तक भक्ति समन्वित शान्त रस ही विद्यमान है। भक्ति भावना का काव्य होने के कारण उसमें अन्य रसों की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उन्होंने अपने गेय काव्यों में काव्य वस्तु संगीत के अनुकूल ही रखी है।

गेय काव्य के विविध तत्त्वों को ध्यान में रख कर जब हम तुलसी के गेय काव्यों की गेयता पर विचार करते हैं तो वह उसमें भी सफल सिद्ध होते हैं। उनमें भारतीय संगीत की ध्रुपद शैली संगीत के शास्त्र रीति-ग्रन्थों में प्रतिपादित सूर और तुलसी की तुलनात्मक गेयता के सम्बन्ध में—श्री शिवरत्न जैन 'सूर एक अध्ययन' में निम्न विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है वहाँ सूर की प्रकृति रूप से प्रसवित होने वाली भाव लहरों स्वाभाविकता सादगी अल्हड़पन और प्रसाद को समान रूप से लिए हुए आगे बढ़ती है। तुलसी के समासात्मक रूप से प्रयुक्त बड़े-बड़े रूपक भी संगीत-लहरी में अवरोध

प्रस्तुत करते हैं पर सूर के रूपक छोटे आवश्यक एवं चुस्त हुए सरस आकर्षक और संगीत के लिए उपयुक्त हैं। इसीलिए तुलसी सगान का वह माधुर्य न ला सके जो उसका शृंगार है। ऐसा करने में सूर सफल हो सके हैं। उन्होंने संगीत की स्वर लहरी को सरसता भावुकता प्रवणता और रसना के साथ प्रवाहित किया है।

सूर की गेयता के सम्बन्ध में डा० हरवंशलाल शर्मा के सूर और उनका साहित्य में निम्न विचार हैं—× × × आकार की दृष्टि से कहीं-कहीं सूर के पद गीत-काव्य की मर्यादा का उल्लंघन कर गए हैं परन्तु ऐसा उन्हीं स्थलों पर हुआ है जहाँ कवि कथा के तारतम्य को अक्षुण्ण रखने के लिए घटनाओं का वर्णन करता है। ऐसे पद अधिक संख्या में हैं भी नहीं। दूसरी बात जो सूर के पदों में खटकती है वह पौराणिक प्रसंगों के कथनों का अम्बार तथा कथ्य विषय भाषा आदि की पुनरावृत्ति है। कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चमत्कारों के भार से दबी हुई उनकी भारती अपनी वीणा के तारों को सहज करने में भी अपने को असमर्थ-सी पाती है। परन्तु उनके इस अतिरेक में भी चित्तोपम सौन्दर्य है जिसमें सूर के जीवन का आधार स्पष्ट दीख पड़ता है।

उपर्युक्त उद्धृत अंशों की मान्यताओं पर जब हम विचार करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है राग रागनियों के लक्षणों के अनुसार निर्मित गीत संगीत के अनुकूल भावनाएँ ब्रजभाषा आदि का ग्रहण है। यही सब बातें तुलसी के पूर्व के गीत काव्य में भी निहित हुई हैं। इससे उनके गेय काव्य में गेयता की संश्लिष्टता रह ही नहीं जाती है।

यह यथार्थ सत्य है कि तुलसी विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय की मर्यादा परक दास्य भावना के भक्त कवि थे। जिसका प्रभाव उनके अन्य काव्यों के समान इन गेय काव्यों पर भी है। इसके अतिरिक्त आचार और कर्त्तव्य निष्ठा भाव-गाम्भीर्य भावों में परिनिष्ठित तत्त्व आदि सभी बातें उनके समग्र काव्यों में उपलब्ध हैं। इन तथ्यों के कारण यदि उनके गीत काव्यों में भी गम्भीरता और गुरुता समाहित हो उठी हो तो इसमें सन्देह ही क्या? कुछ महानुभाव विवेचक तुलसी-गीति-काव्य में गेयता का अभाव सिद्ध करते हैं जो अनुचित है और उनका निर्णय पक्षपात पूर्ण है। मैं उक्त विवेचकों से यह पूछता हूँ कि जब उनके गेय काव्य में उभरे सब तत्त्व विद्यमान हैं फिर उनकी गेयता कहाँ विलुप्त हो गई है? विनयपत्रिका के प्रारम्भ के ११ पद संस्कृत की स्तोत्र पद्धति पर रचित हैं उनका विशिष्ट होना स्वाभाविक है किन्तु वे अधिक नहीं हैं। यह सत्य है। काव्य में अधिक भी लम्बे-लम्बे गीत हैं जो सहृदयों को थका देते हैं—इन तथ्यों के कारण ही यदि तुलसी पर हम आक्षेप कर बैठें तो यह पूर्ण विवेक नहीं है। जब उनके गीति-काव्यों में सभी गीति-तत्त्व हैं तब तो मैं उन्हें गेयता में पूर्ण ही कहूँगा। सच तो यह है कि उनसे रसास्वादन करने के लिए हमें उनके उस स्तर तक आने की आवश्यकता है। यदि हम यह नहीं कर पाते हैं

तो हमारा यह भ्रम है और वैसा आक्षेप करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

श्री शिखरचन्द्र जैन अपने कथन में जिन तथ्यों को लेकर तुलसी पर आक्षेप करते हैं वे तथ्य डा० हरवंशलाल शर्मा के विचारानुसार सूर-काव्य में भी निहित हैं। इस प्रकार श्री जैन का तुलसी के सम्बन्ध मे निर्णय पक्षपात पूर्ण ही कहा जायेगा।

सच तो यह है कि तुलसी के सम्पूर्ण गेय काव्यों मे गेयता है। यह अवश्य सत्य है कि उनके छोटे-छोटे पद जिनमे स्वच्छन्द आत्माभिव्यंजन है वे उनके लम्बे गीतों से अधिक मधुर और सजीव हैं। उनके वे गीत भी निष्प्राण नहीं हैं उनमें भी जीवन के लिए गीत तत्त्व समाहित है। इस प्रकार उनके गेय काव्यों में गेयता है और पूर्ण रूप से है।

तुलसी गायक नहीं थे क्योंकि इस सम्बन्ध का कोई भी अन्तः या बहिः साक्ष्य उपलब्ध नही है। कबीर, सूर आदि के गान करते हुए जिस प्रकार चित्र मिलते हैं वैसा तुलसी से सम्बन्धित अभी तक कोई चित्र भी नही मिला है। फलतः यह स्पष्ट है कि अपने गेय काव्य के निर्माण के लिए उन्होंने संगीत का अध्ययन किया और जब वह उसके निर्माण में प्रवृत्त हुए तब वह अपने महाकवि के हृदय को ओझल न कर सके। एक ही शैली मे रचना करने वाले निष्णात सूर भले ही किसी को तुलसी से आगे जाते हुए अवगत हों किन्तु जिसने विविध शैलियो के साथ सफल गीत शैली में भी राष्ट्र और व्यक्ति को अमर सन्देश सुनाया हो उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करना ही पड़ेगी। दृष्टि विशेष के कारण यदि यह तथ्य किसी को स्पष्ट न हो तो यह तथ्य का दोष नहीं है व्यक्ति का है।

०

११

तुलसी के अनन्तर राम पद काव्य परम्परा

विषय प्रवेश

रामानन्द द्वारा रामोपासना के प्रवर्तन कर दिए जाने पर रामावत सम्प्रदाय में गोस्वामी तुलसीदास को ही श्रेय है कि उन्होंने भक्ति मर्यादित अपनी वाणी में राम नाम को व्यापक किया जिसके फलस्वरूप तथा पुरुषोत्तम रूप समादृत हुआ। उनके लोक रक्षक और लोक रंजक जीवन की लीलाओं के प्रति लोगों की आस्था बढ़ी और उनके चरित की हिन्दू-मात्र के घर में प्रतिष्ठा हुई। उनकी लीलाओं में तुलसी ने सामान्य लोक धर्म का सौन्दर्य देखा जिसके द्वारा मानवमात्र अपने जीवन में वह कर्तव्य और मर्यादा की निष्ठा प्राप्त कर सके।

तुलसी का उद्देश्य महान् था जिसकी पूर्ति में उनका सम्पूर्ण काव्य निमग्न है। अपने आराध्य के व्यक्तित्व और चरित्र को उन्होंने कहीं एकांगी नहीं होने दिया जैसा मध्यकाल के कृष्ण भक्त कवियों ने अपने आराध्य के साथ किया। राम के समान कृष्ण भी लोकादर्शों से युक्त लोक रक्षक और लोक-रंजक रहे हैं किन्तु उनके उपासकों ने महाभारत में उनके उस स्वरूप के स्थान पर भागवत में प्रतिपादित उनके मधुर स्वरूप को ही प्रधानता दी जिससे उनका पूर्ण रूप प्रचार में न आ सका। यदि उन्होंने शक्ति-शील-सौंदर्य से युक्त अपने आराध्य के पूर्ण रूप को चित्रित किया होता तो वह भी तुलसी के राम के समान समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व करता किंतु साम्प्रदायिक सीमाओं के बाहर जाना उनके लिए सम्भव न हो सका। इस तथ्य से तुलसी के कृतित्व की व्यापकता और उपादेयता स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है।

राम की कथा, धार्मिक सिद्धान्त और भक्ति भावना के तत्त्व रामानन्द द्वारा अवश्य प्रतिपादित थे, किन्तु उनके चित्रण की समन्वयवादी आदर्श भूमिका का व्यावहारिक निर्देशन तुलसी की ही प्रतिभा का काम था। उनके समक्ष वैदिक बौद्ध जैन साहित्य के ऐतिहासिक तथा वाल्मीकि कालिदास और भवभूति आदि के साहित्यिक राम का रूप विद्यमान था। उन्हीं में से उनके सामान्य स्वरूप और चरित्र को लेकर 'नानापुराणनिगमागम' की भावनाओं को उन्होंने उसमें सन्निविष्ट किया था जिससे देश और समाज को अभूतपूर्व बल और चेतना मिली तथा धर्म और साहित्य दोनों आभारी हुए, वस्तुतः यह तुलसी की बहुत बड़ी देन थी।

तुलसी ने राम भक्ति की परम्परागत मर्यादा और प्रवृत्ति को अपनी कृतियों

में प्रधानता दी है, जिसके आधार पर आराध्य राम के अनुकूल बने रहने, संरक्षण करने, अनन्य आस्था रखने, अहेतुकी कृपा प्राप्त करने आदि की अभिव्यक्ति में उनकी वाणी सक्षम रही है। इन्हीं के साथ अपनी दैन्य और अपावनता सिद्ध करने और आराध्य के प्रतिकूल भावनाओं का परित्याग रखने का भी वह प्रतिपादन करते चले हैं। इन्हीं से निर्मित काव्य पथ पर चलते हुए उन्होंने भारतीय जीवन की सात्विक और तात्त्विक आवश्यकताओं को समेटा है जिससे समन्वयकारी तथ्य स्वतः ही उनके काव्यों में केन्द्रित होते चले हैं।

तुलसी की उपर्युक्त स्थापनाओं और प्रयोगों की परम्परा का कोई भी रूप हिन्दू धर्म और हिन्दी-काव्य में न उनसे पूर्व उपलब्ध है और न उनके अनन्तर ही अक्षुण्ण रह सका है। कृष्ण भक्ति-काव्य में उसके माधुर्य तत्त्व तक ही सीमित रह जाने के कारण उसमें उसको प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, स्वयं रामावत सम्प्रदाय के कवि भी उनके प्रतिपादित आदर्श को सुरक्षित न रख सके। फलतः तुलसी अपने पथ के अकेले ही पथिक रहे हैं और आज भी उनका काव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान साहित्य, समाज और धर्म के पथ पर अपनी आभा विकीर्ण करता हुआ उन्हें अग्रसर रहने के लिए अभिप्रेरित करता है।

जो तुलसीदास के अनन्तर राम-गीति काव्य की परम्परा आज तक उपलब्ध है। हम सरलता से उसके दो विभेद कर सकते हैं—

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत-काव्य।

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य।

(आ) काव्य-क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत-काव्य।

२ लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य।

मेरा आलोच्य-विषय केवल राम-पद परम्परा को प्रस्तुत कर रहा है इससे यहाँ उसी के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। अन्य का संकेत ही मिलेगा विवेचन नहीं।

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत काव्य

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य—रामावत सम्प्रदाय की प्रगति के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा चुका है कि तुलसीदास के अनन्तर उसमें एक नवीन मोड़ समाविष्ट हो उठा है। उस तक दास्य भाव मर्यादा-तत्त्व कर्तव्य निष्ठा आदि सम्प्रदाय के आवश्यक अंग थे किन्तु अनन्तर वे अनावश्यक हो उठे और उनके स्थान पर माधुर्य की सरसता और प्रेम की मादकता ही पर्याप्त समझी जाने लगी। इसमें सम्प्रदाय यदि नवीन पथ पर अग्रसर हो उठा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

प्राणचार सातों अग्रदास और तुलसी में भी यत्र-तत्र माधुर्य भाव आनुषङ्गिक

रूप से आ गये हैं। किन्तु उन लोगों ने सम्प्रदाय की मूल चेतना का कहीं भी खण्डन और मूलोच्छेदन नहीं होने दिया। अनन्तर उनके अनुयायियों ने इस बात को न समझा और उसकी परम्परागत दृढ़ता और मार्मिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी। वे भागवत के प्रभाव से संचरित कृष्ण के स्वरूप की ओर सहसा उठे और उसी को उन्होंने अपने आराध्य के लिए उचित समझा। फलतः राम भक्ति में भी रसिक भाव का प्राबल्य हो उठा। सम्प्रदाय की इस नवीन पद्धति के पोषण में रसिक भक्तों का कुतूहल [illegible] आदि आचार्यों के भगवान और भक्त के पति और पत्नी के स्वरूप में कहीं अभिव्यक्ति हुई। कृष्ण-काव्य में भागवत के प्रभाव के समान राम के रसिक भाव के सम्बन्ध में शिव संहिता और हनुमत्संहिता आदि ने भी प्रेरणाएँ दीं और सम्प्रदाय सम्बन्धी जैसे आदर्श महाकवि के अभाव में अपनी दिशा को बदलने के लिए बाध्य हो उठा। सच तो यह है कि सम्प्रदाय में परम्परागत राम के आदर्शों के उपयोग का अवकाश न रह गया। उनके शक्ति-शील सौन्दर्य इन तीन तत्त्वों के स्थान पर शक्ति और शील तिरोहित हो गए और सौन्दर्य का उपयोग पक्ष ही अवशिष्ट रह गया। फलतः व्यावहारिक आदर्श के अभाव में सम्प्रदाय एकांगी और [illegible] हो गया।

रसिक भाव की उपासना के लिए सम्प्रदाय में पद या गान शैली का ही अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। अभी तक इस परम्परा के प्रायः सभी रसियों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात न होने से उनकी रचनाएँ भी अज्ञात ही रहीं किन्तु श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' के राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना और डा० भगवतीसिंह के राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय शोध-ग्रन्थों के प्रकाशनों से उनके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है जिसमें सम्प्रदाय में अविच्छिन्न गीति-परम्परा उपलब्ध हुई है।

रसिक भक्तों के माधुर्य परक गीतों से सम्प्रदाय की यह भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। नाभादास के रामाष्टयाम से अग्रगुरु और राम के भोजन के समय नृत्य संगीत आदि के सरस वर्णन प्रस्तुत किए गए। बालकृष्ण की कृपा निवास आदि के विविध ग्रन्थों से यह उपासना पुष्ट होती गई। अनन्तर जब राम चरणदास जी ने दाम्पत्य भाव से प्रेरित हो स्वसुखी और तत्सुखी भाव के आधार पर जब सीता राम में 'तत्सुखी' भाव की धाराएँ प्रवर्तित कीं तब तो राम भक्ति का यह रसिक सम्प्रदाय एक सुदृढ़ पथ पर आकर आरूढ़ हो गया।[1]

देखो झूलत राघो डोल।
जनक सुता लीन संग सोभित गौर स्याम तन लोल॥
हीरा पन्ना लाल फिरोजा रतन खचित अमोल।
कौतुक राम जानकी डोलन कहैं तुलसी बोल॥
हँसत परस्पर प्रीतम प्यारी आनन्द बढ्यो सजोल।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास।

में प्रधानता दी है जिसके आधार पर आराध्य राम के अनुकूल बने रहने संरक्षण करने अनन्य आस्था रखने अहैतुकी कृपा प्राप्त करने आदि की अभिव्यक्ति में उनकी वाणी संलग्न रही है। इन्हीं के साथ अपनी दैन्य और अपावनता सिद्ध करने और आराध्य के प्रतिकूल भावनाओं का परित्याग रखने का भी वह प्रतिपादन करते चले हैं। इन्हीं से निर्मित काव्य पथ पर चलते हुए उन्होंने भारतीय जीवन की सात्विक और तात्विक आवश्यकताओं को समेटा है जिससे समन्वयवादी तथ्य स्वतः ही उनके काव्यों में अन्वित होने लगे हैं।

तुलसी की उपर्युक्त स्थापनाओं और प्रयोगों की परम्परा का कोई भी रूप हिन्दू धर्म और हिन्दी-काव्य में न उनसे पूर्व उपलब्ध है और न उनके अनन्तर ही अक्षुण्ण रह सका है। कृष्ण भक्ति-काव्य में उसके माधुर्य तत्व तक ही सीमित रह जाने के कारण उसमें उसको प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता स्वयं रामावत सम्प्रदाय के कवि भी उनके प्रतिपादित आदर्श को सुरक्षित न रख सके। फलतः तुलसी अपने पथ के अकेले ही पथिक रहे हैं और आज भी उनका काव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान साहित्य समाज और धर्म के पथ पर अपनी आभा बिकीर्ण करता हुआ उन्हें अग्रसर रहने के लिए अभिप्रेरित करता है।

जो तुलसीदास के अनन्तर राम-गीति काव्य की परम्परा आज तक उपलब्ध है। इसे सरलता से उसके दो विभेद कर सकते हैं—

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत-काव्य।

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य।

(आ) काव्य-क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत-काव्य।

२ लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य।

मेरा आलोच्य-विषय केवल राम-पद परम्परा को प्रस्तुत कर रहा है इससे यहाँ उसी के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। अन्य का संकेत ही मिलेगा विवेचन नहीं।

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत काव्य

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य—रामावत सम्प्रदाय की प्रगति के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा चुका है कि तुलसीदास के अनन्तर उसमें एक नवीन मोड़ समाविष्ट हो उठा है। अब तक दास्य भाव मर्यादा-तत्त्व कर्तव्य निष्ठा आदि सम्प्रदाय के आवश्यक अंग थे किन्तु अनन्तर वे अनावश्यक हो उठे और उनके स्थान पर माधुर्य की सरसता और प्रेम की भावुकता ही पर्याप्त समझी जाने लगी। इसमें सम्प्रदाय यदि नवीन पथ पर अग्रसर हो उठा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भावकार सन्त अग्रदास और तुलसी में भी यत्र-तत्र माधुर्य भाव आनुषङ्गिक

रूप से आ गये हैं किन्तु उन लोगों ने सम्प्रदाय की मूल चेतना को कहीं भी अखण्ड और भूमिल नहीं होने दिया। अनन्तर उनके अनुयायियों ने इस महान समस्या और उसकी परम्परागत दृढ़ता और मार्मिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी। वे भागवत के प्रभाव से संचरित कृष्ण के स्वरूप की ओर मग्न उठे और उसी को उन्होंने अपने आराध्य के लिए उचित समझा। फलतः राम भक्ति में भी रसिक भाव का प्राबल्य हो उठा। सम्प्रदाय की इस नवीन पद्धति के पोषण में रसिक भक्तों का कुशलदास, अग्रदास आदि आचार्यों के भगवान और भक्त के पति और पत्नी के सम्बन्ध में बड़ी अभिव्यक्ति था। कृष्ण-काव्य में भागवत के प्रभाव के समान राम के रसिक भाव के सम्बन्ध में शिव संहिता और हनुमत्संहिता आदि में भी प्रेरणाएँ थीं और सम्प्रदाय तुलसी जैसे मार्मिक महाकवि के प्रभाव से अपनी दिशा को बदलने के लिए बाध्य हो उठा। सच तो यह है कि सम्प्रदाय के परम्परागत राम के नारायणत्व के उपयोग का अवकाश न रह गया। उनके शक्ति-शील सौन्दर्य इन तीन तत्त्वों के स्थान पर शक्ति और शील तिरोहित हो गए और सौन्दर्य का उपयोग मात्र ही अवशिष्ट रह गया। फलतः व्यावहारिक आदर्श के अभाव में सम्प्रदाय एकांगी और सकीर्ण हो गया।

रसिक भाव की उपासना के लिए सम्प्रदाय में पद या गान शैली का ही अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। अभी तक इस परम्परा के प्रायः सभी कवियों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात न होने से उनकी रचनाएँ भी अज्ञात हो रहीं किन्तु श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना और डा० भगवतीसिंह के राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय शोध-ग्रन्थों के प्रकाशनों से उनके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है जिससे सम्प्रदाय में अविच्छिन्न रीति-परम्परा उपलब्ध हुई है।

रसिक भक्तों के माधुर्य परक गीतों में सम्प्रदाय की यह भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। नाभादास के रामाष्टयाम से अन्तःपुर और राम के भोजन के समय मुख्य संगीत आदि के अलग वर्णन प्रस्तुत किए गए। बालकृष्ण की कृपा निवास आदि के विविध ग्रन्थों में यह उपासना पुष्ट होती गई। अनन्तर जब राम चरणदास स्वामी जिन्होंने दाम्पत्य भाव से प्रेरित हो स्वसुखी और सखी भाव के आधार पर जब सीता राम में 'तत्सुखी' नाम की शाखाएँ प्रवर्तित कीं तब तो राम भक्ति का यह रसिक सम्प्रदाय एक सुदृढ़ पथ पर आरूढ़ हो गया।[1]

देखो झूलत राघो डोल।
कनक सुता लीन अंग सोभित गोर स्याम तन लोल॥
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतन खचित अमोल।
कीड़त राम जानकी दोऊ वर्षे कुसुमी चोल॥
हँसत परस्पर प्रीतम प्यारी आनन्द बढ़यो सकोल।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास।

में प्रधानता दी है जिसके आधार पर आराध्य राम के अनुकूल बने रहने संरक्षण करने अनन्य आस्था रखने अहैतुकी कृपा प्राप्त करने आदि की अभिव्यक्ति में उनकी वाणी संलग्न रही है। इन्हीं के साथ अपनी दैन्य और अपावनता सिद्ध करने और आराध्य के प्रतिकूल भावनाओं का परित्याग रखने का भी वह प्रतिपादन करते चले है। इन्हीं से निर्मित काव्य पथ पर चलते हुए उन्होंने भारतीय जीवन की सात्विक और तात्विक आवश्यकताओं को समेटा है जिससे समन्वयवादी तथ्य स्वतः ही उनके काव्यों मे चित्रित होते चले है।

तुलसी की उपर्युक्त स्थापनाओं और प्रयोगों की परम्परा का कोई भी क्रम हिन्दू धर्म और हिन्दी-काव्य में न उनसे पूर्व उपलब्ध है और न उनके अनन्तर ही अक्षुण्ण रह सका है। कृष्ण भक्ति-काव्य में उसके माधुर्य तत्व तक ही सीमित रह जाने के कारण उसमें उसको प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता स्वयं रामावत सम्प्रदाय के कवि भी उनके प्रतिपादित आदर्श को सुरक्षित न रख सके। फलतः तुलसी अपने पथ के अकेले ही पथिक रहे हैं और आज भी उनका काव्य प्रकाश-स्तम्भ के समान साहित्य समाज और धर्म के पथ पर अपनी आभा विकीर्ण करता हुआ उन्हें अग्रसर रहने के लिए अभिप्रेरित करता है।

गो० तुलसीदास के अनन्तर राम-गीति काव्य की परम्परा आज तक उपलब्ध है। हम सरलता से उसके दो विभेद कर सकते हैं—

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत-काव्य।
  (अ) रामावत सम्प्रदाय मे भक्त कवियों का गीत-काव्य।
  (आ) काव्य-क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत-काव्य।
२ लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य।

मेरा आलोच्य-विषय केवल राम-पद परम्परा को प्रस्तुत कर रहा है इससे यहाँ उसी के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है। अन्य का संकेत ही मिलेगा विवेचन नहीं।

१ शिष्ट साहित्य में राम परक गीत काव्य

(अ) रामावत सम्प्रदाय में भक्त कवियों का गीत-काव्य—रामावत सम्प्रदाय की प्रगति के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा चुका है कि तुलसीदास के अनन्तर उसमें एक नवीन मोड़ समाविष्ट हो पड़ा है। उन तक दास्य भाव मर्यादा-तत्व कर्तव्य निष्ठा आदि सम्प्रदाय के आवश्यक अंग थे किन्तु अनन्तर वे अनावश्यक हो उठे और उनके स्थान पर माधुर्य की सरसता और प्रेम की भावुकता ही पर्याप्त समझी जाने लगी। इसमें सम्प्रदाय यदि नवीन पथ पर अग्रसर हो उठा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अग्रदास स्वतः परदास और तुलसी में भी यत्र-तत्र माधुर्य भाव आनुषङ्गिक

रूप से आ गये हैं किन्तु उन लोगों ने सम्प्रदाय की मूल चेतना को कहीं भी अवरुद्ध और कुंठित नहीं होने दिया। अनन्तर उनके अनुयायियों ने इस मर्यादा की रक्षा और उसकी परम्परागत शुद्धता और मार्मिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी। वे भागवत के प्रभाव से संचालित कृष्ण के स्वरूप की ओर आकृष्ट हुए और उसी को उपासना पद्धति के लिए उचित समझा। फलतः राम भक्ति में भी रसिक भाव का प्राबल्य हो उठा। सम्प्रदाय की इस नवीन पद्धति के पोषण में रसिक भक्तों का कृष्णदास पयहारी आदि आचार्यों ने भगवान और भक्त के पति और पत्नी के रूप में अभिव्यंजना दी। कृष्ण-काव्य में भागवत के प्रभाव के समान राम के रसिक भाव के सम्बन्ध में शिव संहिता और हनुमत्संहिता आदि ने भी प्रेरणाएँ दीं और सम्प्रदाय तुलसी जैसे आदर्श महाकवि के अभाव में अपनी दिशा को बदलने के लिए बाध्य हो उठा। सच तो यह है कि सम्प्रदाय में परम्परागत राम के आदर्शों के उपयोग का अवधान न रह गया। उनके शक्ति-शील सौन्दर्य इन तीन तत्त्वों के स्थान पर शक्ति और शील तिरोहित हो गए और सौन्दर्य का उपयोग मात्र ही अवशिष्ट रह गया। फलतः व्यावहारिक आदर्श के अभाव में सम्प्रदाय एकांगी और संकीर्ण हो गया।

रसिक भाव की उपासना के लिए सम्प्रदाय में पद या गान शैली का ही अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। अभी तक इस परम्परा के भीतर अथवा रचयिता के ग्रन्थ रूप में प्रकाश में न होने से उनकी रचनाएँ भी अज्ञात हो रहीं किन्तु श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' के राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना और डा. भगवतीप्रसाद सिंह के राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय शोध-ग्रन्थों के प्रकाशनों से उनके साहित्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है जिससे सम्प्रदाय में अविच्छिन्न कीर्ति-परम्परा उपलब्ध हुई है।

रसिक भक्तों के माधुर्य परक गीतों से सम्प्रदाय की यह भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई। नाभादास के रामाष्टयाम में अष्ट याम और राम के भोजन के समय नृत्य संगीत आदि के सरस वर्णन प्रस्तुत किए गए। बालकृष्ण की कृपा निवास आदि के विविध ग्रन्थों से मधुर उपासना पुष्ट होती गई। अनन्तर जब रामचरणदास करुणासिन्धु ने दाम्पत्य भाव से प्रेरित हो स्वसुखी और सखी भाव के आधार पर जब जीवाराम ने 'तत्सुखी' नाम की शाखाएँ प्रचलित कीं तब तो राम भक्ति का यह रसिक सम्प्रदाय एक सुदृढ़ पथ पर आकर आरूढ़ हो गया।[1]

देखो झूलत राघो डोल।
कनक खंभ लोल अंग सोभित गौर स्याम तन लोल॥
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतन जटित अमोल।
कौतुक राम-जानकी दोऊ बैठे झुलवैं डोल॥
हँसत परस्पर प्रीतम प्यारी आनन्द बढ़यो अलोल।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास।

धो अपमलो धुनि-धुनि पावति बोलहि मीठे बोल ॥

तुलसीदास ने अपनी गीतावली के उत्तरकाण्ड में राम सीता की बसन्त और फाग की क्रीड़ाओं में इसी प्रकार के आनन्द-विलास की व्यवस्था की है। वह स्थल तुलसी-काव्य में अपूर्व और विचित्र लगता है अग्रदास का यह पद भी राम की मर्यादा के भाव के विरुद्ध निम्न स्तर पर उतरा हुआ है। राम-सीता की परस्पर की हँसी भले ही सभी को आनन्दित करती हो किन्तु वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम की हँसी नहीं है। उसमें चिर-परिचित गाम्भीर्य नहीं है।

रामचरणदास द्वारा 'स्वसुखी' शाखा के स्थापित हो जाने पर उपासना के माधुर्य भाव को बड़ा बल मिला। उसके अनुयायियों ने अपने आराध्य के प्रति अपने अन्तस्तल के पत्नी भाव को व्यक्त करने में विशेष सुख की अनुभूति की। रामचरण दास रचित 'रसमालिका' में उन्होंने रसिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है उसमें उनका पत्नी भाव देखिए—

राम-नाम कबहीं यदपि मुख ते कहा न जाय।
ज्यों तिय निज पति नाम को कहत बहुत सकुचाय ॥

इस प्रवृत्ति और भाव के कारण उनके पद बड़े ही मधुर और रसपूर्ण हो गए हैं।

साज-सज्जा से युक्त राम-सीता शृंगार-विपिन से रास-स्थल पर पधार रहे हैं। सखियाँ उनके समक्ष विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ प्रस्तुत करती रहती हैं।

आवत राम बिहारी देखो सखि।
सरयू तीर शृंगार विपिन ते अति अनूप छवि न्यारी ॥
सीताराम मनोहर जोरी चितवन की बलिहारी।
कुंडल झलक हलक मुक्ता की लसकत हृदय हमारी ॥
संग सखी सोहैं अलबेली सबी छबी अधिकारी।
कुसुम सिंगार किए नख-सिख लौं निरखत स्याम सँवारी ॥
प्रभु आगे सखि बोलत आवें फूलन सेज उतारी।
थकित भूलि सैन परस्पर देखहि लखि आनन्द पिय प्यारी ॥
आए दम्पति रामचरण लखि कुसुम तिवारी पधारी।
नख-सिख मनिभूषण सिंगार करि सिंहासन बैठारी ॥[1]

इन पंक्तियों में राम के स्वरूप का केवल उपभोग-पक्ष ही वर्णित है। शक्ति शील-सौन्दर्य से युक्त उनके लोक बिहारी स्वरूप के स्थान पर रास-बिहारी का रूप ही अवशिष्ट रह गया है। दुर्जन के स्थान पर सज्जन साधु, विप्र आदि पाप के स्थान पर पुण्य तप के स्थान पर वह सामाजिक अनाचार और कदाचार के स्थान

---

१ श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ २५२

पर सदाचार की प्रतिष्ठा का कोई भी आवरण राम के इस रूप में नहीं है। यह चरित्र के प्रसन्न पक्ष से शून्य एकांगी है। राम का यह रूप लौकिक शृंगारिक भाव भावों को भले ही अंकुरित कर सके सात्विक विराड्भाव को नहीं प्रदान कर सकता।

रामचरणदास की शिष्य-परम्परा में जीवाराम 'युगल प्रिया' जनकराज किशोरी शरण 'रसिक अली' हरिदास आदि ने इस उपासना के शास्त्रीय पक्ष का सभी प्रकार पुष्ट किया है।[1] 'युगलप्रिया' ने इसी में 'तत्सुखी' शाखा स्थापना की थी जिसके द्वारा इस रसिकोपासना में 'परकीयाभाव' की उपासना का सूत्रपात हुआ।

आजु भरी राम तुम्हरी नजरिया।
जहि चितवत तेहि बस करि राखत सुन्दर स्याम राम धनु धरिया॥
कुण्डल युत सुत वाम प्रकाशत भालमणि लटकन मनहरिया।
युगलप्रिया मिथिला पुर वासिन ऐसो आन बिच भासो मदहरिया।[2]

राम के सौन्दर्य का यह प्रस्फुटन बहुत निम्न कोटि का है। उसकी पृष्ठभूमि में लोक-धर्म की किसी भी प्रकार की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह निराधार है। राम में सौंदर्य था किन्तु उसकी शक्ति और शील के प्रभाव के कारण उनमें गौरव व जो निखार आना चाहिए था वह यहाँ नहीं है। राम का अवतारी स्वरूप इस स्थल पर विलुप्त हो उठा है। सच तो यह है कि राम के इस रूप में लोक-रंजन का तत्व ही नहीं है।

राम ने धर्म के विरोधियों के संहार के स्थान पर राम सीता तक ही अपने को सीमित कर लिया है। फलतः वानर और भालुओं की सेना के स्थान पर सखियाँ धनुषबाण की टंकार के स्थान पर वीणा मृदंग आदि की ध्वनि तथा देवताओं की जय जयकार के स्थान पर कामकला का गान श्रुतिगोचर होता है—

आज बन देखो री आली सीताराम रसिक पिय रास रच्यो सुखदाई।
रास भूषन बसन स्याम सलोने संग लो सीय लो संग लोनी सखी समुदाई॥
वीणा मृदंग झाँझ बजतार चंग बाजत ईसन राम परम सोहाई।
युगलप्रिया मान करहिं कामकला लाल प्यारी उमंगि तन ढाई।[3]

जब त्रेता के राम के समस्त गुणमयाली वास का अमल राम ध्वनित करने की व्यवस्था कर दी गई है तब राम का ऐतिहासिक अथवा तुलसी द्वारा प्रतिपादित पुरुषोत्तम स्वरूप कैसे सुरक्षित रह सकता था।

रसीले लाला लागि गई लोनों प्रीति।
प्रिय आनन चहियानन प्रियतम विरहिन रति रचि रीति॥

---

१ डा० भगवतीसिंह—'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' पृष्ठ ४२०
२ श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—'राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना'—(पृष्ठ २५५)
३ वही वही — —(पृष्ठ २२८)

चाहु प्रवाह हमेश बहत चित सखत न गत विपरीत ।
बापु संग रंग मिलवै नहि छोड़यो नीति प्रतीति ।
युगल अनन्य शरण मिलि हौं प्रिय बही प्रबल परतीति ॥[१]

स्वामी युगलानन्यशरण 'हेमलता' की उपर्युक्त पंक्तियों में विरह का परकीया भाव ही मुखरित है। सीता रामशरण 'रामरसरंगमणि' ने अपनी 'प्रेम पदावली' के अन्तर्गत राम-सीता के झूलने के मनोहर दृश्य का निम्न पद में सरस वर्णन किया है—

झुकि झुकि सीताराम सु झूलें ।
सावन सरयू तट प्रमोद बन घन बरसत अनुकूलें ॥
कल कामिनी कदंबा कलि कलि कोउ विधि हँसि हँसि हूलें ।
मिलि मलार गावत पिय पिय छवि सुनि सरसिज सम फूलें ॥
चंचल नयन तुषारि सनेही लखि वर्णन गुन कूलें ।
प्यारिहूँ मनमथ सम्हारि कहि रस रंग मनी सुख मूलें ॥[२]

राम का यह रूप बहुत एकांगी और एक पक्षीय है। उनकी माधुर्योपासना के मूले भक्त-कवियों के समक्ष ऐतिहासिक और साहित्यिक राम के विविध रूप विद्यमान थे स्वयं तुलसी का काव्य अनुकरण के लिए विद्यमान था किन्तु इन संकुचित भक्त-कवियों को उनसे सरोकार नहीं था अतः फिर वे उनके लोक-धर्मी की ओर कैसे दृष्टि फेर पाते। फलतः राम के व्यापक जीवनरूपों का तिरोभाव हो जाना स्वाभाविक था।

राम की इस रसिकोपासना-परम्परा में इसी प्रकार की पदावलियाँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। इनमें उपासना की रसिकता के सम्बन्ध में भले ही सब कुछ हो किन्तु राम के जीवन का लोक-पक्ष पूर्ण रूप से विलुप्त हो गया यह पूर्ण सत्य है।

माधुर्य के कारण इस प्रकार के काव्य के आलम्बन राम में 'रति' स्थायी भाव की ही प्राय प्रतिष्ठा हो सकी और आदि से अन्त तक शृंगार के ही विभाव अनुभाव और संचारी भाव उसे पुष्ट करते रहे। फलतः इन पदावलियों में शृंगार रस की ही प्रधानता है। वात्सल्य हास्य आदि अन्य रसों का भी यत्र-तत्र समावेश है किन्तु इनकी प्रमुखता नहीं है।

आ—काव्य क्षेत्र की साहित्यिक रचनाओं में गीत काव्य

तुलसीदास के अनन्तर राम-काव्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। उसके धर्म

१ श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' —(पृष्ठ २७०)
२ वही वही — —(पृष्ठ २६७)

प्रधान एक ग्रंथ का विवेचन विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। अब यहाँ अन्य ग्रंथ जिसमें काव्य तत्त्वों की प्रमुखता है उन्हें भी प्रस्तुत कर उनकी गीत परम्परा का भी सीमित करना आवश्यक है।

तुलसीदास के अनन्तर केशवदास की 'रामचन्द्रिका', सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' अन्तर्गत 'राम रसायन', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'वैदेही वनवास', रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि', रामनाथ ज्योतिषी का 'रामचन्द्रोदय', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत संत' आदि राम परक प्रमुख रचनाएँ हैं। गीत तत्त्वों के सम्बन्ध में इन सम्पूर्ण कृतियों में केवल 'साकेत' और 'साकेत संत' ही हमारी विचार-सीमा के भीतर आते हैं। अन्य रचनाओं में अन्य शैलियों का ही प्रयोग हुआ है। इससे उनको विवेचन का विषय नहीं बनाया गया है। फिर भी इस स्थल पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन रचनाओं द्वारा रामचरित के अधिकाधिक पक्षों और तत्त्वों का उद्घाटन होता रहा है और इसमें राम-चरित रूढ़िवादी और एक पक्षीय नहीं हो पाया है जैसा चारित परम्परा के अनुगमन उपलब्ध हुआ है। यह अवश्य सच है कि वाल्मीकि, तुलसीदास के समान इन कवियों में समन्वयकारी भावनाओं और आदर्शों का अधिक काव्य उपादान के रूप में नहीं जुट पाया है। इसी से तुलसी काव्य के समान वे जन जीवन का निरन्तर रंजन और तुष्टि करवाने में असमर्थ रहे हैं।

भगवान् राम और पुरुषोत्तम राम इन दोनों स्वरूपों को एकाकार करने में तुलसी ने स्तुत्य प्रयास किया है। उन्हें सामान्य भूमि पर उतार कर भी उन्होंने उनके भगवान् रूप को कहीं भी कुंठित और अपमानित नहीं होने दिया। यह समन्वित रूप में तुलसी की बहुत बड़ी प्रतिभा का काम था। उनके परवर्ती कवि तक कहीं भी यदि उतना महत्त्व इस रूप को नहीं दे पाये हैं तो यह आश्चर्य की बात है।

काव्य वस्तु और भाव का वैशिष्ट्य तो तुलसी में था ही, किन्तु उन्होंने अनुरूप विविध काव्य रूपों और भाषा-शैलियों का ग्रहण भी उपयोग किया है। इसी से उनका गान किया हुआ राम-चरित गाथा में एक-एक पद का मर्म है। सब उसे पढ़ते और सुनते हैं तथा अपने स्तर के अनुसार ही उससे रंजन और शान्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की सब-सुलभता तुलसी के अनन्तर के राम-चरित-काव्य में समाहित नहीं है। 'रामचन्द्रिका' और 'रामचन्द्रोदय' में पाण्डित्य है। 'राम रसायन' में रीति कालीन कवि का कौशल-विलास है, 'रामचरित चिन्तामणि' में वर्णन-विस्तृतता और 'वैदेही वनवास', 'साकेत' तथा 'साकेत संत' की काव्य वस्तु नवीनता है। ये सब अपने काव्य तत्त्वों को लेकर तुलसी जैसी सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं।

उपर्युक्त काव्यों में 'साकेत' और 'साकेत संत' दोनों महाकाव्य उर्मिला और भरत को समान प्रधानता देने के लिए लिखे गए हैं जिनके माध्यम से उपेक्षित भावनाओं के उद्घाटन का अवसर इन काव्यों में उपस्थित हुआ है। वाल्मीकि और

तुलसी की उपेक्षित उर्मिला जब गुप्त जी की प्रतिभा के बल पर बोल उठी लोगों को उसकी वाणी सुनकर बड़ा कौतूहल हुआ। रघुकुल की बहू का इतना मुखरित होना भले ही मर्यादा की सीमाओं को तोड़ता प्रतीत हो किन्तु जीवन के दारुण आघातों को सहन करती हुई वह मूक ही रही हो ऐसा भी तो सम्भव नहीं है। इसी से गुप्त जी ने प्रसंगवश की बात कहने की उसे पूर्ण स्वच्छन्दता दे दी है। इस अधिकार को प्राप्त कर उसने अपने मानस के सघन की मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है किन्तु कहीं-कहीं उसके कथन में आधुनिकता भी समाहित हो उठी है यही कुछ खटकता है।

साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-व्यथा प्रस्फुटित हो उठी है। उसके लिए कवि ने ऊहात्मक उक्तियों का आश्रय न लेकर परिवार और संसार को उसके कथन का विषय बनाया है, जिसमें स्वाभाविकता की अनुभूति होती है। गुप्त जी उसके प्रति विशेष सहृदय हुए हैं इससे उन्होंने विप्रलम्भ के इस करुण स्थल को यों ही नहीं छोड़ दिया है।

उर्मिला के इस आत्माभिव्यंजन के लिए कवि गुप्त ने गीत शैली को ही उचित समझा है इसमें उसकी भावनाएँ अधिक मनोरम और मार्मिक हो उठी हैं। प्रियतम के विरह से उसके मानस पर अवधि-शिला का बोझ था जिसको अपनी अश्रु-धारा के प्रभाव से वह काट रही थी। उसके विरह की यह व्यथा अन्तिम सर्ग तक जहाँ लक्ष्मण से उर्मिला की भेंट हुई है वहाँ तक प्रवाहित रही है। 'प्रिय जीवन की वही आज वह चढ़ती बेला' में जीवन की विरह-घटना का उसे दुःख है। यह विरह-जनित दुःख वर्णनातीत होने के कारण महाकवियों द्वारा काव्य का विषय नहीं बनाया गया वस्तुतः उसी में उसकी गरिमा थी। साकेत में उसे सम्यक् स्थान मिलने और उसकी अश्रुधारा के प्रवाहित करने पर भी गुप्त जी का मानस अतृप्त ही रहा है।

विरह-वेदना को उर्मिला प्रिय समझ रही है। प्रियतम के प्रवास के कारण वह अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं की उसी से पूर्ति देखती है। माता के समान वेदना भी उसे अपने वक्षस्थल से लगाए है इस प्रकार वेदना में निमग्न उसका समय कटता चला जाता है—

> वेदने तू भी भली बनी।
> पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
> नई किरण छोड़ी है तूने तू वह 'हीर-कनी'।
> सजग रहूँ मैं साल हृदय में ओ प्रिय विशिख-अनी॥
> ठंडी होगी देह न मेरी रहे दृगम्बु सनी।
> तू ही उसे उष्ण रक्खेगी मेरी तपन-मनी॥
> आ, अभाव की एक आत्मजा और अदृष्टि-जनी

तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी।
मेरी वियोग-समाधि अनोखी तू क्या ठीक ठनी
अपने को प्रिय की ध्याती को देखूँ सिची-तनी।
मन सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-कनी
मुझे तभी दीखूँ जब उसको पाऊँ प्राणधनी।

विरह के साथ वह जीवन की प्रतिक्रियाओं का भी अनुभव करती है। उसके अन्तस्तम में ही मिलन का भाव अन्तर्निहित है। विरह की कठोरता भले ही पीड़ित करे किन्तु जीवन के संयोग की मधुर स्थितियाँ सदैव स्मृति में आती रहती हैं। परिस्थितियाँ मानव जीवन को आस्था देती हैं इसी से उसके लिए मृत्यु भी प्रिय हो जाती है। उर्मिला के निम्न गीत में विरोधाभास की सुन्दर व्यवस्था है—

विरह संग अभिसार भी
भार कहाँ आभार भी।
मैं विरह में चली हुई हूँ किन्तु सुना है हार भी
काल कठिन है क्यों न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी।
कहाँ विरह ने मार दिया है दिया वहाँ उपचार भी
सुख दुख हरती किन्तु दिया है काम वाम विचार भी।
बना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी
और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी।
आता मेरे इस उर में भी ज्वाला का अवतार भी
प्रिय हो नहीं वहाँ मैं भी यों और एक संसार भी।

सखि रात्रि के आगमन पर दीपक जलाकर प्रकाश की व्यवस्था करना चाहती है किन्तु निराशाओं के अन्धकार में वह प्रकाश को नहीं चाहती। प्रियतम को स्वप्न में ही देख सकी इससे वह आँखी निन्दिया का आह्वान कर उठती है किन्तु रात बीत गई स्वप्न भी नहीं आया। अनन्तर प्रातः और दिन की परिस्थितियों से जूझने के लिए सन्नद्ध हो उठी है।

दिन को मुझको इसे शान्ति उसे मैं अवश्य ही सूँघी
सूर खोले है मन दुख भला क्यों न खोलूँगी ?

दिन और रात के इस आवागमन में उर्मिला का विरह बढ़ता ही गया है। उसने षट् ऋतु के दृश्यों और व्यापारों को भी विरहिणी नायिकाओं के समान उसकी वाणी भी ध्वनित हो उठी है।

आ मलयानिल लौट आ यहाँ यद्यपि का ताप।
मेरे न भू होकर कहीं तू पवन को पाप।

शीतल मन्द सुगन्ध मलय पवन उसके समीप आकर उसकी विरह ज्वाला से दग्ध न हो उठे इससे उसने उसको वहीं से लौट जाने के लिए निवेदन किया है।

वसन्त ऋतु में कामदेव फूलों के बाण से संसार पर आक्रमण कर देता है अपनी वियोगिनी-स्थिति में वह उससे सहृदय रहने के लिए प्रार्थना करती है। अच्छा रहे कि वह अपना बाण संयोगिनियों के लिए ही फैलाए, क्योंकि उस विरह-दशा में उसके प्रयत्न पूर्ण विफल होवें।

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन पटु तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता तुम्हें विफलता ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर बिन्दु यह-यह हर-नेत्र निहारो।

विरह में उसकी अभिलाषाएँ प्रियतम के सम्मिलन के लिए आतुर और आकुल होती रही हैं। अपने को मिटाकर भी वह उनको पाने के लिए लालसापूर्ण है—

अब जो प्रियतम को पाऊँ।
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ।
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।

विरह के कारण उसका मानस निरन्तर रुदन करता है किन्तु उसको दुःख है तो यही कि उसकी वाणी उसके प्रियतम तक नहीं पहुँच पाती है। इस विवशता के कारण वह उस वन में जाकर रहना चाहती है जहाँ उसके प्रियतम अपने पवित्र कर्तव्य पथ पर आरूढ़ हैं। वहाँ जाकर भी वह उनके व्रत में किसी प्रकार का व्याघात नहीं डालना चाहती है किन्तु अपनी व्यथा का समाधान चाहती है—

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर।
व्यथा रहे पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।।

उर्मिला निम्न गीत में यौवन का रिपु के साथ तादात्म्य प्रस्तुत कर उससे शान्त रहने के लिए निवेदन करती है। उससे उसका कथन है कि वह डरे नहीं क्योंकि इस दुष्काल बीतने पर सुकाल होगा और उसको आनन्द मिल सकेगा। मन रूपी पुजारी द्वारा तन रूपी थाल में यौवन रूपी डाल को प्रिय को भेंट देने के लिए वह सहेज रही है—

मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो मचल कर मत साल।
बीतने दे रात होगा सुप्रभात विशाल।
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि माल।
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य रसाल।
डर न अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।

मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल।
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल।

उर्मिला के विरह में वैयक्तिकता है इसी से साकेत के ये सभी गीत उसी की व्यथा को समाहित किए हैं। उसके विरह-विलाप में समष्टि का तत्व उपेक्षित ही रहा है। इसी से भारतीय साहित्य की समन्वयवादी भावनाओं के समक्ष वैयक्तिकता से परिपूर्ण उसका चरित्र विशिष्ट और कौतूहलपूर्ण प्रतीत होता है।

यह सत्य है कि गुप्त जी ने राम के वृत्त को मानवतावादी नवीन दिशा प्रदान की है जिससे उर्मिला के प्रति हमारी कोमल और सहृदय पूर्ण भावनाओं का उदय स्वाभाविक है किन्तु तुलसी गीति-काव्य के समान उसमें गम्भीरता मनोरागमय विचारों की कोमलता आदि के अभाव की अनुभूति ही होती है।

साकेत की उर्मिला के समान बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत सन्त' में भरत के चरित्र को प्रमुखता देने का प्रयत्न किया है। इस काव्य में कैकेयी की बुद्धि फेरे जाने के दैवी विधान का उपक्रम हटाकर कैकेयी और दशरथ के विवाह के समय की उस प्रण का आधार बनाया गया है कि कैकेयी का औरस पुत्र ही अयोध्या की राजगद्दी का अधिकारी घोषित हो किन्तु राम के प्रति अनन्य वात्सल्य के कारण वह ऐसा न कर सके तब उस बात को कार्यान्वित करने के लिए भरत के मामा युधाजित् ने विविध युक्तियाँ अपनाईं और वह भरत की विरोधी चेष्टाओं पर भी सफल हुए। इस प्रकार मिश्र जी ने कैकेयी को निष्कलंक रखने का प्रयत्न किया है। भरत जब मातृ-गृह से लौटकर अयोध्या आए तब तक राम का वनवास और दशरथ का निधन आदि सभी घटित हो चुका था। अग्रज के प्रति अनन्य निष्ठा और अयोध्या के राजवंश के उत्तराधिकार के विधान के कारण वह राज्य स्वीकृत न कर सके। वह चित्रकूट गए किन्तु वहाँ से निराश लौट आने पर उन्होंने सन्त जीवन स्वीकार कर लिया। प्रजा-पोषण में वह निरन्तर प्रवृत्त रहे अनन्तर साकेत में ही हनुमान और वशिष्ठ की दिव्य दृष्टि द्वारा उन्हें राम विषयक सभी वृत्त मिलते रहे।

भरत के आदर्श में मानवीय भावनाओं की ही परिणति है। उन्होंने राम की थाती को ब्याज सहित लौटा दिया और स्वयं जीवन को शान्ति में निमग्न कर लिया।

प्रभु चरणों में अर्पित कर दी ब्याज सहित सारी थाती
आज भरत की परमशान्ति में शान्ति स्वयं सिमटी जाती।

यह काव्य बहुत कुछ साकेत वृत्तों पर ही अपने अस्तित्व को आधारित किए है। उसमें यदि उर्मिला को प्रधानता है तो इसमें भरत को। उर्मिला की व्यथा जहाँ यदि ध्वनित है तो यहाँ भरत की। राम के वृत्त जानने के लिए दोनों काव्यों में एक ही साधन अपनाए गए हैं। इस प्रकार 'साकेत सन्त' में साकेत का अनुकरण ही साकार हो उठा है। इस काव्य में भी मानवीय विचारधाराओं का ही प्रतिपादन किया है।

साकेत सन्त के १४ वें सर्ग में मिश्र जी ने कुछ बातों की व्यंजना प्रस्तुत की

है। इसमें भरत की वाणी अभिव्यंजित न होकर कवि द्वारा भरत माण्डवी हनुमान वशिष्ठ तथा भरत के भावों का गान किया गया है।

काव्य में भरत के नायक होने के कारण माण्डवी को गीतों का विषय बनाया गया है। तन पर दो साड़ी के टुकड़े चार चूड़ियाँ प्यारी' कहकर मिश्र जी ने उसे आधुनिकता से विभूषित कर दिया है किन्तु फिर भी उसमें अपूर्व संयम और पति सेवा की भावना है—

भरत की वह नारी।
पति की वधू प्राण भाता-सी विश्व देवियाँ हारी॥
तन पर दो साड़ी के टुकड़े चार चूड़ियाँ प्यारी।
एक छत्र शासक की वह भी भाभी देह दुलारी॥
दोनों एक परन्तु बीच की प्रतिधारा बड़ भारी।
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी॥

उर्मिला का प्रिय वन में निमग्न उससे कोसों दूर था इससे उसकी विरह वेदना का विवृत हो उठना स्वाभाविक था फिर भी पत्नी की कामना लेकर वह उसके समीप नहीं पहुँच सकती थी इस भावना को लेकर कवि ने उसके चरित्र को उठाने का प्रयत्न किया है—

दूर उर्मिला का साजन था।
देह महल में रुद्ध हुई थी पर न मिलन विरह-निर्भर था॥
भरा दृगों में अश्रु-धारायें सावन-सम करुण-कातर था।
किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी दुष्करतर था॥
सम्मुख है राकेश चकोरी पर न उधर निज नयन उठावे।
जिसकी प्रभा प्रभाकर की है पर न कमलिनि मोद मनावे॥
था वसंत आँखों के आगे पर कोकिल ही पिक का स्वर था।
अहह! माण्डवि को तो आहों का भरना दुष्करतर था॥
जो है दूर उसे कि आशा रख कर मन समझाया जावे।
समझ सकूँ मैं उस मन कि पास रहे पर पास न आवे॥
सरित विरह कि मध्य न जिसमें स्वात प्यास उठता दुस्तर था।
अहह! माण्डवि को तो आहों का भरना भि दुष्करतर था॥

माण्डवी के समक्ष भरत के साधु-जीवन की गति-विधि के प्रस्तुत रहने पर भी उसकी आहों पर विरह उसकी वासना-मूलक निवृत्ति का ही द्योतक है। अन्यथा उसके लिए यही क्या कम सौभाग्य था कि उसके पति उसके समक्ष राज्य-संचालन और लोक-कल्याण में प्रवृत्त थे। वैयक्तिक वासना को काव्य विषय बनाकर इस प्रकार चित्र प्रस्तुत करने में आज के युग के मानव की सहृदयता भले ही उभर मान-वित हो उठे किन्तु रघु-वंश की गम्भीर और आदर्श मर्यादा के विकास में यह

समन्वय है, यह प्रश्न सत्य है। इसको ध्यान में रखकर ही वाल्मीकि और तुलसी इन चरित्रों के सम्बन्ध में पूर्ण मूक रहे थे।

हनुमान से लक्ष्मण शक्ति और राम की विह्वलता का समाचार प्राप्त कर भरत लंका जाने के लिए सन्नद्ध हो उठे और वह अपनी मानस-शक्ति के बल पर उड़ने के लिए आकाश में जा पहुँचे किन्तु तभी गुरु वशिष्ठ ने उन्हें आसन्न भविष्य देखने के लिए दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी। भरत ने लंका विजय के सुन्दर चित्र देखे और उन्होंने जीवन भर के लिए व्रत लिए और इस धरती पर रहने का संकल्प कर लिया—

गुरु वशिष्ठ तब ही आ आए।
मानस विद्युत के साधन से जबकि भरत नभ पर मंडराये॥
रोका उन्हें और गुरु बोले दिव्य दृष्टि देता हूँ देखो।
प्रभु की आज्ञा को मत टालो लो आसन्न भविष्य सरेखो।
चल चित्रों-से सम्मुख आए लंका जय के चित्र सुहाए।

तुलसी द्वारा राम-चरित का एक स्वरूप 'मानस', 'कवितावली' और 'गीतावली' द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया था। उसी को तुलसी के उत्तरकालीन कवियों ने परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ अपने काव्य का विषय बनाया। 'रामचन्द्रिका', 'कवित्त रत्नाकर', 'रामचन्द्रोदय', 'रामचरित चिन्तामणि' आदि काव्यों में अधिक प्राचीन तत्त्व हैं जबकि 'वैदेही वनवास', 'साकेत' और 'साकेत-सन्त' में प्राचीन वृत्त के होने पर भी कवि की भावनाओं ने नूतन दिशा को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इनमें 'साकेत' और 'साकेत सन्त' ही नूतनतम तत्त्वों पर अपना शिलान्यास कर सके हैं। इसी से उनकी वस्तु हमारे कौतूहल को जाग्रत करती है। उनकी प्रियता का कारण यही है तथ्य है।

उपर्युक्त दोनों काव्यों में गीति-तत्त्वों का भी पोषण हुआ है, किन्तु तुलसी के समान भाव रंजक और समन्वयवादी गीत वे काव्य प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इनमें हमारी वर्गविशेष और मनोवैज्ञानिक भूमि की भावनाओं की तृप्ति भले हो हो सके, किन्तु सार्वभौम भावनाओं का उनमें अभाव है। फलतः इन काव्यों के गीत तुलसी के गीतों की समता में स्थिर नहीं हो सकते हैं।

इन काव्यों के गीत छायावादी काल के गीतों के अनुकरण पर निर्मित हुए हैं। इन गीतों में राम सम्बन्धी कथानक को नाना कवियों द्वारा स्वच्छन्द परिष्करण कर लिए गए हैं किन्तु इनमें भक्ति के सभी तत्त्व उपस्थित हैं। गीतों में ही उनके माधुर्य और आकर्षण स्पष्ट उठते हैं। इस दृष्टि से छायावादी काल का सम्पूर्ण राम साहित्य मध्यकालीन गीत साहित्य से वंचित लगता है। मीरा और सूर रूप के गीत तुलसी से तो अछूते नहीं छोड़ जा सके हैं किन्तु उन्होंने तुलसी के राम-चरित की गीति-परम्परा का अवश्य अनुसरण किया है, यह सत्य है।

२ लोक-साहित्य में राम परक गीत काव्य

राम और कृष्ण दोनों अवतारों के चरित्र अन्य अवतारों की अपेक्षा हमारे जन-जीवन के अधिक समीप रहे हैं। अवतार लेकर उन्होंने मानव के समान ही आचरण किया है। इससे उनके वृत्तों और आदर्शों का भारतीय जीवन में सरलता से ग्रहण होता रहा है और उनकी परम्पराएँ उसकी अभिन्न अंग बन गई हैं।

सम्प्रदायों और शिष्ट काव्यों में उनके चरित्रों को लेकर विविध स्थापनाओं आदर्शों और मान्यताओं का समावेश होता रहा है। राम के पुरुषोत्तमत्व के साथ भगवान् रूप निरूपण इसी प्रकार की नवीन अभिव्यक्ति रही है। साधारण जीवन में विविध संस्कारों और समारोहों के अवसर पर उनके वृत्तों के गान से उनकी अवि-च्छिन्न परम्परा जुड़ती चली आ रही है। इसी से सोहरों वैवाहिक समारोहों तथा सामाजिक उत्सवों आदि के अवसरों पर गान में उनकी जीवन-लीलाओं का उपयोग किया जाता है।

लोक-जीवन की इस प्रवृत्ति से राम और कृष्ण दोनों की लीलाएँ अक्षुण्ण रह सकी हैं। निर्दिष्ट विषय के अनुसार हमारा सम्बन्ध केवल राम के जीवन से ही है। इससे राम परक लोक-गीतों पर विचार करना ही इस स्थल पर उचित है।

पुत्र के अभाव में राजा दशरथ ने तीन विवाह किए किन्तु फिर भी उनमें से किसी के भी पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। अन्त में कौशल्या ने शुभ स्वप्न देखे रानियाँ गर्भवती हुईं और उनके पुत्र रत्न उत्पन्न हुए। राजा ने पुत्रों के उत्पन्न होने पर हीरा मोती बाँटे और आनन्द मनाया।

सोने के खड़ऊँ राजा दशरथ खुटुर खुटुर चलें।
रानी होइयें मचुलिया में सोर कौसिल्या रानी बाँझिनि ।।
राजा करबेउ दुसरा बिअहुवा तउ हमरी बाँहिनि सेंउ।
दुसरा बिअहुवा राजा किहुनि प्रति धरती लावनि ।।
रानी होइबे मचुलिया में चार दुलहें रानी बाँझिनि।
राजा करबेउ बिअहुवा बाढ़ी मोर बंस बाढ़ि।
तिसरा बिअहुवा किहुवनि राजा छठि मलार साजेनि।
रानी होइयें मचुलिया में चीर तिसिरी रानि बाँझिनि।
कोसल पलंग अटरिया सपन एक देखेउँ।
राजा सपनेक करहु विचार सपन बड़ सुन्दर।
गंगा में देखेउ जमुनवा जमुना हलोरत।
राजा लहुर लहुर देखेउँ सपनू सपन बड़ सुन्दर।
राजा पोथी उ म क पतरिया बाजन औहिं चीन्हानि।
पूत रहु पूत रहु ए रानी दुलिनि न सुनई।

रानी करहिं मनुपिया न सोर कौसिल्या रानी गरभ सनि ।
होत बिहान पहु फाटत राम जनम लिहुं ।
बहिनी बाज लागें बरही बजनवां उठन लाग सोहर ।
कौसिल्या के जनमे हु राम सुमित्रा के लछिमन ।
रानी केकई के भरत भुआल लोनिउ पर सोहर ।
हँसि हुलसि राजा दसरथ हिरा मोती बाँटे ।
सब अवधा क देह असीस सबघर मंगल ।
जो यह मंगल गाव गाइ सुनावइ ।
तो सो तुलसी जगत तरिजाइ अमर पद पाव ।

राम विषयक लोक-गीतों के सम्बन्ध में यह विचारणीय प्रश्न है कि उनकी [illegible]निता में अधिकांशत 'तुलसी' का नाम ही मिलता है। क्या इन लोक-गीतों के [illegible]र्माता 'मानस'-कार तुलसी ही हैं ? इस सम्बन्ध में इतना ही कहना उचित है कि [illegible]के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास न होकर अन्य लोक-कवि ही रहे हैं। तुलसी की [illegible]सिद्धि से इन्होंने स्वयं लोक-गीत रचकर उनके नाम से प्रचलित कर दिए हैं।

राजा के सौभाग्य से पुत्रों के जन्म लेने पर वंश की अप्रत्याशित अभिवृद्धि [illegible]ई। परिजन और पुरजन के लिए आनन्दोल्लास का इससे बढ़कर अन्य कौन अवसर [illegible] सकता था। इस अवसर पर राजा के आनन्द समारोह में सम्मिलित होने के लिए [illegible]नारियाँ दौड़ पड़ीं। निम्नांकित गीतों में पुत्र प्रभाव से रानियों का अनन्त गौरव [illegible]-जन्म आनन्द-समारोह आदि का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत है—

१ अम्मा तो तजइं कौसिल्या रानी धनियाँ न पार्टे
राजा तोहि पर तजबै पराम तो एक सम्पति बिन ।
[illegible] लागति पया [illegible] [illegible] ठाढ़ी [illegible],
रानी सहस्र पिताम्बर पोतिया बसन कहुँ सौंप ॥
सोन्ही है लागति पया [illegible] व ठाढ़ि किहीं
रानी लोगी पिताम्बर पोतिया बसन कहूँ सौंप ।
होत बिहान पहु फाटत राम जनम लिएँ
बहिनी बाज लागी आगन बधैया उठन लागे सोहर ॥
मिलहुन सखिया सहेलरि मिलि जुलि [illegible]
जहाँ राजा के जनम है राम कीरति [illegible] ।
कोउ लाने [illegible] है [illegible] कोउ [illegible]
बहिनी कोउ रे [illegible] चौर कर [illegible] ॥
भितरा स निकसी कौसिल्या रानी अगनवाँ में ठाढ़ी भईं
रानी धइ धइ हिरदैया लगाव कर [illegible] ।
राजा के अवधा अगमवाँ बहुत लिए लाग ॥

सखि लिहे है पुत्र जो वसिष्ठ देखत निक लागें ॥
राम के नयना लहुरिया बहुत निक लागें
बैठे फूलहि क बिच कलिया देखत सुधि लागें ।
रामा के नयन रतनारे कजर भल सोहै,
रचि दीन्ही है कृपा सुमाता जू पतरिम मपुरिया ॥
रामा क पोतवा बुबुरवा बहुत निक लागें
मान्हें गोदवाई बलाई देखें राजा दसरथ ।
जो यह मंगल गावै गाइ सुनावै
सो सो तुलसी नमन हरि जाइ अमर पद पावै ॥

२ चैत क महिना रामा जनम नगरिया हो
राम जी लिहेन अवतार हो न नगरिया मोरी ।
राजा के दुअरवा रामा नौबत बाजे हो
घर घर मंगलचार हो नगरिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
के तो लुटावे रामा धन धन सोनवा हो,
के तो लुटावे मुतियन हार हो नगरिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
राजा जी लुटावे धन धन सोनवा हो
रानी लुटावे मुतियन हार हो नगरिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)
सुर नर मुनि मिलि नाचत नचैया रामा
हरषित भूले सब लोक हो नगरिया मोरी । —(रामजी लिहेन०)

विश्वामित्र जी के साथ राम-लक्ष्मण जनकपुरी पहुँचे और अपने सौन्दर्य के कारण चर्चा के विषय बन गए। उनके अप्रतिम सौंदर्य को देखकर स्त्रियों को विशेष कौतूहल हुआ और वे उनका परिचय प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु हो उठीं—

मुनि संग बालक कहाँ सखी रतनार नैना वाले
राम लखन कौशिल्या के जाए दसरथ नाम पिता क । —(रतनार०)
कीट मुकुट मकराकृत कुण्डल अनुप बाण लिहे कर मे । —(रतनार०)
सरयू क तीर अवधपुरी नगरी श्याम गोर दोउ बीर । —(रतनार०)
सिया जी के साथ सभे सखि आईं पूजा करे उमा के । —(रतनार०)
तुलसीदास कहे करजोरे अंक लिखा विधनाक । —(रतनार०)

विवाह-समारोह में दीपक की बत्ती मिलाने का एक संस्कार होता है। भाँवर के अनन्तर वर घर के भीतर, जहाँ दाई पूजी जाती है और देवी-देवता की स्थापना कर दी जाती है, ले जाया जाता है। वहाँ दीपक में जलती हुई दो बत्तियों वर सोने की सींक से मिलाता है। इस समय पर वर के साथ कन्या पक्ष की स्त्रियों को हास परिहास करने की सुविधा रहती है। राम बत्ती मिलाने के लिए ले जाए गए हैं, किन्तु आधी रात हो जाने पर जब वह बत्ती नहीं मिला पाते हैं तो जनकपुर की

स्त्रियाँ परिहास मूलक भाषा में राम से कहती हैं—

बीत गई आधी रात राम तुम कस न सिधावहु आली।
की घर माँ भगिनी मिथिलापति की आली साथ ताती।
यह न कहहु नगर अयोध्या मातु कौसिल्या साखी।
हँसि मुसुकाई कही रघुनन्दन हमरे कुल न रीती।
सब मिलि सखियाँ सुमत होइके बोली सब हमरे मन आती।
जो कुछ माँग सो देहु सजन न गज मुकता बहु भाँती।
मोतिन की रच झालरि लावहु जहँ के अयोध्या को जाती।

विवाह के उपरान्त राम अयोध्या में मोतियों की झालरि से सुशोभित चौकी पर स्नान कर रहे हैं। सीता जी मुस्करा रही हैं। सखियाँ इस समय सीता जी से पूछ ही बैठीं कि वे कौन व्रत-नियम हैं जिनसे राम जैसा वर उन्हें प्राप्त हुआ। सीता एकादशी व्रत, भूखे ब्राह्मणों को भोजन, कार्तिक स्नान, तुलसी का दीपक जलाना, माघ-मास का स्नान, रविवार का उपवास आदि व्रत नियम के सम्बन्ध में वर्णन करती हैं। ये वे व्रत नियम हैं जिनको हिन्दू-परिवारों की स्त्रियाँ और कुमारियाँ अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए आज भी सम्पन्न करती हैं—

चन्दन केरि चउकिया मोतिन लागि झालरि
जहँवाँ बैठी नहाइ राम गहाइ सीता रानी बिहँसहु।
मचियन बैठी सीता जी सखिन सब पूछहि
सखी कवन किहिउ व्रत नेम जो राम वर पायउ॥
भूखी रहेउ एकादसिया दुआदसि पारन
सखि भूखल ब्राह्मन जिमायउ रामवर पायेउ।
कातिक मास नहायेउ अगिन महि ताप्येउ
सखि तुलसी क दियना जलायउ रामवर पायउ॥
माघे मास नहायउ अगिन न ताप्येउँ
सखि बिधि से रहेउँ इतवार राम वर पायउ।
जो यह मंगल गाव गाइ सुनावै
तौं सो तुलसी जनम तरि जाई अमर पद पाव॥

राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न तथा उनके अन्य मित्र फाग खेलने के लिए जनकपुर में पधारे हैं। एक पक्ष में वे स्वयं हैं और दूसरे पक्ष में सीता जी की अन्य सखियाँ हैं। सबके हाथ में रंग की पिचकारियाँ हैं कुम-कुम भर रहे हैं। गुलाल उड़ रहा है इससे आकाश और पृथ्वी सभी लाल वर्ण के हो रहे हैं—

खेलन फाग आज आये कुमार दसरथ के जाये।
राम लखन सब भरत सत्रुहन जनक भूप मनभाये।

अवधपुरी के राम रसिया संग सखा सब आये।
फिरत चारों इतराये॥
सबके हाथन रंग पिचकारी कुम कुम भरि भरि लाये।
सीता जी को कोई सहेली घर से न निकसन पाये।
बड़े सब ताक लगाये॥
मिथिलापुरी की रानी सुनयना रंग कुमकुमी पुराये॥
अवधपुरी को कोई अकेला बिन पिचकारी आवे।
गुलाल लाजन मलवावे॥
उड़त गुलाल लाल भये बादर रंगभूमि पर आये।
शंकरचाप राम जी ने तोड़्यो मनि धन मंगल पाये॥
जनकपुर बजत बधावे॥

कृष्ण की फाग-क्रीड़ा जन-जीवन में घुली हुई है। उसी के अनुकरण पर लोक-कवि ने रामचरित के साथ भी उक्त क्रीड़ा का सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है।

कैकेयी के द्वारा राम-वनवास का वर माग लिए जाने पर वह वन के लिए चल दिए। साथ में उनके लक्ष्मण और सीता जी। वह अयोध्या में माताओं पिता दशरथ भरत को रोता-बिलपता छोड़कर चल दिए। मार्ग में उन्हें विविध प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े।

बन को निकस गये रघुराई।
आगे आगे राम चलत है पाछे लछिमन भाई॥
दोनों बीचे मातु जानकी शोभा बरनि न जाई।
घर में रोवे मातु कौशिल्या द्वारे भरत भाई॥
राजा दसरथ प्रान तजत है कैकेई मन पछताई।
रिमझिम रिमझिम मेह बरसे पवन चले पुरवाई॥
कौनहु बिरछ तर भीजत होइहैं राम लखन दोउ भाई।
भूख लगे भोजन कहँ पइहैं प्यास लगे कहँ पानी॥
नींद लगे डासन कहँ पइहैं कुश काटि मढ़ियाई।
लछिमन लावें कन्द मूल फल सीता ने भोजन बनाई॥
राम लक्ष्मण भोजन बैठे शोभा बरनि न जाई।
तुलसिदास बलि आस चरन की हरि चरनन चित लाई॥
जो यह पद का गाय सुनावै तरि बैकुण्ठहि जाई॥

मर्यादा-पालन की दृष्टि से सीता को वनवास दे देने पर भी अश्वमेध यज्ञ की बेला पर राम को उनकी आवश्यकता पड़ी। उन्होंने उनको बुला लाने के लिए गुरु वशिष्ठ को भेजा। सीता ने उनकी यथोचित अभ्यर्थना की किन्तु वह लौटने के

लिए सहमत न हुई—

चैतइ की तिथि नवमी कि रामा जनि रोपई ।
बहिनि बिसुरे सीतहि अस सुनो त के जग देखें ॥
गुरु तोहरे मनाय सीता मनिहैं मनाइ सयावहु ।
अगवाँ चले हैं गुरु गऊवा तो पिछवाँ वसिष्ठ मुनि ॥
पछिमी तेहि पीछे चले हैं—लछिमन देवरा सीता क मनावें ।
गुरु हेरें लावें विपिन क मड़या जहाँ सीता तप करें ॥
नहाई धोरी सीता ठाढ़ि भइ अरोसवा नजर गई ।
सखि य त बाड़ि आनि हमारी गुरु हमरे आव ॥
सोने को थारी में आरति साजिनि लाबि उतारिनि ।
सीता घोरति गुरु को क पाँव तो माथ चढ़ाइनि ॥
इतनी जु बुधि सिता तोहरे सु बुधिया में आयरि ।
सीता रामक छोड़उ अजुधिया तुहुँ बन सेवहु ॥
हमरा कहा सीता करितिउ चरण मुँड़वा चलतिउ ।
सीता उजरी अजुधिया बसउतिउ पसरि बन बसतिउ ॥
तोहरा कहा गुरु करबै चरण मुँड़ चलबै ।
गुरु नाही अब अजुधिया संकत अब सहबै ॥
एक बेरि अयिनाम नायक फिरि अँचरावहिं ।
गुरु बड़ि बड़ि संतति कराइ तो बन क निसारेनि ॥
गुरु इतनो न बाढे अजुधिया तो तुलसी अधम बनी ॥

राम-चरित के उपर्युक्त कुछ रूपों को लेकर हमने यह देखा है कि उनकी अविच्छिन्न परम्परा जन-जीवन में प्रचलित है। अवसर के अनुकूल गीतों को गाकर ग्राम्य स्त्रियाँ अपने समारोहों को आनन्द मग्न करती हैं और इनमें वे विशेष पुण्य का अनुभव भी करती हैं।

तुलसी के अनन्तर के राम चरण गीत काव्य का पर्यवेक्षण करके हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि राम गीत-काव्य की परम्परा आज तक प्रवाहित है। राम नर होकर नारायण भी रहे हैं इसमे उनका समन्वित स्वरूप भक्त साहित्यिक और ग्रामीण सभी को एक समान प्रिय रहा है। उनकी इस सर्व प्रियता के कारण कवि राम को अपनी काव्य वस्तु का विषय बनाता रहा है।

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है॥

राम-चरित को लेकर धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में विविध कवियों के गीत काव्यों को इसमें विवेचन का विषय बनाया है उनके साथ तुलसी को रखकर हमने यह निष्पक्ष भाव से विचार किया है कि वे तुलसी के आदर्श तक नहीं पहुँच

सके हैं। यह अवश्य सत्य है कि तुलसी और अनन्तर के कवियों की काल-गत परिस्थितियों में महान् अन्तर है किन्तु उनके अध्ययन प्रतिभा पाण्डित्य भारतीय जीवन की परख समन्वयकारिता आदि-आदि ऐसे तत्त्व हैं जिनको समाहित कर कोई कवि नहीं बन सका है। सच तो यह है कि तुलसी अपने स्थान पर अद्वितीय और अतुलनीय हैं।

गीत शैली के अतिरिक्त अन्य शैलियों में रचित उनके राम-काव्य की तुलना में भी हमको हिन्दी-साहित्य में किसी कवि का काव्य नहीं मिलता है। 'मानस' अपने प्रभाव और स्वरूप में हिन्दी की सभी रचनाओं में शीर्ष पर प्रतिष्ठित है।

तुलसी के स्थान पर हम किसी कवि को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते हैं यह ध्रुव सत्य है। उनकी वाणी प्रत्येक स्तर के मानव के लिये ग्राह्य वाक्य है, इसी से हम तुलसी और उनके काव्य की किसी क्षण उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इसी से उनकी भावनाओं और विचारों का अनुकरण होता है और सहृदय उसमें अपनी तृप्ति का आनन्द-लाभ करते हैं।



तुलसी के पद-साहित्य का वैशिष्ट्य

तुलसी ने अपने समय के अस्त-व्यस्त भारतीय जीवन को सुस्थिर और समन्वित करने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम रामचरित का आदर्श उपस्थित किया था जिसके माध्यम से उन्होंने हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के लिए चिरन्तन आदर्श प्रस्तुत किए। वे आदर्श तीन से अधिक शताब्दियों के उपरान्त आज भी हमारे लिए उपयोगी और पूर्ण अनुकरणीय हैं। इस सम्बन्ध में उनके महाकवि की प्रतिभा ही प्रतिफलित हो उठी है जो राम के उदात्त चरित्र के माध्यम से भारतीय जीवन के सामान्य स्वरूप को वे विस्मृत नहीं कर पाये। इसी से प्रत्येक स्थिति और श्रेणी के व्यक्ति की जीवन विषयक किसी भी परिस्थिति का सम्यक् समाधान और दृष्टि तथा उनकी व्यापक विचारधाराएँ और स्थापनाएँ उनके काव्य में विद्यमान हैं। इससे उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि होने की प्रतिष्ठा सरलता से मिल गई है।

वर्णाश्रम एवं नारी जाति की व्यवस्था के सम्बन्ध में उनके कतिपय स्थल आज के सहृदय और विवेकी को संकीर्ण और पक्षपात पूर्ण लगते हैं। इसका कारण एकमात्र उनका दृष्टि विभेद है। ऐसे स्थलों को आधुनिक युग की गति-विधि, व्यवहार और आचरण की दृष्टि से न रख कर कवि-काल की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों और वर्णाश्रमी परम्पराओं को ध्यान में रखकर विचार करना होगा। उस स्थिति में तुलसी के वे स्थल भी सही और खरे उतरते प्रतीत होंगे अन्यथा उनके साथ अविचार और अन्याय हो जाने की सम्भावना है।

नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में निम्न छप्पय प्रस्तुत किया है—

त्रेता काव्य निबन्ध करिव सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
रामचरन रसमत्त रटत अहनिसि ब्रत धारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो॥

भारतीय वातावरण में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की मान्यता होते हुए भी यदि हम तुलसीदास को भक्ति वाल्मीकि का अवतार न मानें, वाल्मीकि द्वारा 'करिव सत कोटि रमायन' के एक-एक अक्षर से ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति हो सकती है। ऐसे (चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्—श्री रामरक्षा स्तोत्र) किन्तु ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता मानकर हम चाहे उस पर विश्वास न करें किन्तु तुलसी के द्वारा निर्मित राम-काव्य आज [illegible] राम के लोकादर्शों तथा [illegible]-दीन

सौन्दर्य से समाहित उनकी लीलाओं आराध्य राम में उनकी निष्ठा और अविचल भक्ति को तो मानने के लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। वस्तुतः ये तथ्य ही उनको महाकवि की प्रतिष्ठा प्रदान करने और देश का सर्वोच्च कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

तुलसी की भावनाएँ व्यापक विचार गम्भीर और काव्य-रूप तथा भाषा-शैली सर्व-सुलभ रही हैं ये विशेषताएँ उनके सम्पूर्ण काव्यों में घुली-मिली हैं। इसी से उनके आदर्शों और विशेषताओं का सामान्य समावेश उनमें उपलब्ध है। इस स्थल पर हमें उनके पद-साहित्य के वैशिष्ट्य का विवेचन करना है। फलतः उन्हें प्रस्तुत करने से पूर्व उनके काव्यों की सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करना भी समीचीन है।

तुलसी काव्य की सामान्य विशेषताएँ

श्री कृष्णगीतावली के अतिरिक्त उन्होंने अपने शेष काव्यों में राम-चरित को ही प्रमुखता दी है। माधुर्य भाव के कारण यदि कृष्ण में सौन्दर्य का प्राधान्य है तो राम में शक्ति-शील-सौन्दर्य सभी का। राम के जीवन के ये तत्व प्रत्येक क्षेत्र के नर नारी को अपनी ओर आकर्षित किए हैं। इसी से पुरुषोत्तम राम में भगवत् रूप की प्रतिष्ठा से उन्हें अपनी भक्ति भावना और जन-मानस के रंजन के लिए सरलता से सब कुछ प्राप्त हो गया है। पशु पक्षी सभी उनकी अनुकूलता की अपेक्षा करते हैं। रावण तक उनके हाथों से मृत्यु का आलिंगन कर सद्गति चाहता है। इसी से हनुमान अङ्गद मन्दोदरी आदि के समझाने पर भी वह उनसे बैर नहीं छोड़ता। अन्त में उन्हीं के हाथों से उसका निधन होता है और मन्दोदरी कह उठती है—

> अहह नाथ रघुनाथ सम कृपा सिन्धु को आन।
> मुनि दुर्लभ जो परमगति तोहि दीन्ह भगवान॥

राम के समान कृष्ण भी लीलाधारी भगवान् के रूप में ही चित्रित हैं।

तुलसी के राम कर्तव्य और मर्यादावादी हैं। उन्होंने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का स्वागत और उसी के अनुसार आचरण किया है—शिव धनुष तोड़ देने पर भी न उन्हें आह्लाद है और न अहङ्कार परशुराम के क्रुद्ध होने पर भी न उन्हें क्षोभ है और न रोष राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास का आदेश प्राप्त करने पर भी न उन्हें दुःख है और न खिन्नता। अन्य स्थलों पर भी उनकी समदृष्टि रही है। उन्होंने सदैव गम्भीरता से आचरण किया है। माता पिता अनुज पत्नी सखा सेवक आदि सभी के साथ कर्तव्य और मर्यादा से परिपूर्ण उन्होंने व्यवहार किये हैं। इस प्रकार उनके व्यापक चरित्र में भारतीय जीवन की सम्भावित कल्पनाएँ आकर भर गई हैं जिससे मानव को समान परिस्थितियों में वैसा ही आचरण करने का संकेत मिलता है। केवल राम में ही मर्यादा पालन नहीं है उनसे संबंधित अन्य भी उसी ओर उन्मुख रहे हैं। दशरथ, कौशल्या भरत लक्ष्मण सीता निषाद हनुमान आदि भी उसी में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार राम तथा अन्य चरित्रों में समयानुकूल कर्तव्य के संकेत उपलब्ध होने के कारण प्रत्येक भारतीय अपने जीवन की किसी भी परिस्थिति का समाधान उनके काव्य से प्राप्त कर

सकता है। सच तो यह है कि भारतीय जीवन की समग्रता उनमें प्रतिष्ठित हो उठी है। तुलसी इस सम्बन्ध में अद्वितीय हैं। कालिदास, भवभूति, कबीर, सूरदास आदि कोई भी इस व्यापक तथ्य की प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर सका है।

राम राज्य की प्रतिष्ठा में राजा-प्रजा दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। वनवास के लिए राम की विदा-वेला पर प्रजा राम का अनुगमन करने को प्रस्तुत है जो उनके अनुराग का सबल प्रमाण है तो राम भी प्रजा के आक्षेप से सीता का परित्याग करने को प्रस्तुत हैं जो उनकी प्रजावत्सलता का प्रमाण स्वरूप है।

हिन्दू धर्मों के परस्पर के वैषम्य को मिटाकर सर्वधर्म-समन्वय कर समाज की क्षीण होती हुई शक्ति को पुनः सशक्त बना देना यह तुलसी जैसे महाकवि की अप्रतिम सफलता है। देश का अन्य कोई भी कवि ऐसी व्यापक रचना को लेकर अग्रसर नहीं हुआ।

ज्ञान, कर्म और भक्ति में उन्होंने भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। इस कारण उनके सम्पूर्ण काव्यों में भक्ति ही प्रमुखता प्राप्त करती चली है। यों ज्ञान, कर्म से भी ईश्वर प्राप्ति हो सकती है किन्तु उनका साधन कठिन है जबकि भक्ति का मार्ग सरल है। उसमें अपने आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग ही पर्याप्त है। इस तथ्य के आधार पर ही उन्होंने भक्तों के लिए भक्ति ही श्रेयस्कर ठहराई है। उसका उन्होंने अपने काव्यों में पग-पग पर प्रतिपादन किया है और स्वयं भी राम की अनन्य भक्ति के लिए कामना करते चले हैं।

तुलसीदास के पद-साहित्य की विशेषताएँ—(१) राम और कृष्ण दोनों अवतारों के प्रति उनके हृदय में समान निष्ठा और भक्ति है। 'गीतावली' के पदों की प्रत्येक पंक्ति में यदि राम भक्ति की भावना पिरोई हुई है तो 'श्री कृष्णगीतावली' के पदों में कृष्ण भक्ति की। इस रचना से तुलसी का मानस उदार और भावनाएँ व्यापक सिद्ध होती हैं।

(२) 'श्री कृष्णगीतावली' की रचना में वे भागवत से ही अधिक प्रभावित रहे हैं। कृष्ण के साथ गोपियों का तो उल्लेख है किन्तु उसमें राधा को प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। कृष्ण और राधा की अभिन्नता का प्रतिपादन मध्ययुग में पुष्टिमार्गीय, हरिदासी, गौड़ीय, राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों ने किया था किन्तु तुलसी उनसे प्रभावित नहीं हुए हैं। राधा के समाविष्ट न होने के सम्बन्ध में यह तर्क रखा जा सकता है कि यह उनका स्फुट काव्य है किन्तु जब उस काव्य में गोपियाँ हैं और कृष्ण की मायाएँ हैं तब उन स्थितियों में तो राधा का छूट सकना कठिन था। इसमें उपयुक्त सर्वे सम्बर है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में यह कहना ही संगत है कि उन्होंने अपनी इस रचना के लिए भागवत के शास्त्रीय स्वरूप को ही ग्रहण किया था जिसमें कृष्ण के साथ राधा की मान्यता नहीं है।

(३) श्री कृष्णगीतावली और 'गीतावली' में इतर अन्य काव्यों की अपेक्षा

भाव की प्रतिष्ठा है और हरिदासी सम्प्रदाय में सखी भाव की उपासना है। इस प्रकार सभी में माधुर्यभाव की ही प्रधानता है।

माधुर्योपासना की प्रमुखता के कारण इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत प्रमुख भक्त कवियों ने कृष्ण राधा की युवावस्था के रंगीले रूप को ही अपनी पदावलियों का विषय बनाया है। सूरदास ने अवश्य कृष्ण के वात्सल्य को प्रमुखता दी है किन्तु राधा और गोपियों के समावेश से प्रेम की लौकिक झाँकी को वहाँ वह भी नहीं बचा सके हैं। इस तथ्य से यह स्वतः स्पष्ट है कि उक्त कवियों द्वारा कृष्ण के एकांगी जीवन का ही प्रस्फुटन हो सका है समग्र जीवन का नहीं। इससे इन सम्प्रदायों में आचार्य शुक्ल के अनुसार 'सूरसागर और कृष्ण भक्त कवियों की पदावली' में 'आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष' ही उपलब्ध है। इसके विपरीत तुलसी-साहित्य में आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष सन्निहित है जिसमें उनके आराध्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का साक्षात्कार कर जन-जीवन के लिए व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार तुलसी पद-साहित्य में राम के कर्मण्य जीवन के कारण कृष्णाश्रित सम्प्रदायों के कृष्ण पद-साहित्य की अपेक्षा अधिक शिव-तत्त्व है।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों में भावनाओं की मार्मिकता और सङ्गीतात्मकता के दृष्टिकोण से महाकवि सूरदास का कृतित्व ही सर्वोत्तम है। इन विशिष्ट गुणों के कारण केवल वही तुलसी के समक्ष स्थिर हो सकते हैं अन्य नहीं। इससे उनकी तुलना कर लेना भी किसी अंश तक आवश्यक है।

सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' में विनय के पद तथा भागवत के आधार पर सभी अवतारों के चरित्र चित्रित हैं। कृष्ण के आराध्य होने के कारण उनकी आत्मा उनका चरित्र प्रस्तुत करने में विशेषरूपेण निमग्न हुई है। उक्त चरित्र में भी उनकी दृष्टि उनके बाल और युवा जीवन पर ही अधिक टिकी है। अन्य स्थलों को उन्होंने यों ही चलता कर दिया है, जो पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है। जहाँ तक माधुर्य भाव के प्रतिपादन और बाल तथा युवा जीवन के मनोरम चित्रणों का प्रश्न है हिन्दी का कोई भी काव्य सूरसागर के समक्ष स्थिर नहीं हो सकता। सूरसागर इस सम्बन्ध में बेजोड़ है। तुलसी की गीतावली और श्री कृष्णगीतावली में वात्सल्य और माधुर्यभाव के पद सम्मिलित हैं किन्तु उनमें सूरसागर के तत्सम्बन्धी स्थलों के समान सजीवता वेगता और माधुर्य नहीं है। अब रहा सूरसागर के विनय सम्बन्धी पदों का प्रश्न। उनको लेकर सूर तुलसी की 'विनयपत्रिका' के समक्ष कदापि स्थिर नहीं हो सकते सूर ही क्या हिन्दी का कोई भी कवि विनय की भावना में तुलसी से आगे नहीं जा सका है। यह सत्य है कि सूर भी अपने विनय के पदों में आत्माभिव्यक्ति को लेकर चले हैं किन्तु उनमें तुलसी जैसा आत्म-समर्पण नहीं है। आराध्य के महत्त्व के साथ तुलसी का दैन्य जिस रूप से चित्रित है सूर के पदों में उसका अभाव है।

तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य के समक्ष सूर के 'सूरसागर' को न रखकर यदि गीता

बनी के सामने ही रखकर—विचार करें तो राम के जीवन की समग्रता के समक्ष सूर के कृष्ण पृष्ठभूमि में जा पड़ेंगे। शक्ति-शील-सौन्दर्य से युक्त गीतावली के राम का लोक-रक्षक मर्यादा-पालन जीवन की विविध परिस्थितियों में आदर्श आचरण के समक्ष कृष्ण का माधुर्य भाव फीका और अनुपयोगी लगेगा। तुलसी के लोकादर्श के समक्ष सूर काव्य का आदर्श गौण लगता। इन विशेषताओं में तुलसी सूर से बड़ी आगे हैं, किन्तु जहाँ गेयता और मार्मिक भाव-व्यंजना की बात है, सूर का पद तुलसी से कहीं उच्च है। सूर के पदों का सा सरस प्रवाह और मर्मस्पर्शिता तुलसी के पदों में नहीं है। वे प्रायः उनकी गम्भीर भाव-व्यंजना और परिनिष्ठित भाषा-शैली के कारण बोझिल हो गए हैं।

तुलसी के अनन्तर भी रामावत सम्प्रदाय में पद-साहित्य की रचना हुई है किन्तु उसमें सम्प्रदायगत दास्य भाव, मर्यादा-तत्त्व, कलात्मनिष्ठा आदि न होकर उसके पोषकों की दृष्टि वृन्दावन सम्प्रदायों के समान केवल माधुर्यभाव तक ही सीमित रह गई है। फलतः आराध्य के समग्र जीवन का समावेश न हो सकने के कारण राम-सीता के जीवन से विलास और आनन्द के तत्त्व ही प्रस्फुटित हो सके हैं व्यावहारिक आदर्श नहीं। जब से रामचरणदास ने दाम्पत्य भाव से प्रेरित हो 'स्वसुखी' और सखी भाव प्रेरित हो जीवाराम ने 'तत्सुखी' नाम की धाराएँ प्रवर्तित की हैं तब से तो सम्प्रदाय में जीवन-व्यापिनि भावनाओं के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह गया। तुलसी के अनन्तर सम्प्रदाय की भावनाओं का यह आमूल परिवर्तन आश्चर्य में डाल देता है। उनकी परम्पराओं को अग्रसर करने में कोई भी सफल सम्भव न हो सका। फलतः सम्प्रदाय के इस नवीन उन्मेष के अन्तर्गत रची हुई पदावलियाँ तुलसी के पद-गाम्भीर्य के समक्ष स्थिर नहीं हो पाती हैं।

आधुनिक युग की परिस्थितियाँ मध्यकाल की परिस्थितियों से पर्याप्त भिन्न हैं। इसे पाश्चात्य ने काफी प्रभावित किया है जिससे परिवर्तित आचार-विचार हमारे समाज और साहित्य में सन्निविष्ट हो उठे हैं। इस सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतिक्रिया भारतेन्दु युग या साहित्य क्षेत्र में प्रतिफलित हुई, द्विवेदी युग में पुष्ट हुई और छायावादी युग में तो साकार ही हो गई। वैयक्तिकता इसकी विशिष्ट प्रवृत्ति थी जिसने इस युग का सौन्दर्य मूर्त के स्थान पर अमूर्त का, समष्टि के स्थान पर व्यष्टि का और प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का उपासक बन गया। इसमें इस युग के काव्य में धर्म, समाज आदि संस्थाओं के लिए नित-तत्त्व के प्रस्फुटन का अवकाश ही नहीं रह गया जिससे कवि को आत्म-लिप्सा इन सभी का पृष्ठभूमि में कर अपना प्रदर्शन के लिए अवसर हो उठी है।

छायावादी युग में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि के प्रगीत मुक्तक अधिकाधिक संख्या में प्रकाश में आए हैं। वैयक्तिक तत्त्वों के प्रभाव के कारण इनमें अन्तस्तल भावाभिव्यंजन अद्भुत हृदयग्राही और रमणीय है। इनमें प्रभाव से 'सावन' और 'कामायनी' भी अछूता नहीं है। नव उन्मेष और

मधु अपनी-अपनी समस्याओं में ही डूबते-उतराते हैं। फलतः तुलसी के काव्य जैसा जीवन का उच्च और व्यापक आदर्श उनमें नहीं है।

छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया दो दिशाओं में प्रस्फुटित हुई—प्रथम में साम्यवादी जीवन-दर्शन का बाहुल्य रहा जो अपने उद्देश्य में पूर्णतः सामाजिक और राजनीतिक है। ऐसे काव्य को 'प्रगतिवादी' कहा गया। द्वितीय में साहित्यिक स्वरूप की मान्यता रही जो काव्य की परम्परागत वस्तु और शैली के स्थान पर नवीन प्रयोग करने के उद्देश्य से अग्रसर हुई। उसे 'प्रयोगवादी' कहा गया। समष्टिवादी तत्वों के कारण ये काव्य जन-जीवन के अधिक समीप अवश्य आ गए किन्तु उनके मूल में प्रचार और विज्ञापन की विदेशी भावनाएँ ही रही हैं फलतः भारतीय जीवन को सुस्थिर रखने की पुष्ट नींव उनमें नहीं है।

प्रगतिवादी काव्य का निश्चित स्वरूप है किन्तु प्रयोगवादी काव्य की सीमाएँ और क्षेत्र तो आज तक अनिश्चित हैं। वह क्षणिक आवेग और वैचित्र्य की अनुभूति प्रदान करके रह जाता है। परम्परागत पद्धतियों के विरोधी होने के कारण उनमें मुक्तक छन्द का अधिकाधिक ग्रहण हो उठा है। फलतः छायावादी काव्य की अपेक्षा इनमें प्रगीत मुक्तक का प्रयोग बहुत न्यून रह गया है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि ये दोनों काव्य पद्धतियाँ हमारे जीवन के मेल में नहीं हैं फलतः इन काव्यों में जीवन के लिये कोई व्यापक सन्देश नहीं है। इससे तुलसी के चिरन्तन आदर्शों के समक्ष उनकी भाव धारा बहुत क्षीण और निम्न है।

सामान्यतः हिन्दी के सम्पूर्ण गीति-काव्य को तुलसी-गीति-काव्य के समक्ष रख कर हमने विचार किया है। उनके विशिष्ट आदर्शों और काव्यात्मक विशेषताओं के कारण हिन्दी में किसी भी कवि का गेय काव्य उनकी तुलना में नहीं आता है। आदर्श और उद्देश्य के सम्बन्ध में सूर भी तुलसी से पिछड़े हैं किन्तु उनके गीति काव्य की मार्मिक भावनाएँ और गेयता आदि ही कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें वह तुलसी से आगे हैं। फलतः इस तथ्य के बल पर ही सूर का पद तुलसी के समक्ष [illegible] है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि बड़ी पैनी और सक्रिय रही है। तत्कालीन [illegible] भारतीय समाज को उन्होंने अन्य शैलियों के काव्यों के समान अपनी पद-शैली के काव्यों से भी आश्वस्त किया है जिससे हमारी संस्कृति और लोकादर्श आज भी अभिप्रेरित हैं। राम की रूपरेखा उन्हें अवश्य विशिष्टाद्वैती सम्प्रदाय से मिली थी किन्तु कवि सुलभ भावनाओं के रंगों का भरना उनकी अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और अध्ययन की मौलिकता थी। सच तो यह है कि उन्होंने हमारे धर्म, समाज और साहित्य को इतना दिया है कि जीवन की किसी स्थिति में हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को विस्मृत नहीं कर सकते। हम कृतार्थ हैं जो गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि और महाभक्त ने हमारे देश में जन्म लेकर हमें आभारी बनाया।

परिशिष्ट—१

सहायक ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ

१ अपभ्रंश का साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़
२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त
३ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी
४ कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
५. कबीर : एक विवेचन—डा० सरनामसिंह शर्मा
६ कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास
७ काव्यादर्श—दण्डी (चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी)
८ कृष्णगीतावली—तुलसीदास
९. कवितावली—तुलसीदास
१० कविप्रिया—केशवदास
११ गाथा सप्तशती—निर्णयसागर प्रेस बम्बई
१२ गोरखबानी—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१३ गीतगोविन्द—जयदेव
१४ गीतावली—तुलसीदास
१५ गोस्वामी तुलसीदास—डा० श्यामसुन्दरदास
१६ ढोला मारू रा दूहा—नागरी प्रचारिणी सभा काशी
१७ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
१८ तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डा० उदयभानुसिंह
१९. तुलसी दर्शन—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
२० तुलसीदास—रामचन्द्र शुक्ल
२१ तुलसी और उनका साहित्य—डा० विमलकुमार जैन
२२ तुलसी और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित
२३ घर माया
२४ घेरी माया
२५ धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी

२६ पालि-साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय
२७ पालि-साहित्य और समीक्षा—डा० धरमानसिंह शर्मा
२८ नाथ-सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२९ बीसलदेव रासो—नागरी प्रचारिणी सभा काशी
३० बंगला और उसका साहित्य—हंसकुमार तिवारी
३१ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
३२ भारतीय संगीत का इतिहास—उमेश जोशी
३३ भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास—डा० देवराज
३४ मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—डा० रामरतन भटनागर
३५ मध्यकालीन प्रेम साधना—परशुराम चतुर्वेदी
३६ मीरा बृहद् पद-संग्रह—पद्मावती शबनम
३७ राग तरंगिणी—अभिनव कवि लोचन (दरभंगा राज प्रेस)
३८ रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना—भुवनेश्वर मिश्र
३९ रामचरितमानस—तुलसीदास
४० रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डा० भगवतीसिंह
४१ विनयपत्रिका—तुलसीदास
४२ विनयपत्रिका-समीक्षा—रामबहादुर पाठक
४३ विद्यापति गीत-संग्रह—डा० सुभद्र झा
४४ वेदार्थ संग्रह—रामानुजाचार्य
४५ साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
४६ सान्ध्य गीत—महादेवी वर्मा
४७ साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा
४८ सन्देश रासक—सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४९ सन्त सुधासार—वियोगी हरि
५० संगीत रत्नाकर—शार्ङ्गदेव (The Adyar Library Series)
५१ संगीत दर्पणम्—दामोदर
५२ संगीत शास्त्र—वासुदेव शास्त्री
५३ सूरसागर—सं० नन्ददुलारे वाजपेयी
५४ संगीताञ्जलि भाग १—ओंकारनाथ ठाकुर
५५ हिन्दी भाषा—डा० श्यामसुन्दरदास
५६ हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा
५७ हिन्दी साहित्य कोष—डा० धीरेन्द्र वर्मा
५८ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
[illegible] हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

१० हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन
११ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा
१२ हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पत्र-पत्रिकाएँ

१ नागरी प्रचारणी पत्रिका—वाराणसी।
२ सरस्वती-संवाद—आगरा।
३ समालोचक—आगरा।
४ आलोचना—दिल्ली।
५ हरिदास अंक—संगीत कार्यालय हाथरस।
६ सम्मेलन पत्रिका—प्रयाग।
७ साहित्य सन्देश—आगरा।
८ कल्याण—गोरखपुर।

अंग्रेजी

1 Encyclopaedia Britannica Eleventh Edition Vol. VII
2 The New Popular Encyclopaedia Vol VIII
3 Golden Treasury—F T Palgrave
4 A Sanskrit English Dictionery—Monier Williams.
5 Ballads—M. J C Hodgart
6 The Origin & Development of the Bengali Lang uage—Dr S K Chatterjee
7 Indian Theatre—Dr Chander Bhan Gupta.
8 A short Historical Survey of the Music of upper India—Bhatkhande
9 Ragas and Raginis—O C Gangoly
10 Treatise of Hindustan—Captain Willard.
11 Andecdotes of Indian Music—Sir W Csle
12. The Music of India—H A Popley
13 Northern Indian Music—Alain Danielou
14 Theory of Indian Music—R B BishanSwroop

O

परिशिष्ट—२

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	परिनिप्फिन	परिनिप्फिन
५	२१	मावबमद	मघर्वमन
७	३	माकृनि	माकृन
७	१४	मगधी	मागधी
८	८	लोन	लोर
८	६	उँमभूत	ऊँमभूत
८	२३	भूमभूम	भूमभूत
९		कथवान	कथावान
९	६	भाणा	णाणा
९	-	शातिनाथस्तवम	शान्तिनाथ स्तवन
९	१७	मदइवहा	गीदवहा
९	२८	माता	पाता
१	७	बाबद	बाबर
१		मुईमा	मुईरा
१	१	डाम्भिमा	डाम्भिमा
११	२८	तरयो	णप्पा
१४	६	जिमना	जिमवी
१२	२३	मनभिमाविनिम्मरयादिम	मनभिमविगिम्मयादिम
१२	२७	मुगाव	मुगाय
१३		नामन्न	नुनामन
१३	८	वा	वी
१५	४	ममगम्मरिमा	ममनम्ममरिमा
१५	१३	वी	वी
१६		दयानी	जुदोमी
१६	८	गहि	गहि
१६	१४	मगारम्मा	मणारम्मा
१६	१६	मवर्म	वेव म
१६	२६	पमहिमि	पमरिमि
१६	१४	धाम	वाने
१७	१	मानने	मागने
१८		नाप	नाम
१८	१७	दुर्ल्लभनीय	दुर्ल्लभनीय
१९	१	ममूमा	मम्मा
२०	१	मुमाग	मायो-
२	७	संवर्भिगमति	मनमिगवन्मि
२०		महदायो	गीदवहा
२९	१८	पुभिट्टि	पुज्जिहि
२१	२८	मान	नाम

१	१७	मरचोई	मद्वोई
१४	२८	माम	गान
३५	१	मौमिट	मौक्तिक
१५	१६	कवि	श्री
१६	२४	अनुष्य	प्रज्ञण्ण
१६	९	माना	सगा
१९	२	मरथरी गाथाएँ	मरथरी की गाथाएँ
१९	२६	पवताय	पर्वतीय
४१	२९	thay	They
४३	१४	ऐमन	ऐपन
४४	५	बचाव	बचावा
४४	२१	बारीक	बरीका
४५	१४	कन्हाई	कन्हाई
४५	१९	ढाड़ी	ठाड़ी
४६	११	पैखरियाँ	पैजनियाँ
४६	२२	मोर मिनस्का	मोरभिनसरका
४७	२७	मइया	मइया
४९	१५	नियरयो	निरयमो
५७	२९	Inverent	Innorent
५४	१८	गेयकुकमार राय	गयमुकमार राय
५६	११	wearing	Meaning
५७	४	एतिहासिक	ऐतिहासिक
५७	१६	वेवी	देवी
५८	२१	विमएसेन	विमामन
५८	२२	विमुक्तिकम्	विमुक्तिकम्
५८	१०	तद्वयमानुमत	तद्वयानुपर्व
५९	११	मुन	मुन
५९	१६	नविन	नाबेन
५९	२१	बधामनसं	दरारममसं
५_	२३	विमसमानोऽर्म	विमलमानोऽर्म
६०	१३	पहुम	पहुप
६१	६	माउम	मोहम
६१	१	पाउप	पाइप
६२	८	कौशिका	कौशिकी
६२	१३	बेमावनी	बेमावली
६२	१७	पचयो	पचमो
६२	१८	ईमानावशाम्नयरागी	ईमानावशाम्मेयरागी
६२	२७	पचमंगमा	पंचमानमा
६३	१७	मम्मेमन	ममम सभा
६४	१६	महुजयावी	ग्राहजयामी
६५	२	मान	गाम
६६	२८	स्वर ही कथा	एक ही रचन
७०	४	मैत्तरीय	मैत्तिरीय
८	१	मिष्नात	निष्णात

७०	२८	भरतखण्डे	भारतखण्डे
७२	५	ममुम्रवा	ममुत्रूवा
७२	२१	उपाकानि	उपागानि
७२	२२	पकीय	प्रकोप
७२	२७	मानवाऽङ्गानि	मानवाऽङ्गानि
७३	११	वराहर्षीय	वराहिमय
७३	१२	गागिया	गागिना
७६	२४	रवरमना	मस्वरना
७८	२७	भी	जी
७६	१४	माई	मार्ग
७६	१७	वीम	वग
८	४	रमिक	मिर
८	१६	मायना	मापन
८३	११	मगीन	इन्द्रिन
८६	६	प्रमुयम	प्रमुखता
८६	१	मम	मूम
१	२	मविषमाइ उ	मविभागाईन
६२	९	मोष्यमी	मायन्यमी
६२	२४	पग्वर्नो	मगराती
६३	२७	मय	मय
६४	१८	मावना	मानव
६५	१४	ममम्बद्ध	मम्बद्ध
६६	११	मो	वी
६६	४	मम	मम
६६	१८	मामी	मामा
६६	२६	विमुखन	विपुल
१ ६	२५	वनाम	रवाव
१०८	३	हुरम्मि	हरि रम
१ ८	१८	मरा	मसो
१११	१७	राम	गाग
१११		महात्म्य	माहात्म्य
१११	२३	ममया	ममना
१११	२४	गमि	ममि
११२	६	पग्यिा	भग्यिा
११२	२	वा	वी
११२	०	घोर विषय बहा	घोर विरह वा विषय वर्हा
११४	३	विरनिइस्तुनो	विर्न्विहम्नुना
११५	२	मय	माम
११५	७	मरग	मरन
११६	२	माप्याम्मर	मप्याम्मिर
११६	३१	विर्यविर	रिर्यविर
११६	५	प्रवार है	प्रवार वा है
११६	६	पभिराम	पभिमान
१२	१	वरण	वरम

१२	१७	की	ही
१२	१	विष्णु स्पमगतपम	विष्णुरूपा भगतपिम
		प्रपाविम वीणा	प्रपविमवीणा
१२१	१६	ताती कछू	ताव ना कछु
१२२	७	रामानन्द	रामानन्दी
१२४	१५	सम्मोहित	सम्मोपित
१२५	८	आश्चर्य	आश्चर्य
१२५	११	प्रमुर	प्रमुर
१२५	३	रचर्मराचार्म्यवर्धन	रचर्मराचार्म्यपोवर्धन
१२६	२४	बहुते	जयते
१२६	१२	जयदेव पंडितको	जयदेव पंडित को
१२८	१	माधवि	माधवि
१२८	१४	जयदेव	जयदेव
१२८	२३	मवममपिबाति	मवममपिबाति
१३	१३ एव १४	मेम	मेम
१३२	१२	उत्पेक्षा	उत्प्रेक्षा
१३२	१२	कर	मर
१३४	६	मय	मय
१३४	२६	माहि	माहि
१३५	१	हौं	हौं
१३७	५	उसि	हसि
१४	१	को	के
१४१	६	जिप	जिय
१४१	११	कल्पना	कल्याण
१४२	२	क्रिया होने मे	किए
१४३	११	पटमयो	ठठयो
१४८	६	समम	ममम
१४६	२७	उरात	हरान
१४६	११	मेरी	मेरे
१५४	२२	बूठी	बूठा
१५८	११	सख्या	सघन्
१६१	१३	माम्बी	माम्बी
१६४	१७	बरीन	बुरीन
१६७	१२	दूसरी विधि	दूसरी न विधि
१६७	२८	मन	मंच
१७१	६	संत	संत
१७५	१२	उपयुर्ज	उपयुक्त
१७७	१७	मई	मई
१८	४	कहुमानी	कहती
१८१	१६	राणी	राजी
१८१	२०	भी	मा
१८२	९	आपन्त	बीमन्त
१८३	१५	तसपह	तनरह
१८३	१४	पमन्द	मामन्द

१८४	२१	मातृप्त	मतृप्त
१८५	२५	सदस	मदन
१८५	३१	पति	मति
१८५	३२	पहिराह	पहिराइ
१८६	६	भाग	छाग
१८६	१७	मनहुरति	मनुहरति
१८६	२८	पंक	भ्रम
१८७	६	मन्दर	मुन्दर
१८८	२५	तारिका	सरिका
१९१	२१	पद	पर
१९३	७	मान	गाम
१९३	३३	मोमिन्ह	भोमिन्ह
१९४	३२	परिहेर	परिहरे
१९५	१४	पुण्य	पण्य
१९५	२१	कारण	करण
१९६	१९	मान	जात
१९७	१	माचार	आमार
१९७	१८	को	क
१९८	७	न	है
१९८	२५	भी	था
१ ९	११	उमेया	मयेया
१९९	१६	मका	मकी
१९९	२१	मनोच	मदन
२	४	कन्हाई	कन्हाया क
२०	५	हुई है	हुए हैं
२००	५	गई है	गए हैं
१	३	भ्रम	भ्रम
२ १	२७	अभिय	अमिय
२०१	३	वाराई	वाराई
२ ३	८	त्रिभुविन	त्रिभुवन
२०३	१४	मार	मर
२०३	२	मुनिवर परि	मुनिवट परि
२ ३	२२	करै	कर
२०३	३४	प्रचार	प्रचार
२ ४	११	भवन	मग
२ ४	१९	टमोरी	कमोरी
२ ६	३०	मीन	मौन
२०७	९	हाउँ प्यारे	हाउँ मेरे प्यार
२१०	१८	नाम	नाना
२१२	२	पद	पद
२१२	३१	मीनावेधि	मीनावेधि
२१६	८	उग बड़ा	उगी बड़ी
२१७	७	विनो-	विने-

२११	११	भामका	भासकी
२११	२१	रामानुमी	रागानुगा
२२२	१८	लर्भ	सरौं
२२२	१५	मिन्धी	मिसरी
२२३	२७	मीर	मीर
२२३	२१	जनदावतनु	जनदामतनु
२३१	१	विशिष्टाद्वैती	विशिष्टाद्वैत
२३१	३	मारे	मोरे
२३३	११	सिद्व	सिवत
२३४	२६	सहृचारियो	सहचरियों
२३८	३१	ममता	भावतो
२४	१७	मीलना	सीतारवन
२४४	६	हास्ता	हास्य
२४४	२१	छवत	छुवत
२४६	२	मगाम्यो	पराम्यो
२४६	८	मय	साय
२४६	११	वरन	चरन
२५१	२१	जान	जन
२५१	२५	घाइ	घमाई
२५५	१७	ali	all
२५६	१	धुमपुन्तुवरासो	धुमपन्तुवरासी
२५६	२	घाप	घाट
२५६	२५	सम्मिश्रण	समिश्रण
२५८	१	संगीम	संगीत
२५९	२	उनर्युक्त	उपयुक्त
२६	४	बब	बब
२६	८	उहृरत	सहृक्त
२६४	२	पोम्मास	पोतात
२६४	३	क्म	क्स
२६४	८	कमाई	कसाई
२६५	२६	मणिन	पंक्ति
२६६	२६	बिउक	बिछुरन
२६८	६	धंमोमृह	धमोरुह
२६९	८	उरनि	हरनि
२७	१६	ममस्व	समरथ
२७	२६	मिहारे	सिहोरे
२७८	४	ष्मा	हमी
२७५	३	भरतांमृव	भरतार्णव
२७५	३१	स्वष्याथी	स्वष्यायो
२७६	६	का	की
२७६	११	vaga	Raga
२७७	२८	परचमियों	परचमियों
२८	६	वृन्दिम	कुण्डल
२८७	२१	प्रक्नि	[illegible]

२८८	२२	मावछर्गा	मावछुर्गा
२८८	२४	प्रातपमस्तु	प्रातर्मेयस्तु
२८८	२४	पटर्समरी	पटमजरी
२८९	४	हरिसम की सम्वेस	हरिसमती
		मापाढ़ दुहत तक का	एकादशी तक
२९०	११	राम काम	राग काल
२९०	१४	Inbla	Indian
२९१	२१	राम	राग
२९२	८	महार	सप्तक
२९४	१४	स्वरांर्खन	स्वरार्चन
२९	२९	मीरेक्रते	मीरेमृत
२९३	२१	मृपभभिस्क	मृपभाभिस्क
९४	२१	in	in
२९८	२३	Rasag	Rasas
९४	२६	Anudhaves	Anbhavas
२९८	२६	Btaus	Bhava
	२६	Santiment	Sentiment
२९८	२८	Aurblaves	Anubhavas
२९८	२९	Henee	Hence
२९८	२९	VeraSasitn	necessity
९५		मामार	मामार
२९७	१४ १९	पउमचरिउ	पउमचरिउ
२९७	२८	मर्यादा	मर्यादों
२९८	९	भुवंकमपास	भुवनमपाल
२९८	६	विविम	विविध
३०१	६	मम्पन	मध्यम
३ १	१०	मरविम्पतो	मरचिरयतो
३ २	१७	मम्मोपित	मम्मभ्यित
३०५	६	वधिनी	वधिनी
३ ६	१७	मवहुँ	मवहुँ
३१२	१३	मार	माल
३१४	६	उमर्म	उनम
३१५	२१	जायोग	जामोग
३१५	१४	एरांगी	गरांगी
३१५	२२	रामाध्यार	रामाध्याम
३१५	२९	वीर	वीर

११७	२६	राम	राम
११७	२७	पुरपोत्तम	पुरपोत्तम
११८	१	सघन	स्वत
११८	३	पुमस	पुमस
१२	६	सघन	सघन
१२	१२	इगम्बु	पृगम्बु
१२०	१४	भारमज	भ्रात्मजे
१२१	२६	को मी को भी	सहन किया है।
१२२	१	फणा	फूलों
१२३	२	भेरै	भेंट
१२३	३१	का	की
१२४	१८	निसढ	सिवड
१२४	२५	उमि	उसी
१२४	२६ २७	कि	की
२२४	२८	उठना	उठना
१२४	२६	मि	भी
१२४	३५	विलोप	विलोम
२२६	१	धार	धौर
१२६	२१	बांफिलिह	बांम्भिलिह
१२६	२४ २७	मोर	सोर
१२७	१	म	म
१२७	१	कौसिल्य	कौसिल्या
१२७	२६	मह	पह
१ ६ ✓	१६	चडकिया	चवकिया
१११	२६	रमायम	रमायम
११६	८	परिविच्छिव	परिमिच्छिव
"	१४	भाव मे	भाव से
"	१६	जीवम व्यापि	जीवन-व्यापिनी

परिशिष्ट—१

१	१६	ढोलामारू राह दूहा	ढाला मारू रा दूहा
२	१७	वरमग	वरमंगा
३	६	प्रपाग	प्रयाप
४	११	Calo	Oslo

●